साहित्य और जनसंघर्ष

साहित्य और जनसंघर्ष

शंभुनाथ

संभावना प्रकाशन, हापुड़-245101

उन शहीद देशवासियों को
जो मरते समय भी अपनी मृत्यु नहीं
नये भारत का स्वप्न देख रहे थे

अनुक्रम

साहित्य और जनसंघर्ष / ९
कबीर की प्रासंगिकता / १७
तुलसी का मध्यकालीन बोध / २४
भारतेंदु की सामाजिक दृष्टि / ३८
प्रेमचंद के संघर्षशील पात्र / ४४
प्रसाद का पुनर्मूल्यांकन / ६१
निराला ! मुक्त संस्कृति का स्वप्न / ७३
कविताएं : समाज और देश / ८०
यशपाल का रास्ता / ८७
रेणु : आंचलिकता का दृष्टिकोण / ९७
सामंती संबंधों का भूगोल / १०२
कविता में जनवादी बदलाव / १०९
चिंतन की कुछ दिशाएं / १२६
लघुपत्रिका : जनोन्मुखता का सवाल / १४२
रचनाधर्मिता और जन / १४७
कैसा अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य ? / १५५
लोकवाम की सही दिशा / १६६

हमारा साहित्य भारतीय जनता के संघर्षों के बीच ऐतिहासिक रूप से विकसित हो रही सामाजिक-राजनीतिक चेतना का कलात्मक दस्तावेज है। कला और कविता का ऐसा कोई रूप हम नही पाते, जिस पर युग का दबाव न हो। कभी यह दबाव सत्ता की ओर से रहा है, कभी संस्कृति की परिवर्तनकारी शक्तियों की ओर से। जिस कलाकार की दृष्टि सत्ता के सौन्दर्य पर रही है, उसने शासकपक्ष की भावनाओं को व्यक्त किया। जिसकी दृष्टि संस्कृति पर रही है, उसने समाज के अन्तर्विरोधों को प्रकट किया। वीर-गाथा और रीतिकाल का साहित्य दरबारी है, जबकि भक्ति और आधुनिक काल के साहित्य में जनता की भावनाएँ भी प्रकट हुई है। इसमे पूर्व भी हम देखते हैं कि भारतीय समाज में शासक संस्कृति और परिवर्तनकारी संस्कृति के मूल्यों के बीच हमेशा द्वन्द्व रहा है। भारतीय संस्कृति के नाम पर जो मान्यताएं, विश्वास या रीतियाँ आज मौजूद है, वे वस्तुत: शासक संस्कृति की ही वस्तुएँ हैं। लेकिन परिवर्तनकारी सांस्कृतिक चेतना का भी अपना एक इतिहास है, जिसे हमेशा ओझल करके रखा गया। इसका अपना साहित्य है, जिसे मिटाने की चेष्टाएँ हुई। फिर भी धर्म और राजनीति के जितने कलात्मक रूप हमारे सामने है, उनमें हमारी संस्कृति का अन्तर्द्वन्द्व बहुत स्पष्ट स्वरों मे उभरा है। इनमें हमारी विजय और पराजय दोनों के चिन्ह है। इतिहास के भीतर हम प्रवेश करें, तो देखेंगे, वहाँ सामाजिकार्थिक दमन के विरुद्ध जनता की अनगिनत मुक्ति-चेष्टाएँ हैं।

अतीत की घटनाओं और मान्यताओ से हम यह भी जानेंगे कि समाज मे एक वर्ग ऐसा रहा है, जिसने जनता को हमेशा पीड़ा पहुँचाई। इस वर्ग के प्रोत्साहन से जो साहित्य लिखा गया, उसमें राजा के विचारों अथवा सामन्ती मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई। जनता के विचारों और भावनाओं का अलग से कोई महत्व नही था। पहले के आचार्यों-आलोचको ने इसी वजह से जानबूझकर ऐसे सिद्धान्त निर्मित किए, जो कलावादी थे। वे अगर कला के जनवादी सिद्धान्तों की रचना करते, तो प्रजा की पीडा भी उभरती। यह विद्रोह होता। इन सबके बावजूद हम धार्मिक रूपों के भीतर जनता के सामाजिक संघर्षों का प्रतिबिम्ब पाते हैं। अगर हमें भारतीय जनता के संघर्षों का आदिम, वैदिक, पौराणिक या मध्यकालीन इतिहास जानना हो, तो हमें विविध काल के धर्म के अन्त-विरोधों को आधार बनाना पड़ेगा और प्राचीन ग्रन्थों पर नई दृष्टि से विचार करना होगा। यह एक जटिल काम है, लेकिन करने योग्य है।

हम आज अपने पीछे टूटी हुई कई जंजीरों और पुरानी मान्यताओं का मलबा एक

लम्बे ढेर की भाँति पड़ा देखते हैं। यह व्यापक जनसंघर्ष का ही नतीजा है। आदमी जब से इस धरती पर आया, अपने बेहतर जीवन के लिए लगातार संघर्ष कर रहा है और किसी भी व्यवस्था मे यह कार्य जारी रहेगा, क्योंकि सामने नई जंजीरें भी होती हैं। वह इसीलिए हैं कि वह संघर्ष कर रहा है। साहित्यकार की दृष्टि जब जनता के इन संघर्षों और मुक्ति-प्रचेष्टाओं पर पड़ती है, तो इनसे वह संवेदित होता है। इनके परिप्रेक्ष्य मे समाज की एक नई तस्वीर दिखाई पड़ने लगती है। उसे तय करना होता है कि किन वर्ग का साथ दे। मुट्ठी-भर लोगों की सुविधावादी पंक्ति में शामिल हो या करोड़ों लोगों की लड़ाकू कतार में। कोई चाहे भी, तो इस निर्णय में मौन या तटस्थ नहीं रह सकता। एक स्थान के विचार उसके भीतर से लुक-छिपकर प्रकट होंगे ही। जनता का संघर्ष संगठित हो गया हो अथवा फैल गया हो, तभी साहित्यकार की आँखें खुलती हो —ऐसी बात नही है। जनता अपने संघर्षों के साथ अपना कलाकार भी तैयार करती है। सोचा जा सकता है कि कभी जनता की अपनी क्रान्तिकारी व्यवस्था कायम हो सकती है। लेकिन जब तक ऐसी घड़ी नही आती, जनता का अपनी समकालीन शासन-व्यवस्था के प्रति विक्षोभ और संघर्ष जारी रहता है। आज इसे अपने लोकतान्त्रिक संघर्ष के उन अधिकारो के लिए भी लड़ना पड़ता है, जिन्हें इसने असंख्य बलिदानों के बाद हासिल किया था।

किसी भी व्यवस्था को साहित्य से तब तक कोई आपत्ति नहीं होती, जब तक यह कलावादी-रूपवादी मान्यताओं के आधार पर लिखा जाता है। जब साहित्य में निजी मूल्यों, व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों तथा आत्मान्वेषण की स्थिति ही महत्वपूर्ण हो जाती है। शासक-शोषक वर्ग की दृष्टि में ये कला के उत्कर्ष के क्षण होते हैं। वह इस महान कला के गुण गाता है। इसके कलाकारों को उच्च सांस्कृतिक पदों पर प्रतिष्ठित करता है। शासन-व्यवस्था को साहित्य से तब भी खतरा नही होता, जब यह किसी दर्शन के रीतिरिवाज में उलझा रहे। अथवा लेखक देश और समाज के प्रधान अन्तर्विरोधों को उभारने, इतिहास की वास्तविक पहचान बनाने तथा सर्ववंचित वर्ग से प्रतिबद्ध होने के स्थान पर गौण अन्तर्विरोधों को महत्व दे। इतिहास की गलत समझ रखे और जनता के संघर्ष से विश्वासघात करे। शासन-व्यवस्था को उस साहित्य से हमेशा खलबली महसूस होगी, जो जनसमाज के यथार्थ को अभिव्यक्त करेगा, जनवादी मूल्यों को महत्व देगा, जनता के गुस्से को वाणी प्रदान करेगा तथा लोगों के ,दुखों-संघर्षों के साथ खड़ा होगा। साहित्य की पूँजीवादी शक्तियाँ आज लेखकों को या तो प्रकृति की फूल-पत्तियों, नारी-देह, अध्यात्म का चितेरा बनाकर रखना चाहती हैं या यथार्थवादी वर्ग-संघर्ष की चेतना से दूर भ्रान्ति का बनारसी पण्डा बनाकर। वस्तुतः साहित्यिक भावनाओं को राजनीतिक दलों के रणकौशल का स्थायी हिस्सा कभी नही बनना चाहिए, अन्यथा विचारधारा की नौकरशाही और गृह-उद्योगीकरण का खतरा खड़ा होता है। साहित्य को जनता के मुक्तिसंग्राम का हिस्सा होना चाहिये। अक्सर एक शत्रु से जनता को त्राण देनेवाले खुद सत्ता मे आने पर सर्ववंचित जनता का गला घोंटने लगते हैं और अगला

शत्रु बन जाते हैं। वास्तविकता यह है कि वर्ग-शत्रुओं से त्राण नहीं मिलता। ये वेश बदल लेते हैं। कभी-कभी ये अद्भुत जनहितैषी और शोषितों के क्रान्तिकारी दरदियों के वेश में आते हैं। नेतृत्व वर्ग की मध्यवर्गीय भूख अथवा अर्द्ध-सामन्ती संस्कारों की वजह से भटकाव भी होता है। जनवादी साहित्य ऐसे मौकों पर बिना किसी मोह के पथभ्रष्ट नेतृत्ववर्ग का साथ छोड़ देता है, क्योंकि सत्तासीन राजनीतिक दल रणकौशल के नाम पर अधिकतर समझौतावादी चरित्र अपना लेता है और अपना एक नव-तानाशाही स्वरूप खड़ा करता है।

किसी भी परिवर्तनकारी विचारधारा का अर्थ हमेशा जनता की तरफ से होता है। इसके संघर्षशील जीवन, कार्यों, संवेदनात्मक अनुभवों, शासक-शोषकवर्ग की पहचान तथा मुक्ति-चेष्टाओं के बीच ही विचारधारा को कोई जनवादी अर्थ मिलता है। 'विचारधारा के लिए विचारधारा' की बात वैसे ही है, जैसे 'कला के लिए कला'। फिर भी ऐसे साहित्यकार हर देश और काल में, कहीं कम और कहीं अधिक मात्रा में, होते हैं, जो मौका पाते ही अत्यन्त मधुरता से शासकीय रणकौशलों के शिकार हो जाते हैं। उनका साहित्य विज्ञापन, प्रचारवाद और जनविरोधी होता है। अतः 'विचारधारा जनता के लिए'—साहित्य को अपना प्रतिवादधर्मी चरित्र कभी नहीं खोना चाहिए और छोटे-मोटे सुख-सुविधा-चर्चा के लोभ में किसी भी शासन-व्यवस्था के अन्तर्विरोधों को खोलने से वंचित नहीं रहना चाहिये। अपने पूरे हकों के लिए लड़नेवाला इन्सान रोटी का सिर्फ एक टुकडा मिलने पर सन्तुष्ट नहीं हो सकता। साहित्य की जरूरत सिर्फ पीड़ा और इससे मुक्ति की छटपटाहट के वक्त पड़ती है। इसी के माध्यम से मनुष्य अपनी आकांक्षाओं की सम्वेदनात्मक अभिव्यक्ति कर पाता है। अपने सामाजिक जीवन की चन्द बातें सुना पाता है। एक अच्छा साहित्य सामाजिक संघर्ष का सूचक भी होता है। जब तक समाज में पीडा-अत्याचार है, कष्ट और सम्वेदनात्मक तड़प है। साहित्य प्रताड़ित जन-समाज की वाणी बनकर तभी तक जीवित रहना चाहता है। यह संभवतः अनन्तकाल तक इसीलिए जीवित रहता है।

जन-संवेदना के यथार्थवादी स्तरों की खोज के साथ समाज में मुक्ति-प्रचेष्टाओं को पहचानना जरूरी है। मौजूदा सांस्कृतिक ढांचे के भीतर हमारे देश की लांछित और सर्ववंचित जनता पुनः अपनी क्रान्तिकारी शक्तियों का स्मरण, पहचान और संचयन कर रही है। सामन्ती मूल्यों तथा पूंजीवादी जीवन-व्यवस्थाओं से लगातार टकरा रही है। बाहरी ढांचे की कौशलपूर्ण राजनीति के विश्वासघातों को समझ रही है। इसी के साथ कला के भीतर जनवादी परम्परा का वातावरण भी बन रहा है। कला का अर्थ और वास्तविक जनमूल्य सामाजिकार्थिक संघर्षों से पैदा होता है। यहां कला स्वयं एक राजनीति है। राजनीति से अलग हटकर कला का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। साहित्य में राजनीति को कला से अलग करके देखने की वजह से कभी-कभी कला में ऐसे राजनीतिक मूल्यों को स्थापित करने की कोशिश की जाती है, जो वस्तुतः पार्टीनिर्देश होते हैं। अपने

पात्रों के चरित्र, इनकी भूमिकाओं तथा भविष्य के बारे में रचनाकार जो कुछ सोचता है, वे चीजें राजनीति के व्यापक जनवादी आधारों पर टिककर ही प्रासंगिक हो सकती हैं। रचनाकार कला को ही राजनीति के रूप मे देखता है। राजनीति को वह किसी संकीर्ण अर्थ मे नही समझता। कला कभी तटस्थ नहीं हो सकती। अगर यह जनवादी राजनीति नही करती, तब या तो किसी दल की नौकरशाही की राजनीति करती है या यह 'कला कला के लिए' के बहाने पूँजीतन्त्र के परम्परागत अवशेषों अथवा सामन्ती व्यवस्था के आधुनिक अवशेषों की अभिव्यक्ति करती है।

आधुनिक दुनिया में जहाँ समाजवादी व्यवस्था कायम नही है, वहाँ पूँजीवादी-फासीवादी शक्तियों ने अपने विकास के लिए नई कलाओं-कौशलों का सहारा लिया है जबकि जनसंघर्ष के ज्यादातर वही पुराने, अपर्याप्त और विभाजित तरीके है। पूँजीवाद और फासीवाद के विकास को रोकना तब मुश्किल हो जाता है, जब हम इसके तत्त्ववाद को तो पहचानते है, पर रूपतन्त्रवाद को समझने में धोखा खा जाते हैं। क्या पूँजीवाद और साम्राज्यवाद किसी सूक्ष्म ब्रह्म की तरह हैं? इनके बड़े ठोस और मारक रूप हैं। ये इसी समाज मे है। पूँजीवाद बेहद घाघ है। अब इसकी एक धारा ने जनहित, समाजवाद वामपन्थ तथा लोकतन्त्र के नारों में आस्था प्रगट कर अपने को ज्यादा सुरक्षित कर लिया है। अपने को पूँजीवादी कहा जाना आज कोई पसन्द नही करता। शब्दों के गलत इस्तेमाल से इनके भीतर के सोच मरते न हों, पर इनके अर्थों पर बिल्कुल असर नहीं पड़ता है—ऐसी बात नही है। अतः अब विचार के साथ यह जानना बहुत जरूरी है कि इसके पीछे इरादा क्या है? रचना का खानदान क्या है? इसका कार्य क्या है और इसका जुड़ाव कहाँ है? आज हम जिस भाषा का इस्तेमाल करते है, उसके पीछे कौन-सी नैतिकता है, लगाव कहाँ है और इसकी अर्थवत्ता क्या है? क्या हम दैनन्दिन की मानवीय घटनाओं के भीतर क्रान्तिकारी और सम्वेदनात्मक मूल्यों की पहचान करने के लिए तैयार है? जनवादी इरादों के साथ क्रान्तिकारी सम्वेदना के मूल्यों पर ही जन-साहित्य का रचना-संसार टिका होता है।

किसी भी सामाजिक ढाँचे मे मनुष्य जाति के हजारों वर्षों के विश्वास, शोषण की पद्धति, जीवन की व्यावहारिकताएँ और सांस्कृतिक-आर्थिक सम्बन्ध रहते है। हमें पता है कि यह परम्परागत ढाँचा तब टूटेगा, जब इन विश्वासों और सामाजिक-सांस्कृतिक पद्धति को बदलने के लिए क्रान्तिकारी स्तर पर काम होगा। साहित्य इस काम में एक मुख्य हिस्सेदारी निभाता है। यह जीवन की प्रतिगामी व्यवस्था पर प्रहार करता है। परिवर्तन की हर जन-चेष्टा के साथ अपने को खड़ा करता है। मनुष्य की विवशताओं को रेखांकित करता है। जनसंघर्ष के यथार्थवादी स्तर से शब्दों की दुनिया का सम्बन्ध कट जाने पर लेखक सिर्फ थोथे आदर्श बकता है। लेकिन समाज की परिवर्तनकारी चेतना से जुड़कर वह मानवीय सम्वेदना के मूल्यों को अधिक व्यापक स्तर पर उभारता है। कोई राजनीतिज्ञ संवेदना के इन मूल्यों को इतनी व्यापकता से नही उभार सकता, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्यकार का काम राजनीति की चेतना से जुड़कर

नहीं चलता। उसके मन में किसी भी पेशेवर राजनीतिज्ञ से अधिक संवेदना होती है। साथ ही वह सामाजिक ढाँचों पर अधिक गहराई से चोट करता है।

रूपतन्त्रवाद आज सम्वेदनात्मक स्तर पर हिन्दी साहित्य को जनविमुख करने का षडयन्त्र कर रहा है। यह बार-बार पिछडकर भी पुनर्जागृत और पुनर्सचेत हो जाता है। इसलिए कि यही वह जमीन है, जहाँ मध्यमवर्गीय बौद्धिक वर्ग की अकादमीय गति-विधियाँ लम्बे काल तक चिरस्थायी रह सकती हैं और वर्ग-सुलह भी कायम रह सकता है। शब्द अपना अर्थ इसी जमीन पर खोते हैं और हाथ मे सिर्फ रूप की ठठरी रह जाती है। अतः जनवादी मूल्यन के लिए यह सर्वाधिक चुनौती का वक्त है कि साहित्य और जनसंघर्ष में वास्तविक रिश्ता किस प्रकार कायम हो। जनवाद की जड़ कहाँ है? खुद जन मे है। इसके अनुभवों से ये जड़ें फैलती हैं। जुताई-बोआई कल-कारखानो, वेगारियों मे लगे लडाकू भारतीय जन के सन्दर्भ मे ही जनवादी दृष्टिकोण का कोई सच्चा अर्थ निहित है। विचारों के सिर्फ किताबी अर्थ तक जो सीमित रहते हैं और कॉफीखाने की टेबुलो पर इसका बार-बार हवाला देते है, वे वस्तुतः परिवर्तनकारी विचारधारा के मूल्यों को ठीक नही पहचानते। ये किताबें उनकी अकर्मण्यता का कवच होती है अथवा किसी देश के संशोधित संस्करणों के कठघरे होती हैं, जिनमे वे धीरे से पालतू बन जाते हैं। दुनिया-भर में ऐतिहासिक क्रान्तियाँ तथा परिवर्तन की किताबें आगामी क्रान्ति की किताबों के लिए पाथेय बनती है। इस पाथेय के साथ किसी देश में होनेवाली क्रान्ति अपनी किताबें खुद लिखती है। अपना विश्लेपण खुद करती है। अपना नेता तथा संग्राम अपने भीतर से पैदा करती है, तभी यह सफल हो सकती है। हमारे बिखराव तथा भटकाव का सबसे बड़ा कारण यह है कि भारतीय क्रान्ति की परिस्थितियों का हमारा राजनीतिक-सामाजिक विश्लेपण अभी भी लंगड़ा है, लेकिन हम पूर्ण और सर्वज्ञानी होने का दंभ भरते है। हमे फिर से भारतीय जनसंघर्षों के इतिहास की खोज करनी चाहिए। साथ ही अपने साहित्य, समाज और संस्कृति का पुनर्मूल्यांकन भी करना चाहिए।

साहित्य मे जनवादी मूल्यन की समस्या दो स्तरों पर चलती है। रचना-प्रक्रिया के स्तर पर रचनाकार के सामने। मूल्य-निर्णय अथवा पुनर्मूल्यांकन के स्तर पर, आलोचक के सामने। इन दोनों ही स्तरों के बीच पहचान, स्वीकार अथवा द्वन्द्वात्मक विकास की एक सामाजिक पद्धति काम करती है, क्योंकि मूल्य सामाजिक बुनियाद पर बनते हैं। एक सीधा-सा सवाल किया जाय कि आलोचक किसकी आलोचना करता है? अगर सिर्फ अपनी रुचि के कवियो की तो निश्चित रूप से वह टीका अथवा व्याख्या लिखता है। अगर वह सिर्फ समीक्षा करता है, तो उसके सामने सिर्फ रचनाकार रहता है। अगर आलोचक मूल्यन अथवा पुनर्मूल्यन की ऐतिहासिक स्थिति मे अपने को खड़ा करता है, तो वस्तुतः वह अपने समय की सामाजिक-आर्थिक चेतना का एक प्रतिनिधि भी होता है। यह रचना तथा आलोचना में बदलते मूल्यों की पहचान करता है। कृति से गुजर-

कर कृति से बाहर के संसार को भी देखता है। इस काम में अगर वह अपने मतों को ही थोपकर सन्तुष्ट हो जाय, तो यह एक कच्चा नतीजा है। आलोचक द्वारा मूल्य-निर्णय अथवा पुनर्मूल्यन निजी रूचियों से व्यापक होकर, समाज की क्रान्तिकारी हालतों की रचनात्मक पकड़ के आधार पर होता है। जिस तरह एक रचना दूसरी रचना को आगे बढाती है, उसी तरह जनवादी आलोचना भी रचना को मूल्यन की प्रक्रिया मे आगे बढाती है और खुद इससे आगे बढती है।

अपने समय की मूल्य-दृष्टि के विकास मे कुछ जरूरी कृतियों अथवा कृतिकारों का पुनर्मूल्याकन होना जरूरी है। पुनर्मूल्याकन की जरूरत इन कारणों से पडती है-- किसी रचना का मूल्याकन अपने समय में ठीक नही हो पाया हो। कोई रचना शास्त्रीय विश्वविद्यालयी, गुटपरस्त या विशिष्ट शैली के दार्शनिक आग्रहों के कारण दबा दी गई हो। कोई लेखक मूल्याकनकर्ताओं की निजी शत्रुता के कारण उपेक्षित रह गया हो। व्यावसायिकता अथवा छद्म क्रान्तिकारी नारों ने किसी रचना को ग्रस लिया हो या अधिक उठा दिया हो। आलोचकों के वेश में जमींदार पैदा हो गये हों। नयों से भय लग रहा हो या इन्हे देखकर लंगडी समीक्षाओं के मुँह से लार टपक रही हो। किसी अभिजातवर्गीय चेतना द्वारा आलोचना अनुशासित हो रही हो। आलोचना मे अपसंस्कृति के विकृत जीवन मूल्यो, खडित नैतिकता, असामान्य अहं, निम्नवर्गीय और पिछड़े देश-वासियो के प्रति मिथ्या लगावों की प्रधानता हो जाए। जब ये सारी अथवा इनमें से कुछ स्थितियां सामने आ जाएं—हिन्दी मे आ चुकी है—तो पुनर्मूल्यांकन की जरूरत बढ जाती है।

पुनर्मूल्यांकन की जरूरत इसलिए भी पडती है कि हमारे सामने इतिहास के किसी मोड़ पर सामाजिक यथार्थ और जनसंघर्षो की ऐसी चुनौतियां हों, जिनके फल-स्वरूप किसी रचना, आलोचना, विधा या लेखक का तो क्या पूरी साहित्यधारा, समूची संस्कृति, समाज व्यवस्था राजनीति तथा कला के मौजूदा सभी रूपों के ही पुन-र्मूल्यांकन की जरूरत पड़ जाए। आज एक ऐसी घड़ी भी आ गई है। पुनर्मूल्याकन के लिए कोई सांचा बनाना बडा कठिन है, क्योकि यह जूते की दुकान नही है। न आज की रचना किसी आलोचना की पिछलग्गू होती है। लेकिन पुनर्मूल्यांकन के जो भी ठोस आधार होते हैं, उन पर युग के जनसंघर्षों का दबाव रहता है। समकालीन संदर्भों मे प्रासंगिकता के आधार पर भी पुनर्मूल्यांकन होता है। 'पुनर्मूल्याकन के लिए पुनर्मूल्यां-कन' का कोई अर्थ नही। इसकी कोई उपयोगिता नही है, अगर इसके द्वारा रचना का दबाया गया कोई चरित्र खुलासा नही हो अथवा कृतिकार का अपने युग के संदर्भ में कोई विशिष्ट काम उभर कर नहीं आए।

पुनर्मूल्यांकन ऐसे भी रचनाकारों या इतिहास-पुरषों का होना चाहिए, जिन्होंने अपने समय में चालाकीपूर्वक जरूरत से ज्यादा स्वीकृति पा ली हो। आधुनिक समय में यह संभावना रहती है। आज पुनर्मूल्यांकन या मूल्यांकन का आधार जनवाद और जन-संघर्ष है। किसी कृति ने जन-आशाओं और संघर्षों को किस सीमा तक अभिव्यक्त

जनता के संघर्षो मे भी हिस्सा लेता है। यह नई बात नही है। जनसंघर्ष की चेतना पर आधारित साहित्य की अपनी एक लम्बी परम्परा है। जैसे-जैसे जनसंघर्षों के रूप विकसित हुए है, साहित्य मे भी इनके अनुरूप बदलाव आए हैं। इन बदलावों को पहचानना और इनका मूल्याकन करना जनसंघर्ष की चेतना के विकास को रेखांकित करना है।

□

कबीर की प्रासंगिकता

आधुनिक समाज के भीतर मध्यकालीन अन्तर्विरोध जिस गति से खुलकर प्रकट हो रहे हैं, जाति, धर्म और आर्थिक विषमता के संदर्भ में टकराहटें बढ़ रही हैं, कबीर की प्रासंगिकता उतनी ही बढ़ती जा रही है। व्यवस्था के तमाम विरोधों के बावजूद यह जनकवि बहुत लोकप्रिय है। लेकिन आलोचकों ने कबीर की रचनाओं मे रहस्यवाद, निर्गुण भक्ति तथा आध्यात्मिकता ढूंढने का जितना प्रयास किया, उतना इन रचनाओं के सामाजिक आधार को समझने का नही। कबीर के क्रांतिकारी दृष्टिकोण को मानवतावादी बनाकर प्रस्तुत किया गया। ज्यादा से ज्यादा यह कहकर छुट्टी दे दी गई कि वे सामाजिक विद्रोही भी थे। कई विचारकों ने उनके दोहा और पदों की व्याख्या करते समय इन पर न जाने कैसे अपनी आध्यात्मिक दृष्टि आरोपित कर दी। एक तो कबीर की कविताओं का मूल रूप हमारे पास काफी बिगड़ कर पहुँचा है। सम्पादन को प्रभावित करनेवाली कुछ आत्मनिष्ठ प्रवृत्तियों के कारण। फिर लम्बे काल तक तुलसी को उठाकर कबीर को दबाया गया। भारतीय समाज-व्यवस्था के विकास में तुलसी की अपनी एक भूमिका थी। लेकिन कबीर के व्यक्तित्व को धुंधला करने के लिए कई तरफ से साजिशें हुईं। कबीर को फक्कड़ और पागल कवि समझा गया। कभी 'होरी' गाकर अश्लील गालियाँ दी गईं। कुछ लोगों ने उन्हें पन्थ से बांध दिया। कई विद्वानों ने रहस्यवादी बना दिया—'कबीर भक्त थे, पर साथ ही साथ निराकार और साकार से परे ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करने वाले रहस्यवादी भी थे' (रामकुमार वर्मा)। इस तरह इस कवि के साथ बड़ी जबर्दस्ती हुई। लेकिन जैसे-जैसे हमारे समाज की परिवर्तनकारी शक्तियाँ जागरूक होती जा रही हैं, कबीर का वह चेहरा अत्यधिक प्रदीप्त होता जा रहा है, जिसे तत्कालीन सामाजिक संघर्षो ने तैयार किया था।

मध्यकालीन समाज-व्यवस्था के सामन्ती अत्याचार धार्मिक रूपों में प्रकट होते थे। अत: धर्म कोई सामान्य मानवीय व्यापार नही था। यह विभिन्न वर्गों के सामाजिकार्थिक सम्बन्धों को निर्धारित करता था। यह शोषण का एक तर्क बन गया था। तीर्थों, आश्रमो तथा मन्दिरों के प्रति श्रद्धाशील होना, कर्मकाण्ड, छुआछूत एवं बाह्याचारों को जीवन मे प्रमुखता मिलना, पन्द्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय पोप की भाँति ब्राह्मणों तथा मुल्लाओं की धार्मिक ठेकेदारी मजबूत हो जाना वस्तुत: क्या था ? यह सब निम्न वर्ग और जाति के धार्मिक अधिकारों को छीनने की प्रक्रिया में उन पर सामाजिकार्थिक गुलामी लादने का कुचक्र था। राजनीतिक पराजय और दमन से निराश

हिन्दू समाज अपने ढांचे के भीतर ही विघटित हो रहा था। इसमें लोग वेगाने वन रहे थे। जो सामाजिकार्थिक स्तर पर मजबूत थे, उन्होंने अन्ततः अपनी सुरक्षा का मार्ग शोषणमूलक वर्णव्यवस्था मे निकाला। अतः तत्कालीन धार्मिक रूपों पर कबीर जैसे सन्त कवियों ने प्रहार किया, तो इसकी पृष्ठभूमि में सामाजिकार्थिक अधिकारों की माँग थी। सभी सन्त कवि दलित श्रमजीवी वर्ग से उभरे। ये भक्ति का अधिकार चाहते थे, लेकिन तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था मे इनकी कोई जगह नही थी। ये मन्दिरो में प्रवेश नही कर सकते थे। कई तो प्रवेश कर सकते थे, पर सम्पन्न हिन्दू नही थे। वे गरीबी के कारण कर्मकाण्ड, तीर्थाटन तथा खर्चीले बाह्याचार न निभा पाते थे। ये भी हेय दृष्टि से देखे जाते थे। दूसरी ओर मुस्लिम समाज भी अपने प्राचीन धार्मिक आदर्शों से पतित हो गया था। अतः व्यापक विक्षोभ के फलस्वरूप तत्कालीन लोकसंघर्ष का एक रूप धार्मिक अन्ध-विश्वासों पर कुठाराघात के रूप में उभरा। इससे दलितों-शोषितों में एक नई आशा पैदा हुई।

कबीर ने पंडित और मुल्ला को फटकारा। 'हिन्दू कहूं तो हों नही, मुसलमान भी नाहिं' कहा। 'पंडित वाद वदन्ते झूठा' के साथ यह भी कहा कि 'मुल्ला कहा पुकारे दूर, क्या वहरा हुआ खुदाय'। सभी तरह के वाह्याचार-तीर्थयात्रा-हज, जनेऊ, सुन्नति, पूजा, नमाज, वेद-कुरान, स्वर्ग-नरक के खोखलेपन पर प्रहार किया। इनके स्थान पर कबीर ने मनुष्य का महत्व वतलाया—'जेती देखी आतमा तेता सालिगराम। अन्ध-विश्वासों पर चोट करते हुए कहा कि 'कहि कबीर मोहि अचरज आवै, कौआ खाई पितर क्यों पावै।' राजनीतिक दमन, आर्थिक अभाव तथा अस्तित्व की समस्याओं के युग में भारतीय समाज की धार्मिक तानाशाही तथा जातिवाद के कोढ़ के विरुद्ध कबीर ने आवाज उठाई। उस पददलित राष्ट्रीय आत्मा को उन्होंने वाणी प्रदान की, जिस पर पिछले सैंकडों वर्षों से जुल्म हो रहे थे। यह काम उन्होने दार्शनिक शब्दावली, रूपको या उलटवासियों के माध्यम से किया। लेकिन उनका मूल लक्ष्य संत्रस्त जनमानस को भक्ति की एक ऐसी समानांतर असाम्प्रदायिक पद्धति से परिचय कराना था, जिसमें सिर्फ निषेध नही था। वल्कि समतापूर्ण मानवीय स्थिति की एक सुन्दर रचना थी। मुसलमान भारतीय समाज की हकीकत वन चुके थे। इनकी हिन्दुओं से धार्मिक टकराहट साम्प्रदायिकता की भावना को तीव्र करनेवाली थी। इसमे अशांति थी। तैमूर का हमला इस सांप्रदायिक भावना को भड़का गया था। कबीर के समय सिकन्दर लोदी का शासन था। उसकी धर्मांधता बढ गई थी। मुस्लिम संप्रदाय में आडम्बर और विलासिता भी जोरों पर थी। इन राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों में कबीर ने शासन और व्यवस्था, दोनों का विरोध किया। हिन्दू और मुसलमान जनता के बीच मेल ही एक ऐसा पथ था, जिससे भारतीय समाज को और अधिक तहस-नहस होने से बचाया जा सकता था। अतः कबीर ने सांप्रदायिकता का विरोध किया। हिन्दुओं के धार्मिक अन्ध-विश्वासों पर चोट करना उतना खतरनाक नहीं था पर मुसलमानों के धर्माडंबरों, प्रभुता, विलासिता, कंचन और कामिनी से लगाव तथा समकालीन न्यायव्यवस्था या

विरोध करना सीधे सत्ता को चुनौती देना था। कबीर पहले कवि है, जिन्होंने इतनी व्यापक चुनौती दी। उन्होंने आवाज़ बुलन्द की—'काजी, तुम ठीक नही बोलते। उचित न्याय नही करते। हम गरीब लोग ईश्वर के भक्त है, पर तुम्हारे मन को राजसी बातें अच्छी लगती हैं। पर समझ लो, कि ईश्वर ने कभी अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी है।'

कबीर नाम का जुलाहा अपने विद्रोह की मशाल लेकर डगर-डगर, वन-वन, नगर-गांव घूम रहा था। वह आजकल के शोधकर्ताओं की तरह इस द्वन्द्व से पीड़ित नही था कि वह हिन्दू है या मुसलमान। कोरी है या जुलाहा। जिन्द है या जुगी। कबीर की मा को पुत्र के लक्षणों से लगता था कि वह भूखों मर जाएगा। कबीर गृहस्थ थे। बाल-बच्चेदार आदमी थे। उनकी पत्नी थी—लोई। स्वाभाविक है कि कबीर को वह आवारा मसीहा समझती हो। जिन्दगी भर दुख और दारिद्र्य रहा—'डाली-डाली में फिरूं, पातैं-पातैं दुरा'। पर दुख ने ही कबीर में अटल भक्ति भर दी। भक्ति अर्थात एक समानांतर शोषणविहीन समाज के लिए तत्कालीन शासन-व्यवस्था से सक्रिय विरोध। भक्ति अर्थात जीवन के परिवर्तनकारी मूल्यों में आस्था। भक्ति अर्थात क्रांति। उन्होंने अपना घर फूक दिया था तथा दूसरों को भी अपना घर जलाकर साथ चलने का आह्वान कर रहे थे, तो इसका तात्पर्य यही था कि जिस सीमा तक गृहस्थी लोकसंघर्ष के मार्ग मे रुकावट बनती हो, उस सीमा तक इसके मोह को वे जला देना चाहते थे। सम्बन्धों को तोड़ना नही, इसे व्यापक करना चाहते थे। उन्होंने घर त्याग कर जंगलों में धूनी रमाने वालों को साफ फटकारा। वे स्वयं कामगार थे। वे तथा अन्य भी सभी सन्त कवि-रैदास, पीपा, धर्मदास, सुन्दरदास, सेन वाकायदा मेहनत करके खाते थे। धन्ना खेती करता था। भले इनके काम निम्न स्तर के थे, पर वे साधु-सन्तों का सत्कार करते थे, कबीर मानते थे कि नाव मे पानी तथा घर में पूंजी बढ़े, तो सज्जन आदमी का कर्तव्य है कि दोनों हाथो से उलीच कर वाहर निकाल दे। वे पूंजी का इकट्ठा होना खतरनाक मानते थे। पर पूत कमाल सम्पत्ति का संचय करना चाहता था। उसे पिता का फक्कड़पन पसन्द नही था। इस बात का अनुभव कर कबीर को बड़ा क्लेश होता था। वे समाज को बदलने के लिए धर्म के एक नये रूप की रचना में लगे थे, जिसमे हरि और भक्त के बीच कोई आर्थिक दीवार नही हो। मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई धार्मिक खाई न हो। एक वर्ग हो-एक जाति हो। आज से लगभग ५०० वर्ष पूर्व यह एक ऐसी क्रान्तिकारी भक्ति थी, कि सिकन्दर लोदी ने उन्हे हाथी के पैर से कुचल डालने का आदेश दिया। लेकिन उन्हें प्रहलाद की सत्याग्रह-पद्धति और सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे विश्वास था—'कहैं कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद उबारयो अनेक बार।' समकालीन सामाजिक और धार्मिक नियमों की अवज्ञा करने वाले कबीर का पूरा जीवन संघर्षशील रहा। विरोध में कही गई उनकी बातें फतवा नही थी। उन्होंने विद्रोह की कविताएं ही नही लिखी, बल्कि एक क्रान्तिकारी जीवन भी जिया।

जनकवि कबीर ने भौतिक जगत के मानवीय दुखों को अपनी रचनाओं में प्रकट किया। उन्होंने अपनी नीचता, गरीबी, अपमानों की बात कहते हुए सिर्फ अपनी नहीं, उस समाज की व्यथा की ओर संकेत किया है, जिसमें वे पैदा हुए थे। उन्होंने युग की सामाजिक स्थिति का वस्तुवादी चित्रण प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर किया—'मैं कहता अंखियन की देखी।' पोथियाँ पढ़ लेने से कोई पंडित नही होता। मसि-कागद-कलम की निस्सारता भी उनके सामने स्पष्ट थी, क्योंकि तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था लोगों को सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक न बनाकर इनसे विमुख करती थी। राजनीतिक अराजकता के वातावरण से शिक्षा अप्रभावित नही थी। जिस सामाजिक जीवन मे शोषण और पाखण्ड भरा हुआ था, नैतिक जीवन में भी व्यभिचार बढ गया था। सुविधासम्पन्न पुरुष कामी हो गये थे। कबीर नारी-विरोधी नही थे। वे कहते थे—'पतिव्रता के रूप पर वारूं कोटि सरूप।' बहुत से भक्त कवियों ने नारी को भक्ति के मार्ग में बाधक माना। लेकिन कबीर स्वयं गृहस्थ भक्त थे और वे नारी के प्रति समानता का भाव रखते थे। उन्होने कुलटा नारी से बचने की सलाह अवश्य दी। मुसलमानो के नारी-अत्याचार को देखकर ही बार-बार उन्होंने कहा कि परनारी विष के समान है। उन्होने शोषित समाज को कपट, आडम्बर और वाग्जाल से दूर रहने को कहा, क्योंकि तत्कालीन समाज-व्यवस्था विसगतियों से भरी हुई थी। इस व्यवस्था को वे पलटना चाहते थे। लेकिन कवि के पास राजनीतिक शक्ति कितनी होती है? फिर भी सामाजिक अन्तर्विरोधो का स्पष्ट चित्र अपनी अद्‌भुत तर्क क्षमता के साथ उपस्थित कर सके, तो इसके पीछे उनकी गहरी वस्तुवादी अन्तर्दृष्टि थी। यह अन्तर्दृष्टि उनकी उलटवांसियों में भी है, जिन्हें अक्सर बकवास समझकर अत्यन्त कम महत्व दिया जाता है अथवा इनकी योगपरक व्याख्या की जाती है। एक ऐसी ही उलटवांसी में देखें कि सामाजिक व्यवस्था के नग्न यथार्थ का कितना व्यंग्यपूर्ण चित्रण है।

कैसे नगर करौं कुटवारी। चंचल पुरिष विचषन नारी
बैल बियाइ गाइ भई बाँझ। बछरा दूहै तीन्यूं साँझ
मकड़ी धरि माषी छछिहारी। मास पसारि चील्ह रखवारी
मूसा खेवट नाव बिलवाइया। मींडक सोवै सांप पहरिया
नित उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै। कहै कबीर कोई बिरला बूझै।

(कबीर ग्रंथावली पद-८०)

सामाजिक राजनीतिक शोषण के रहस्य को पहचानने के लिए हमें कबीर की वस्तुवादी अन्तर्दृष्टि को भी समझना होगा। समकालीन नगर की दुरावस्था का चित्र खींचते हुए उन्होंने उपरोक्त पंक्तियों में कहा है—इस नगर की रक्षा करनेवाला कोई नहीं है, अर्थात् राजनीतिक अराजकता की स्थिति है। पुरुष स्थिर दिमाग के नहीं हैं तथा नारियां भी विलक्षण स्वभाव की हैं। नगर विषमताओं से भरा हुआ है। गाय के रूप मे मानवीय सृजनशीलता बाँझ हो गई है और बुद्धि के बैल ही ज्ञान बघार रहे हैं। जैसा राजा होगा, प्रजा पर भी वैसा प्रभाव पड़ेगा। अतः युवा वर्ग तीनों वक्त भोग मे लिप्त

है। साधारण तौर पर मकड़ी जाल बुनती है और मक्खियां गलती करके फँस जाती हैं। लेकिन न्यायव्यवस्था ऐसी है कि अपराधी ही कानून और दण्डव्यवस्था के स्वामी हैं। सच्चे और न्यायप्रिय लोग बेगाने बनकर जी रहे हैं। राजा और जनता का सम्बन्ध वैसा ही है, जैसे चील और मांस के टुकड़े का होता है। सामाजिक व्यवस्था का तो कहना ही नहीं है। उच्च वर्ण केन्द्रित समाजव्यवस्था में शोषित जनता का जीना उसी प्रकार दूभर है, जिस प्रकार बिल्ली रूपी नाव को खेकर चूहा पार उतरना चाहे। इन कठिन स्थितियों के बावजूद जनता की हालत यह है कि यह मेंढक की भाँति भ्रम में घिरी सो रही है और इसने साँपों के समान विषैले धर्मरक्षकों को अपना पहरेदार नियुक्त कर दिया है। सिंह के समान भयानक इस विषमतापूर्ण समाज-व्यवस्था से हम नित्य जूझ रहे हैं। लेकिन बुद्धि होते हुए भी सियार की तरह हमारी ताकत अत्यन्त सीमित है।

समकालीन कविता-धारा में बिम्बों की अमूर्त खेलकूद के समानान्तर जो भूमिका सपाटबयानी ने निभाई है, कुछ वैसी ही भूमिका कबीर की उलटवाँसियों ने भक्तिकाल के आध्यात्मिक और शृंगारिक वातावरण में निभाई थी। कबीर की उलट-वासियों की एक झलक भारतेन्दु के 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' जैसे प्रहसनों में मिलती है। तत्कालीन काव्य-भाषा इतनी शिथिल और शान्त हो गई थी कि इनमें नई प्रतीका-त्मक शक्ति उत्पन्न किए बिना कोई गहरी बात संप्रेषित करना मुश्किल काम था। कबीर ने जो काव्य-रूप चुना, वह लोकधारा से बना था। उनकी लट्ठमार भाषा जनता की भावनाओं को भड़काने वाली ही नहीं थी, एक सार्थक दिशा भी प्रदान करने वाली थी। फिर भी उन्होंने पन्थ की कोई मोटी लकीर नहीं खींची और सरल हृदय से लोगों को अपनी बात समझाते रहे। उनके लिए कविता सामाजिक परिवर्तन की एक हथियार थी। इसलिए उन्होंने सहज बोधगम्य भाषा में ही शक्ति उत्पन्न करने की कोशिश की। उनकी भाषा का एक अपना सामाजिक संसार था, जो प्रतीकात्मक भी था। वे साधारण जनवर्ग को सम्बोधित करके कविता लिखते थे। इसलिए उनके दोहा, शबद या पदों में भाई या 'लोगों' का सम्बोधन मिलता है। उनकी कविता में पूरे जनवर्ग की भावनाओं की साझेदारी थी। जब खण्डन करने के लिए वे प्रतिपक्ष की भूमिका में खड़े होते थे, तो सीधे 'पाडे' 'पण्डित, 'काजी' या मुल्ला को चुनौती देते से दीख पड़ते थे। लेकिन उनका गुस्सा व्यक्तिगत नहीं था। उनकी समस्त कविता जन-गुस्से का ही एक रूप है। उनकी कविताओं में सीधा और प्रखर सम्बोधन मिलता था, तभी उनकी कविता शासक-शोषक वर्ग को बेचैन कर सकी। पूरी व्यवस्था उन से खफा थी और वे पूरी व्यवस्था से खफा थे।

कबीर के लिए ठगिनी 'माया' तत्कालीन राजनीतिकार्थिक प्रलोभनों के रूप में थी, जिनसे मन विकार से ग्रस्त हो जाता था। विरोध की भक्ति में स्खलित हो जाता था। इस माया की ताकत से वे परिचित थे। यह मनुष्य को भोगी में बदल देती थी। इससे सामाजिक प्रतिरोध की शक्ति का भी क्षय होता था। युग की शोषणमूलक समाज-व्यवस्था में कबीर ने कई बार विलगाव और अकेलेपन का दर्दनाक अनुभव किया।

'सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै। दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै।' अथवा 'हौ तो सबही की कहौं, मौकों कोउ न जान।' वे तो सबकी कहते हैं, पर उनको कोई पूरी तरह समझ नही सका—यह कितनी भारी अन्तर्पीड़ा थी। कबीर के अन्तर्चक्षु खुले हुए थे। माया के रूप में वे पराधीनता की जंजीरों के सिवाय और कुछ नही देख रहे थे। वे मुक्ति के लिए बेचैन थे, तो इसी धरती पर काम करते हुए एक नई व्यवस्था के निर्माण के रूप मे। परलोक जाकर उन्हें मुक्ति नही लेनी थी। लोगों के मन में धर्म की गहरी जड थी। अत किसी भी सामाजिकार्थिक अन्तर्विरोध की ओर संकेत वे धर्म की अन्तर्भित्ति पर खडे होकर ही कर सकते थे। लेकिन जिस निराकार ईश्वरीय सत्ता में वे विश्वास करते थे, उसका डर वे लोगों को कभी-कभी अवश्य दिखाते थे। यह भी बतलाते कि इसके सामने ऊँच-नीच का कोई फर्क नहीं है। समाज में ऊँच-नीच का भेद ईश्वर ने नही, बल्कि व्यवस्था ने पैदा किया है। और इस व्यवस्था के सामने अपनी भौतिक कमजोरी का अहसास कर कभी रोते थे, कभी ईश्वर की शरण मे जाते थे, कभी लौट कर फिर सामाजिक संघर्ष के स्वर में ललकारते थे—

सूरा के संग्राम में कायर का क्या काम
कायर भागे पीठ दे, सूरा करे संग्राम

पूरा जीवन एक संग्राम है। पर उन्होंने छद्म भक्तों को खूब फटकारा—

कनवा फडाय जोगी जटवा बढौले, दाढ़ी बढाय जोगी होई गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी बन गैल हिजरा।

स्पष्ट है कि कबीर सामाजिक जीवन अथवा काम के विरोधी नही थे। विरोधी थे इनके विकृत माया-रूप के। वे समाज में रहकर इसे बदलने के पक्ष मे थे। उन्होंने पुरानी गलत परम्पराओं को चुनौती दी। वे कहते थे 'अपनी भ्रान्तियों को ही असलियत समझने वाले मनुष्यों! टुकडे-टुकडे जोड-सी कर तुमने अपने अंग से जो चादर लपेट रखी है, यह पुरानी हो गई है। राजनीतिकार्थिक लोभ-मोह में पड़कर तुमने यह चादर मैली कर डाली है। इसे अब तक यथार्थज्ञान के साबुन से धोया नही गया और गन्दगी दूर नही की गई। सारी उमर इसी चादर को ओढे बीत गई, पर तू ठीक समझ नही सका कि तेरा भला-बुरा किस में है। कबीर ने अपने समाज में जिसे भी देखा, दुखिया पाया। गृहस्थों को भी। सन्तों को भी। कलियुग की ही विडम्बना है कि इसमे लालची और मसखरों को सम्मान मिलता है और ज्ञानी मारे-मारे फिरते हैं। इसलिए वे चाहते थे कि विभाजित सर्वहारा वर्ग धार्मिक साम्प्रदायिकता, ऊँच-नीच, जाति-भेद और छुआछूत की भावनाएँ भूल कर मनुष्यता के धरातल पर एकबद्ध हो। समाज के भीतर विक्षोभ भरा हुआ था, कबीर सिर्फ एक रास्ता दिखा रहे थे। उनकी वाणी से सामन्तवादी संस्कृति के विरुद्ध दलितों का विद्रोह आग की तरह फूट रहा था। लेकिन अपनी निराशा, उदासी और विफलता के क्षणों मे कबीर निराकार ब्रह्म की तात्विक बातें सोचने लगते थे।

लेकिन कबीर का ब्रह्म जितना निराकार नही था, उतना असाम्प्रदायिक था।

कबीर के राम भी असांप्रदायिक राम थे। निराशा की मनःस्थिति में कबीर के ये ही सहारे थे। कभी सिद्ध नाथ पन्थियों की परम्परा कबीर की राम-चेतना पर हावी हो जाती थी और वे योग की बातें करने लगते थे। इसमें वे कुछ बँधे-बँधे से रहते थे। उतना काव्यात्मक नहीं हो पाते थे। लेकिन जब भी राम-चेतना अधिक मुखर रहती थी, तब वे लोक गीतों की शैली में अपनी अनुभूतियों को अधिक खोलकर रख देते थे। इस हालत में अधिक घरेलू और आत्मीय परिवेश में राम से सम्बन्ध जुड़ता था। इसमें सूफियों का प्रेम भी घुल जाता था। उनके दोहों में शबरी के बेर, केवट की नाव, तथा भील-आदिवासियों का प्रेम भी है। गोपाल-कृष्ण और राम-कथा के विविध प्रसंग वैष्णवता की असाम्प्रदायिक चेतना के साथ मिले हैं।

ये सारी बातें कबीर के साहित्य को सिर्फ निर्गुण नहीं रहने देतीं। एक नई वैचारिक भंगिमा के साथ न जाने कितनी ऐतिहासिक धाराएं कबीर के व्यक्तित्व में शामिल हो गईं और उन्होंने इनके प्रगतिशील स्वरूप से कभी एतराज नहीं किया। वैचारिक जकड़न की अपेक्षा उनमें भावनात्मक खुलापन अधिक मिलता है। एक पद का अंश देखें —

दुलहिन गावहु मंगलचार
हम घरि आये हो राजा राम भरतार
तनरत करि मैं मन रत करिहूं पंच तत बराती
राम देव मोरै पाहुन आये, मैं जोबन मे माती

ऐसे पदों का सीधा-सा रहस्य यही है कि दलितों का मन्दिर प्रवेश वर्जित था। अतः कबीर ईश्वर के एक ऐसे रूप की रचना करना चाहते थे, जो दुखी दलित जनता को धर्म के पाखण्डों में हिस्सा लिए बिना भी विश्वास का धरातल दे सके। भगवान स्वयं ऐसे भक्तों के पास आते हैं—'बहुत दिन न थे मैं प्रीतम पाये, भाग बड़े घर बैठे आयें।' कबीर की ऐसी रहस्य-भावना की शास्त्रीय खींचतान नहीं करनी चाहिए। इसे सामाजिक द्वन्द्व के रूप में विश्लेषित करना चाहिए, क्योंकि यह सामाजिक आत्मा की ही मुक्ति की भावना थी। उन्होंने अपने जीवन में कर्म को सबसे अधिक महत्व दिया। आज इसे दुर्भाग्य कहा जायगा कि कबीर के नाम पर आध्यात्मिक ब्रह्म-साधना की खूब चर्चा होती है, लेकिन उनके सामाजिक क्रान्तिकारी विचारों को अजायबघर में सजा दिया जाता है। जीवन के परिवर्तनकारी मूल्यों में आस्था के कारण उन्होंने अन्तिम समय काशी छोड दी। वे मगहर जा बसे। क्योंकि उन्हें प्रमाणित करना था कि यहाँ भी प्राण त्यागने से उन्हें राम का ही लोक मिलेगा। कबीर की मृत्यु, परम्पराओं से एक अदमक मुठभेड़ थी। पर उनके फूलों का क्या हुआ ?

तुलसी का मध्यकालीन बोध

रामचरितमानस की परम्परागत आलोचना ने समारोहपूर्ण शास्त्रीयता के साथ रचना और पाठक के बीच मध्यकालीन भक्तिमिथिन धुन्ध उपस्थित की, तो तथाकथित नयी आलोचना ने आधुनिकता के सन्दर्भ में मानस की प्रासंगिकताओं की विवेचना करने की प्राध्यापकीय ओज के साथ आधुनिकता की अवधारणाओं का ही मध्यकालीनीकरण करके दूसरी तरह का कोहरा रचना के सामने फैला दिया। विभिन्न मानस-समारोहों में एक बड़ा खतरा स्वाभाविक रूप से उपस्थित हो गया कि तुलसी के व्यवसायीकरण एवं संस्थानीकरण के बीच मानस की प्रासंगिकताओं पर सोचते हुए आलोचना ने पुराने सन्दर्भो मे अपने को पहचानने की अप्रतिबद्ध छूट ही नहीं ले ली, अपितु समारोह की सार्थकता इस बात में मानी जाने लगी कि यह कहाँ तक तुलसी को आधुनिक करार दे सकती है तथा मानस को संस्कृति की वर्तमान चरमराहट, आर्थिक खोखलेपन और सामूहिक नैराश्य के बीच आस्था के सबल प्रतीक के रूप मे स्थापित कर सकती है। इसके माध्यम से यह साजिश भी चलायी गयी कि डगमगाती हुई मध्यकालीन आस्था तथा मुसलमानी गुलामी ने मानस रूप मे जितनी सबल कृति दी, आधुनिक साहित्य उसके सामने बौना ही नहीं, झाड़-झंखाड़ भी है, बल्कि नयी दस रचनाएँ लिखने के बदले एक बार रामचरितमानस को पूरा पढ़ जाना श्रेष्ठतर है। इतिहास की चेतना के विकास अथवा सामाजिक संरचना के बदलाव को समझने के लिए अपनी परम्परा की छानबीन करना, लोकास्था मे, इसकी गहराई के मूलभूत कारणों को खोजना, अतीत की सम्पदा को मिथक के रचनात्मक आधार पर आधुनिक सवेदना को अभिव्यक्त करना आज की आलोचना के कुछ सन्दर्भ हैं। अगर आधुनिक दिमाग मे आज यह बात आयी कि रामचरितमानस पर बातचीत की जाये, तो इस का लक्ष्य यही रहा है कि मानस के सहयोग से हम उस समय की लोक-मन.स्थिति को समझे, सामाजिक लोकेतिहास के भीतर सांस्कृतिक संघर्षों को जानें, आधुनिकता नही, बल्कि मध्यकालीनतावाद को अपनी भव्य परम्परा के आयामों मे तुलसीदास ने किस प्रकार उपलब्ध किया, इसकी विवेचना करें। तुलसी की कविता की भाषा ने अपनी नयी प्रतीक-पद्धति से राम के मिथक को युग की किन नयी प्रासंगिकताओ के बीच स्वीकार किया, कहा उनकी धार्मिक कथा बोलने लगती है और कहाँ यह मिथक मे कायाकल्प कर लेती है, इन सबकी खोज जरूरी है। अतः सबसे पहले इसकी पड़ताल होनी चाहिए कि तुलसी का मध्यकालीन बोध क्या था, जिसे संस्कृति की समकालीन परम्परा के आयामों मे खोजते हुए वह

राम के समीप पहुँचते हैं।

कलिकाल की सामाजिकार्थिक दशाओं तथा मध्यकालीन धार्मिक परिवेश से ही तुलसी ने अपना मिथक-बोध विकसित किया। कविता एवं धर्म के बीच संश्लिष्ट रिश्ते को इस परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है कि धर्म एवं मिथक भी मिले-जुले थे। आधुनिकता की प्रक्रिया मिथक के भीतर धर्म की साम्प्रदायिक चेतना को छाँटने की भी रही है, जिस के कारण नये मिथक में नयी मानवीय चेतना तो मिलती है, लेकिन धर्म को साम्प्रदायिक बनाने वाले तत्त्वों एवं गाथाधर्मिता का अभाव मिलता है। बात को और खुलासा करें तो कहना होगा कि 'साकेत' में यह अभाव कम है अर्थात् कविता के भीतर मैथिलीशरण गुप्त की निजी भक्ति के कारण अलगाव की प्रक्रिया कमजोर है, जबकि, 'राम की शक्तिपूजा' और 'संशय की एक रात' में यह क्रमशः तीव्र होती गयी है। राम हिन्दू के नहीं हो कर, भारत की सामाजिकार्थिक स्थितियों में रचना-प्रक्रिया के रूप में अधिक प्रासंगिकता प्राप्त करते गये हैं। आधुनिक कविता में परम्परागत धार्मिक परिवेश क्रमशः समाप्त होता गया है, जो रामचरितमानस में राम की मिथ-कविता तैयार करने के लिए सर्वाधिक सशक्त मानसिक आधार था।

मुस्लिम साम्राज्य के विस्तार तथा शोषण के कारण कला में वास्तविक जीवन की समस्याएँ पारलौकिक समस्याएँ बन गयीं तथा ईश्वर उनका केन्द्र हो गया। गाथा-काल से निकल कर कविता ने एक ओर जहाँ अपने को धर्म के साथ पूर्णतया संयुक्त कर लिया, वहीं हिन्दी भाषा ने पुरानी काव्यरूढ़ियों और शैलियों को छोड़ कर प्रतीकात्मक तथा रूपकात्मक आधारों पर अपने को विकसित किया। कविता की आन्तरिक संरचना आध्यात्मिक मिथक के आधार पर विकसित हुई। आध्यात्मिक मिथकों में भौतिक जगत् की समस्याएँ और कलिकाल की माया मृगतृष्णा के रूप में ही प्रतीकीकृत हुई। कविता में अध्यात्म के द्वारा ब्रह्म अथवा ईश्वर की प्राप्ति ही प्रधान समस्या बन कर आयी। अतः मध्य युग में मिथक आध्यात्मिक चेतना एवं धार्मिक साम्प्रदायिकता से बंधे हुए थे। मिथक में (वीर) गाथा तत्त्व बिल्कुल छूटा नहीं था, किन्तु उसे भिन्न प्रकार की धार्मिक प्रासंगिकता मिल गयी थी। मनुष्य जाति के आदिम मनोविज्ञान से भी पता चलता है कि उस स्तर पर धर्म, मिथक तथा भाषा संयुक्त थे। तुलसीदास के भीतर धर्म के पौराणिकीकरण तथा मध्यकालीनीकरण का तनाव तीव्र था, इसीलिए उनके राम में भी तनाव स्पष्ट मिलता है। तुलसी सीता-वनवास तथा शम्बूक-वध के प्रसंगों को इसी कारण छोड़ भी देते हैं। लेकिन रामकथा की तीव्र घटनाधर्मिता का पौराणिकीकरण कर के कई आश्चर्यजनक वारदातों, जादुई लीलाओं एवं ऐन्द्रजालिक शूरवीरताओं को भी अपनी आध्यत्मिकता के भीतर वह पूरी तरह स्वीकार कर लेते हैं। तुलसी अपने रामचरितमानस में अतिनाटकीयता की रचना इसलिए करते हैं कि उन्हे अपने युग की हताश मानसिकता को सांस्कृतिक आघात देना था। राम का स्वरूप ऋग्वेद एवं उपनिषद् काल से होते हुए आधुनिक युग तक जिन-जिन चेतना-केन्द्रों को समन्वित करता हुआ विकसित होता रहा, उससे भिन्न जीवन-प्रणाली, मानवीय बोध, आन्तरिक आस्था,

अन्दरूनी संघर्षों तथा युगीन परिवेश का पता चलता है। राम किसी सीमाबद्ध अतीत का प्रसंग नहीं, बल्कि जीवन की रचना-प्रक्रिया है, इसीलिए राम का चरित्र मिथकीय है। राम में कई कालों की सामाजिक चेतना जुड़ी है। राम कहीं अगर शम्बूक का वध करते हैं, तो यह वध राम नहीं करते, बल्कि द्विजवर्ण में परिणामित शूद्रहन्ता सामाजिक ढाँचा राम के मिथक के भीतर घुल जाता है। किसी काल (तुलसी) में अगर वह ऐसा नहीं करते तो यह सामाजिक ढांचे एवं उसके आदर्शों के बदलाव का निर्देशक है। मध्यकाल का सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य आत्मोपलब्धि-परक मिथक पर आधारित है। मध्य युग का सामाजिक अवचेतन इतना अधिक दमित हुआ तथा प्रतिबन्धित प्रेम के कारण नारी इतनी उपेक्षित रही कि लीला एवं मन की रागात्मक वृत्तियों के कारण राधाकृष्ण की मिथकीय अभिव्यक्ति कृष्ण-धारा की कविताओं में हुई। इसी कारण कृष्ण-भक्ति अवचेतन से अधिक जुड़ी है। हिन्दुओं के टूटे हुए मन को जिस पुरुषोत्तम राम की तलाश थी, वह चेतन मन की सबल आस्था के रूप में मिले। कृष्ण तथा राम दोनों की ही आध्यात्मिक चेतना सगुण थी एवं नाम-रूप-आकार-कथा से जुड़ी हुई थी।

मध्यकाल में धार्मिकता राम के मिथक के लिए प्रासंगिक थी। इसके साथ मध्यकालीनतावाद की जबर्दस्त ऐतिहासिक शक्ति काम कर रही थी। मध्यकालीनतावाद का विकास समग्र भारतीय जन-मानस में जिन धुरियों पर हो रहा था, उन्हें हम शोषण, परतन्त्रता तथा मनुष्येतर अन्धास्था के रूप में सामाजिक स्थितियों के बीच तलाश सकते हैं। शोषण के स्तर पर वर्णसंघर्ष कमजोर हो गया था तथा निम्न वर्ण के लोगों को सामाजिकार्थिक स्तर पर बुरी तरह दबाया जा रहा था, परतंत्रता के स्तर पर मुसलमानी आतंक ने भारतीय मानस में कुंठित मनोवृत्तियों की फसल खड़ी कर दी थी, तथा मनुष्येतर अन्धास्था ने मानवीय मिथकों-प्रतीकों का आध्यात्मिकरण करना शुरू कर दिया था। परलोक का यूटोपिया कहीं रामराज्य में प्रतीकीकृत हुआ और कहीं कृष्ण-लीला में। इसने इश्कमजाजी और लोकबिम्बों से बुनी गयी भीनी चदरिया में भी अपनी खुशहाली के दिवास्वप्न ढूंढ़ लिये।

वर्ण-विभाजित सामाजिकार्थिक व्यवस्था के कारण ही शिव की बारात के सन्दर्भ में तुलसीदास ने वर्गीय समाज की चेतना का स्पष्ट विकास किया। वस्तुत: रामचरित-मानस में समकालीन जीवन की परम्पराओं को ही कविता की भव्यता प्रदान की गयी है। जन्म, विवाह, कलह, मेलजोल, मृत्यु आदि के सन्दर्भ में उस समाज का ही चित्र है, जिसमें मध्यकालीन बोध की प्रक्रिया अपनी समग्र संगति एवं प्रासंगिकता पा लेती है। तुलसी के काल में मध्यकालीनतावाद का जो चक्र स्थापित हुआ, उसके विरोध से ही आधुनिकता की प्रक्रिया शुरू होती है। मध्यकाल में संस्कृति की शक्ति परम्परा थी, नये युग में यह प्रगतिशील आधुनिकता है। आधुनिकता की यह कुल्हाड़ी अभी कमजोर है, इसीलिए भारतीय जनमानस में मध्यकालीनतावाद की जड़ें बहुत गहराई तक जमी हुई हैं। इसीलिए शिव की बारात में अलग-अलग वर्ण, और समाज के लोगों को साथ नहीं चलने देने की तुलसी-भावना को आलोचक विवाह-प्रसंग का सामान्य व्यंग्य मान

कर टाल देते है।

समता के पक्षपाती शिव के गण निम्न वर्ण के थे, अधनंगे-कुरूप थे। वे मध्यकालीन समाज की सीमाओं के कारण सम्भ्रान्त, समृद्ध, एवं वैभवपूर्ण देवमंडली के लोगों की पंक्ति में कैसे जा सकते थे? विष्णु का ऐसा निर्देश भी था। यह ध्यान देने की वात है कि शिव का वैदिक देवताओं से हमेशा संघर्ष होता रहा, क्योंकि एक काल की सामाजिकार्थिक स्थितियों के विकास का ही प्रतीक इन्द्र के पूंजीतन्त्र के समानान्त शिव के कैलासलोक का गणतन्त्र था। शिव ने दक्ष यज्ञ का ध्वंस किया। वैदिक मिथकशास्त्र के इन्द्र, कुबेर को अपमानित किया। शूद्रों, निम्न वर्ग तथा सताये हुए लोगों को लेकर उन्होंने समानान्तर गणतन्त्र मे गणेश को शासक बनाया, क्योंकि गणेश द्विज अथवा वैदिक देवता नही, वल्कि शूद्र थे। राम के मिथक के सन्दर्भ मे गणेश तथा शिव को तुलसी द्वारा इतना अधिक महत्त्व देने की राजनीति को समझें तो पता लगेगा कि तुलसी का प्रधान लक्ष्य आक्रान्त हिन्दू मनःस्थिति को संघर्षशील आस्था का एक दृढ स्तंभ प्रदान करना था। तुलसी मूलतः वैष्णव थे, यह कहने का तात्पर्य यही है कि व्यक्तिगत स्तर पर उन की भक्ति राम के प्रति थी। वे भक्त के साथ कवि भी थे एवं उनके मन में किसी भी देवता के प्रति अनादर का भाव नही था। उस समय जबकि एक ही धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो में काफी संघर्ष था, इस तरह का कवि होना निश्चय ही वडी बात थी। प्रसंगतः यहाँ संकेत दे देना जरूरी है कि समकालीन आराध्य देवताओं की पंक्ति से वैदिक मिथकों का अवमिथकीकरण हो गया था। अपनी पुस्तक के आरम्भ में ही उन्होने अग्नि एवं इन्द्र (सहस्रनयन) की निन्दा की है। शिव का एक वैदिक मिथक भी था, लेकिन सामान्य जन के देवता होने के कारण शिव निरन्तर विकसित होकर शक्तिशाली होते गये। उच्च वर्णो के आराध्य वैदिक देवता मे टोटम-टैबूज, आदिम आस्थाओं मे जीते हुए विशाल निम्न वर्ण के लोगो के भावनात्मक देवता शिव के सांस्कृतिक सघर्ष का परिणाम उनके हक में निकला। यह शक्तिशाली होकर द्विजों के मिथक विष्णु के समानान्तर ही लोकास्था की गहराई में प्रतीकीकृत हो गये।

मध्यकालीनतावाद की प्रासंगिकता में तुलसी को राम के ही मिथक की अभिव्यक्ति करनी थी अथवा यह कहा जा सकता है कि इस युग की तकलीफों एवं संघर्षों ने राम के मिथक मे अपनी आस्था की खोज की। तुलसी उस के सेतु बने। उस काल की मनःस्थिति को महाभारत की कथाओं में अपना आदर्श नही मिला, इसलिए महाकाव्यकाल के रामायण के मिथक का ही विकास निथुरी हुई सांस्कृतिक परम्परा मे तुलसी दास ने किया। महाभारत के मिथक आधुनिक युग में अधिक व्यापक स्तर पर स्वीकृत हुए। इसका एक कारण यह भी है कि महाभारत की अपेक्षा रामायण के राम मे नार्मिस्टिक गुण अधिक मात्रा में है।

तुलसी की धार्मिक आस्था के केन्द्र मे मध्यकालीन अवतारवाद की यह अवधारणा विष्णु-धारा के साथ ही क्यों चली, वैदिक देवताओं, ब्रह्मा अथवा शिव के साथ इसका विकास क्यों नही हुआ, यह एक अत्यन्त रोचक विषय है। यहाँ इतना संकेत

दे देना पर्याप्त होगा कि वैदिक देवताओं की प्रासंगिकता उसी समय समाप्त हो ग
जब मनुष्य ने एक भाषा-समूह को भीतर से बदल कर दूसरे भाषा-समूह को अप
अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। वैदिक मिथक की प्रकृति-चेतना पुरानी पड़ गर्य
वैदिक मिथक-शास्त्र ढह गया। शिव सामान्य जन के आदिम यथार्थों के मिथक
वे स्वयं ही इतने भोलेनाथ और सहज थे कि लोकजीवन से सीधे जुड़े थे। वह ए
बहुत बड़े शोषित वर्ग के भावनात्मक प्रतिनिधि थे। शिव अगर अवतारवाद के वि
भी लोकास्था की सम्पन्न गहराई तक पहुँच सके (इसके लिए उन्हें काफी सा
जिकार्थिक संघर्ष करना पड़ा था) तो इसका कारण यह था कि वह निम्न वर्ण
शक्तिशाली मिथक थे, जिसे मध्यकालीनता की ऐतिहासिक प्रक्रिया में द्विजों को
स्वीकार करना पड़ा। विष्णु भी अगर अवतारवाद के बिना सामान्य जन तक पहुंच
चाहते, तो इन्द्र की तरह कभी के लोकास्था से मर चुके होते। अवतारवाद ने उ
जीवित रखा। तुलसीदास ने हजार बार जिस 'वेदादि' की दुहाई दी है, उस मे अवता
वाद के बीज भी नही हैं। राम का जिक्र आया है, लेकिन इन्द्र की तुलना में वह नु
नही थे, जिस के दल की निन्दा तुलसी ने कई बार की है। एक बार तो राम, क
के रूप मे आये इन्द्रपुत्र को तिनके से मारते भी है। उन्हें अपना बाण भी खर
नही करना पड़ता। अवतारवाद विष्णुधारा के मिथक की बैसाखी है। इसका कार
यह है कि विष्णु जनता के बीच के देवता नहीं थे। द्विजों की प्रभुता एवं उनमे शास
शोषण प्रवृत्ति के विकास के कारण उन्हे शिव की समानान्तर शक्ति की स्थापना कर
थी। इसलिए विष्णु का मिथक विकसित हुआ। महाकाव्य तथा पौराणिक काल
सिर्फ विष्णु से काम नही चल सका, इस लिए उन के अवतारवाद की कल्पना की ग
जिससे सांस्कृतिक उथल-पुथल, संघर्ष तथा द्विजवर्ण की शक्ति तथा सम्पन्नता से,
जुड़े यथार्थो का प्रतीकात्मक मिथक विकसित हुआ। भागवत में उल्लिखित है कि
राक्षस हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु शिव के ही दो द्वारपाल जय एवं विजय थे, जिन्हें
ब्राह्मण का शाप मिला था। इस तरह के शाप ही उस काल के सामाजिक बन्धन,
वर्जनाएँ एवं टैबूज थे, जिन के बीच शोषित हो कर जीता हुआ आदमी, राक्षस, लुटेरा
एवं हिंसक हो जाता था, जैसा कि आज भी हो जाता है।

हिरण्याक्ष को विष्णु ने पौराणिक अवतारवाद के वराह-केन्द्र से, हिरण्यकशिपु
को नरसिंह-केन्द्र से तथा रावण को राम-केन्द्र से मारा। यह ध्यान मे रखने की बात है
कि ये सभी शिव-भक्त थे। चूंकि भारत का सांस्कृतिक इतिहास द्विजों द्वारा लिखा गया,
इसलिए द्विजों के मिथकीय प्रतीक—विष्णु—के हक मे शिव कल्ट को बदनाम करने की
कोशिशें हुईं। नवीनतम खोजों के उपलब्ध प्रमाणों से यह भी पता चलता है कि आर्यों से
पहले द्रविड़ों मे शिव दूसरे रूप एवं नाम से आराध्य थे। अतः यह तत्कालीन वर्ग-संघर्ष
के ही एक रूप वर्ण-संघर्ष का विकास है, जो शिव-विष्णु-संघर्ष के मिथक में अभिव्यक्त
हुआ। ये मिथक भारतीय जीवन में बार-बार आये तथा मध्यकालीनतावाद के अन्तर्गत
संघर्ष की जगह समझौता की प्रक्रिया चली, नतीजतन शोषण एवं परतन्त्रता के हक में

भाग्यवाद का विकास हुआ। उच्च द्विजों ने यह सफाई दी कि शिव राक्षसों पर भी प्रसन्न होकर उन्हें वरदान इसलिए दे दिया करते हैं, कि वे बम-भोलेनाथ हैं, सीधे-सादे हैं। साफ कहें तो धूर्त नहीं हैं (जैसे कि कृष्ण चालाक थे)। इसीलिए मध्यकालीन बोध में समझौते की प्रक्रिया शामिल है। यह समझौता निम्नवर्ण एवं द्विजवर्ण के बीच ही नहीं है, बल्कि शिव एवं विष्णु के बीच भी है। जिस प्रकार ऐसी बात नहीं है कि विष्णु निम्न वर्ण में लोकप्रिय नहीं थे, उसी प्रकार ऐसा समझना भी भ्रम है कि शिव को मध्यकालीन राजा-महाराजा नहीं पूजते थे। हम भारतीय मिथक के माध्यम से वर्ण पर आधारित सामाजिकार्थिक संघर्ष को समझ सकते हैं। वर्ण-समझौता इस संघर्ष का ही दूसरा पहलू है।

तुलसीदास ने सामाजिक यथार्थ के स्तर पर विद्यमान वर्ग-संघर्ष के रूप वर्ण-संघर्ष को, जो दलितों के निरन्तर शोषण के स्तर पर चल रहा था, वर्ण-समझौते का मध्यकालीन यूटोपिया राम के माध्यम से दिया। यह उनके मध्यकालीन दिमाग की उपज थी कि बालकाण्ड में शिव का वर्णन राम-भक्त के रूप में किया गया है। वह राम के भीतर से ही अपनी आध्यात्मिकता की तलाश करते हैं। शिव वर्णच्युत हो गये थे—डिकास्ट। व्यापक साम्यवादी शब्दावली में 'डिक्लास्ड'। माता-पिता विहीन होने के कारण, वे सामाजिक जटिलताओं से जन्मे थे। सती समृद्ध घराने से निकलकर घरहीन, गरीब, वर्णच्युत व्यक्ति (शिव) के पास आयी थी। दक्ष यज्ञ में जलकर उसकी आत्म-हत्या मध्यमवर्गीय संस्कारों तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था का परिणाम था। सती का चरित्र यूटोपियन होने के बजाय अधिक यथार्थ पर आधारित था, लेकिन ऐतिहासिक सीमाओं के कारण इसे महत्व नहीं मिल पाया। बालकांड में तुलसीदास ने विस्तार से शिव की कथा दी है। शिव की महिमा गायी है। शिव-पुराण से ली गयी धार्मिक कथा को तुलसी ने कई स्थलों पर सिर्फ कथा के रूप में नहीं, बल्कि मिथक के स्तर पर स्वीकार किया। यह मिथक 'शिव का राम से संबंध' के स्तर पर बना है। रामचरितमानस में पूर्व लोककविता के स्तर पर कहीं भी शिव द्वारा राम को सर्वोपरि महत्व नहीं दिया गया। इसीलिए तुलसी ने अपने मिथक के स्तर पर शिव की परम्परागत धार्मिक कथा में परिवर्तन भी किया। शिव अगस्त्य से पूरी रामकथा सुनने के बाद दक्ष-कुमारी सती के साथ कैलास-लोक लौट आये थे। इसके बाद सीता के वियोग के बाद सती राम की परीक्षा लेने के लिए वेश बदलकर जाती है और शिव मन-ही-मन राम की माया समझते हुए मुस्कुराते हैं। सवाल यह है कि राम लक्ष्य तक पहुँचने में पूर्व संकट की स्थिति में ही गुजर रहे थे तो शिव ने मुनि से पूरी कथा पहले ही कैसे सुन ली ?

जगत् की माया और राम की माया का मध्यकालीन अन्तर क्या जगत् के दुःख-पूर्ण यथार्थ एवं 'राम के यूतोपिया' का अन्तर था ? तुलसी ने राम के मिथक को मध्य-कालीन यूतोपिया की ओर ले जाने के लिए कई अतिकल्पनाओं का सहारा लिया है। पार्वती की हजारों वर्ष की तपस्या, सुरसा, हनुमान की पूंछ इत्यादि सैकड़ों [illegible] रूढ़ियों एवं अतिकल्पनाओं को अपने राम के मिथक में उन्होंने भास्वर की [illegible]

दिया, जो मध्ययुग की काव्य-शोभा थी। इसमें व्यापक इन्द्रजाल भी मिलता है, जिसके
माध्यम से तुलसी कमजोर और आहत भारतीय मन को विराट् शक्ति के सांस्कृतिक
धक्के देना चाहते थे। आज यह तरीका गैरप्रासंगिक कहा जायेगा, लेकिन मध्यकालीन
बोध की वैभवपूर्णता से सम्पन्न तुलसी ने राम के मिथक मे इस तरह की चीजें जोड़ी, तो
इसका कारण—राम की माया, अलौकिकता, महिमा को यथासम्भव बढ़ाकर राम के
देवत्व को उभारना था। वह जनमानस में राम-भक्ति को कुरेदना चाहते थे। मध्ययुग की
भारतीय परवशता को उन्होंने **होइहहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावै**
साखा।' मे बदल दिया। तुलसी की कविता-भाषा में धार्मिकता के कारण ही नही, मध्य-
कालीन सास्कृतिक स्थितियो के कारण भी, सम्बद्ध तर्कपद्धति का अभाव तथा इन्द्रजा
अति-कल्पना, कथानक-रूढियों एवं शास्त्रीय विधियों (रिचुअल्स) की प्रचुरता मिलत
है। रामचरितमानस मे एक नही, कई ऐतिहासिक सोपानों के राम हैं, अतः कृति मे रा
की जगह, राम-समुदाय मिलता है।

राम-समुदाय कविता की सतह पर स्पष्ट दिखते हुए भी धर्म के स्तर पर मधु की
तरह घुला-मिला रहे, इसमें तुलसी ने अपनी पूरी कविता-क्षमता लगा दी। बहुत जगहो
पर उन्होने कविता की परवाह नही की। ठीक उसी प्रकार कई जगहों पर उन्होंने धर्म
की परवाह नही की और कविता बनाने के लिए उन्होने अपनी धार्मिक परम्परा को भी
दांव पर लगा दिया। तुलसी अपने मध्यकालीन परिवेश में भी हमें नये इसलिए लगते हैं
कि तुलसी का रोल परम्परा की समग्रतया सरक्षणवादिता का कतई नही था। यही राम
की धार्मिक-कथा राम के मिथक मे ढल जाती है। इस मिथक की अपनी ऐतिहासिक
सीमाएँ होते हुए भी अपने युग मे यह प्रासंगिकता से सयुक्त है। हताशा से ग्रस्त, पराजित
और टूटे हुए मन एवं मध्यकालीनतावाद से ग्रस्त होकर मरती हुई संस्कृति के बीच
अपने स्वाधीनता के मूल्यो के लिए परवशता के प्रतीक रावण से लडते हुए राम को
तुलसी ने तलाश लिया, यह एक बहुत बडा कार्य है। तुलसी अपने समय की पूरी व्यवस्था
को बनाये रखने के लिए कार्य नही कर रहे थे। कहीं-न-कहीं, अपनी ऐतिहासिक सीमा
के भीतर, उसे थोड़ा-बहुत बदलने के लिए बेचैन थे। इस कार्य के लिए उन्हे राम को
मजबूत बनाना था। इसीलिए दानव-वर्ग मे रावण की भयंकरता का भी उन्होंने बढ़-चढ़
कर वर्णन किया।

लोकास्था की गहराई में राम को मजबूत बनाने के लिए दूसरी ओर देवपक्ष मे
उन्होंने शिव को रखा। यहाँ तुलसी की मिथक-नीति राम को परम ब्रह्म, परम आराध्य
एवं अलौकिक महिमायुक्त सिद्ध करने की थी तथा लोक-आराध्य शिव के माध्यम से यह
कार्य कराने पर इस स्थापना का वजन बढ़ जाता था। साधारण जन शिव की आराधना
करते थे, लेकिन शिव भी जिसकी आराधना करने लगें, वह भगवान राम कितना महान्
है! लोगों के मध्यकालीन दिमाग मे यह बात सहज ही अपने आकार से बड़ी होकर
खडी हो जाती है। इसलिए उन्होंने शिव के भी माध्यम से राम-कथा सुनायी। राम द्वारा
शिव की आराधना तुलसी की जन-नीति थी, जिसके माध्यम से वह राम की प्रतिष्ठा

उच्च द्विजों के पूँजीतन्त्र में ही नहीं, सामाजिकार्थिक जटिलता के शिकार लोगों, वर्णच्युत पिछड़ों तथा गणों के गणतन्त्र में भी करना चाहते थे। उनकी उदारता, दीनता, विनयशीलता अथवा कृपा की आकांक्षा इसी 'मिश्रित व्यवस्था' को चलाने के लिए बहुत बड़ा सुरक्षात्मक कवच थी। केवट, शबरी, कोल-भील, निषाद तथा द्वितीय श्रेणी के अन्य नागरिकों से अगर उन्होंने समझौता किया तो यह सांस्कृतिक वर्ण-समझौते से पृथक कहाँ है? राम क्षत्रिय थे, लेकिन वह ब्राह्मणों के संरक्षक थे। द्विज लोगों में उन्होंने एकता स्थापित की तथा निम्नवर्ण के लोगों से समझौता किया। यह एकता तथा समझौता राम की उदारता से अधिक तुलसी की मध्यकालीन राजनीति को स्पष्ट करती है। तुलसी ने यह राजनीति चलाने के लिए एक ओर तो राम में अवतारवाद के माध्यम से उदारतापूर्वक सभी नैतिक गुणों की प्रतिष्ठा कर ली, दूसरी ओर तर्क, विरोध, संशय को फटकारा ही नहीं, दुर्जनता का कारण बताया। बिल्कुल सम्मोहक तथा जादुई तरीके से उन्होंने भाषा में बुद्धि अथवा तर्क से बात करने वाले को कुतर्की, विरोधियों को नास्तिक, संशय करने वालों को विधर्मी कह कर उनका मुंह बन्द करने की कोशिश की। यह कार्य उन्होंने पूर्व धारणाओं की स्थापना के माध्यम से किया। इसीलिए उनकी समूची उदारता उनके अपने मतवाद के कठोर लौहकवच को छुपाने के लिए मुलायम मखमली खोल है।

'दीनता' मध्यकालीन वर्ण-शोषण की छूट दिलाने वाला हथियार और कृपा की आकांक्षा,' *'तुलसी जसि भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय'* की स्थापना करने के लिए अवतारवाद का सिंचन सिद्ध होती है। तुलसी ने बहुत मुलायम ढंग से अपनी मध्यकालीन राजनीति चलाने की सोची। यह पराधीनता की पीड़ा के भीतर दमित आत्मचेतन व्यक्ति का विराट् मध्यकालीनतावादी स्वप्न था कि सोने की लंका का विदेशी पूँजीवाद तो ढह जाये, राजनीतिक पराधीनता समाप्त हो, लेकिन देशी सामन्तवाद का बोलवाला वर्ण-समझौते के आधार पर बना रहे। अपने युग में तुलसी की प्रासंगिकता इसमें तो थी कि मध्यकालीनतावाद की एक धुरी पराधीनता के विरुद्ध राम के मिथक के माध्यम से लड़ाई चले, लेकिन वर्ण-समझौते को वर्ग-चेतना के साथ वर्ण-संघर्ष का रूप देने की उन्होंने कोशिश नहीं की, जिससे अन्दरूनी सामन्तवाद का भी विरोध हो सके। तुलसी मुगल-शासन के खिलाफ थे, यह सर्वथा सिद्ध होता है। रावण के कुकृत्य तथा साम्राज्यवादी विचार मुगल-शासन की प्रतिध्वनि है। फिर तुलसी ने सीधा विरोध क्यों नहीं किया, जिस प्रकार जंगलों में भटकते हुए राणा प्रताप कर रहे थे? उन्होंने राम के मिथक (कथा नहीं) के माध्यम से प्रच्छन्न विरोध क्यों किया? मिथक कला की सम्भावनाओं को विकसित करता है। यह यथार्थ पर आवरण नहीं है, बल्कि यह यथार्थ को अपनी सांस्कृतिक जटिलताओं के माध्यम से प्राप्त करने का इतिहास-पथ है। राम का मिथक धार्मिकता के साथ-साथ राजनीतिक एवं सामाजिकार्थिक प्रासंगिकता को भी उजागर करता है। तुलसी के रामचरितमानस को समकालीन हिन्दू विचारधारा से भी कड़ा संघर्ष करना पड़ा था तथा मध्यकालीनतावाद की सीमाओं के

भीतर मुगल-राजनीति एवं पंडितों के समकालीन दर्शन से जूझना तथा अपना नया रास्ता निकालना पड़ा था।

आज अगर रामचरितमानस इतने व्यापक स्तर पर लोकप्रिय है, तो यह मध्य-कालीनतावाद की व्यापक विद्यमानता का लक्षण है। साधारण भारतीय मनुष्य आज के युग मे राम को मिथक के स्तर पर नही समझ कर धार्मिक कथा के स्तर पर ग्रहण करता है।

आज की कविता के साथ मोक्ष एवं धर्म की समस्या नही, काम एवं अर्थ की समस्याएँ है। तुलसीदास धर्म की सरणियों से लोकचेतना तक पहुँच सके, कविता की सरणियों से नही। लेकिन राम के मिथक को समझे बिना हम तुलसी के मध्यकालीन बोध को नही जान सकते तथा मध्यकालीनतावाद की समकालीन धुरियों को छोडकर हम राम के मिथक की भी पहचान नहीं कर सकते। तुलसी ने जिस प्रकार वर्ण-समझौता कर के पराधीनता के प्रतीक रावण से युद्ध धर्म-कविता के स्तर पर किया था, नये युग मे गान्धी ने वर्ग-समझौता कर के अंग्रेजों से धर्मसंयुक्त राजनीति के स्तर पर लड़ाई की थी। दोनों ही संयोग से राम-भक्त थे। बल्कि राम के माध्यम से गान्धी को जो संस्कार मिले, वे तुलसी द्वारा ही सँभाले हुए थे। यहां जब द्विजवर्ण-निम्नवर्ण की बात हो रही है, तो यह नही समझना चाहिए कि वह जाति-विद्वेष है। बल्कि यह हमारे समाज की वस्तुगत सामाजिक भेद की एक वास्तविक स्थिति है। यह भेद मिटाना होगा। निम्न वर्ण के समृद्ध लोग सामाजिकार्थिक संघर्ष में मध्यकालीनतावादी और पूंजीवादी शक्तियों के साथ है, तो द्विजवर्ण का पिछड़ा तबका व्यापक प्रतिबद्धता के साथ जुड़कर अपनी स्वतन्त्रता के लिए जाति से भी पिछड़े गरीब वर्ग के साथ संघर्षरत है। हमारे समाज में वर्ण-संघर्ष की नहीं, बल्कि वर्ग-संघर्ष की जरूरत है, लेकिन इसमें दलितों की स्थिति को बराबर ध्यान में रखना होगा।

मानस के माध्यम से हम देखते हैं कि हमारा मध्यकाल जीवन के विविध मूल्यों, आदर्शों, संकीर्णताओं, धार्मिकताओं को ले कर चलने वाला काल है। आरम्भिक पौराणिक रचनाओं के बाद हिन्दू चेतना में व्यापक स्तर पर रूढिवादिता तथा संकीर्ण-ताएँ फैली, जिन्हें बौद्ध तथा जैन मतों की लगातार चुनौतियां झेलनी पड़ीं। तुलसी का रामचरितमानस भी मुगलकालीन हिन्दू-संकीर्णता एवं अनास्था-निराशा के विरुद्ध एक चुनौती बन कर आया, यह स्वीकार करना चाहिए। उस समय राम का स्वीकार मिथक के स्तर पर हुआ तथा यह मध्यकालीन लोक-मन:स्थिति की सशक्त अभिव्यक्ति के रूप में सामने आया। अपनी ऐतिहासिक सीमाओं में इस की वहाँ प्रासंगिकता थी, जहाँ वे कवि थे तथा वहां प्रासंगिकता नही थी, जहाँ उन्होंने भक्त के रूप में कविता को दाँव पर लगा दिया। इसी में उन के अवसरवाद, समझौतावाद तथा शोषण एवं मनुष्येतर अन्यास्था की भावनाओं के विकास को छूट मिली। मध्यकाल की मन.स्थिति ने मध्य-कालीनतावाद के सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में रामचरितमानस को पा लिया, जिसकी आज इसके सिवा कोई प्रासंगिकता नही कि हम मानस के माध्यम से उस युग के सांस्कृतिक

संघर्ष एवं समझौतों को समझें। चूंकि कलिकाल के रूप मे तुलसी अपने मुगलकालीन सामाजिकार्थिक यथार्थ की पक्की समझ बना सके, इसीलिए इन समझौतों तथा संघर्षों का अत्यन्त कुशलता एव चतुराई से सुन्दर काव्यात्मक चित्र भी लोकभाषा के माध्यम से अभिव्यक्त कर सके।

सामाजिक दु:खों के अन्त का स्वप्न प्रतीकात्मक आधार पर तुलसी ने देखा। भव-प्रवाह में तुलसी बिल्कुल नही उलझना चाहते थे, ऐसी बात नही। बल्कि इस में उलझ कर ही वह मणिमाणिक्य के रूप में राम को पा सके। जिस प्रकार आँखों में सिद्धांजन लगाकर साधक धरती के नीचे गड़े हुए भंडार देख लेते है, राम के मिथक के माध्यम से तुलसी ने अपने समय की दुनिया के अन्धकार को देखा—

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोप दुख भव-रजनी के ।।
सूझहिं रामचरित मनिमानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ।।

समकालीन कलि भावनाओं का यथार्थ एवं यूटोपिया दोनों रूप तुलसी ने प्रस्तुत किये। जगत् की माया को पाखंड समझा तथा राम की माया को यूतोपिया की ओर बढाने के लिए जादुई घटनाओं का सहारा लिया। माया की समग्र अवधारणा की पृष्ठ-भूमि में इस के यथार्थ एवं आदर्श—दोनों ही रूप थे। 'गो-गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब जानहु माया भाई' के माध्यम से उनका कथ्य यही था कि इन्द्रियों के प्रतीकार्थ में समकालीन जीवन-दृश्य (चक्षु), अफवाहों एवं झूठे बचनों का प्रवाह (कर्ण), भौतिक-जगत् की मुगलकालीन सुविधाएँ (स्पर्श), मांसाहारी पदार्थ (जिह्वा) तथा कामविकृति (यौन)—ये सारी स्थितियाँ भारतीय मनुष्य को भीतर से कमजोर बना रही हैं। इन्द्रियों के समकालीन कार्य भारतीयता की अवधारणाओं को खडित कर रहे थे, इस लिए उन्होंने सामाजिक रुचि-बोध को मौलिक रूप से परिवर्तित करने के उद्देश्य से इन इन्द्रियों का विरोध किया, ताकि मनुष्य अपनी जीवन-दशा सुधार सके। समस्त इन्द्रियाँ मन से जुड़ी होती हैं। अत: प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान इन्द्रियों के ज्ञान के रूप मे समझा गया था। इसमें रचनात्मक प्रयोगशीलता से न जोड़ कर आत्मध्यान से जोड़ने की प्रवृत्ति मिलती है। इन्द्रियों-सम्बन्धी प्रतिनिध भारतीय दृष्टि मे वैज्ञानिकता का अभाव इसी वजह से मिलता है, क्योकि इसे सामाजिक प्रासंगिकता की दृष्टि से निरपेक्ष हो कर सोचा-समझा गया। इसी लिए हमारा इन्द्रिय-दर्शन अधूरा रहा। इन्द्रियातीत होने की बात इसलिए की गयी कि विपय चाहे यौन के हों अथवा चक्षु के, उन का उपभोग हमेशा गलत सन्दर्भों से तथा दृष्टि-हीन आधार पर हुआ। यह भारतीय मन का भटकाव है, जिसका अपने दायरे में तुलसीदास ने विरोध किया। उन्होंने कहा कि विषय का प्रकाश इन्द्रियों से, इन्द्रियों का प्रकाश इन्द्रियों के देवताओं से, इन्द्रिय-देवताओं का प्रकाश चेतन जीवात्मा से होता है। मन की चेतनावस्था भटकावपूर्ण हो सकती है। दीन, विकृत और पराधीन भी हो सकती है। मुगलकालीन परिवेश में यह मन अधिक दीन, विवश एवं दमन के कारण विकृत होने लगा था। किन्तु भारतीय मन का सांस्कृतिक अचेतन प्राक्-इतिहास की शक्तियों के कारण अभी भी गतिशील एवं

आनन्दपूर्ण था। प्राक्-इतिहास के विकासशील सामाजिक मिथक थे—राम, कृष्ण एवं शिव। ये प्राक्-ऐतिहासिक इन अर्थों में हैं कि इनकी तथ्यात्मक घटनाओं एवं तिथि-काल-विवरण का कोई पता नहीं है एवं इस सामाजिक स्तर पर है कि इतिहास के काल में उन्होंने विकासशील सामाजिक मनःस्थितियों के प्रतीक-संगठनों को निरन्तर विकसित किया है। मुगलकाल में यह संगठन अपने युग के सन्दर्भ में विकसित हुआ है। सांस्कृतिक परम्परा से पोषित हो कर 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई।'की सामूहिक अचेतन-भूमि से वह समकालीन नरक के भूगोल को प्राक्-इतिहास का मिथक देते हैं। इन्द्रियों की चेतनावस्था पीड़ा में थी, मध्यकालीन दुर्दशाओं में भटकती हुई थी। इन्हें वह राम के रूप में सांस्कृतिक अचेतन की शक्ति से इस तरह बदल देना चाहते थे ताकि दुर्दशाएँ मिट जायें, नरक का यथार्थ स्वर्ग के यूतोपिया में परिवर्तित हो जाये। मनुष्य गुलाम बन कर जीते हुए भी अपनी गुलामी का बोध तब तक नहीं कर सकता, जब तक वह अपनी स्वतन्त्रता के पुराने इतिहास को नहीं जान लेता। तुलसी मध्यकालीन इन्द्रियों की चेतन जीवात्मा को राम का मिथक्-इतिहास देना चाहते थे। अपने युग की शब्दावली में इसे तुलसी ने हरिकीरति, हरि यश गाथा, राम-सुयश, रामचरित इत्यादि कहा है। वस्तुतः यह राम का मिथक इतिहास है, जो रामचरितमानस के रूप में इसलिए लिखा गया कि मध्यकालीन मनुष्य समझ सकें कि रावण, सूर्पनखा, स्वर्णमृग कौन है, सीता क्या है, कैकेयी कौन है, भरत-लक्ष्मण कौन हैं, रामराज्य क्या है, और अन्ततः राम का नाम क्या है? जड़ मध्यकालीन दिमाग को राम का नाम देने का अर्थ उसे किसी मूर्ति से बाँध देने का नहीं, बल्कि सगुण समझ के द्वारा धीरे-धीरे राम के मिथक के मर्म को समझाने का है। स्पष्ट ही यहाँ मध्यकालीनतावाद का वह दरवाजा भी खुल गया, जहाँ राम को शब्द (भाषा) के स्तर पर रटते हुए मनुष्येतर अन्धास्था एवं आध्यात्मिकता की ओर बढ़ते है, मिथक फिसल जाता है। राम का नाम तीर्थ नहीं, तीर्थ का दरवाज़ा है। मध्यकालीन जप-पूजा-पाठ इसी दरवाज़े पर बँध गया, घाट पर ही अवरुद्ध रह गया, लक्षण में ही अटक गया। यह चेतना की गहन मिथकीय कथाओं तक नहीं जा सका। गहराई में उतर कर सांस्कृतिक अचेतन के सृजनात्मक द्वन्द्वों को नहीं पहचान पाया। स्वतन्त्रता की मौलिक खोजों की ओर नहीं बढ़ सका। अधिक-से-अधिक इस ने हिन्दू के चेतन-धरातल को पारलौकिक खुशहाली का स्वप्न दिया। मुगलकालीन परिस्थितियों से बँधी इन्द्रियों को तुलसी ने राम के प्रकाशनाधीन कर दिया था—

> विषय, करन-सुर, जीव-समेता। सकल एक तें एक सचेता।
> सब कर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवध पति सोई।
> जगत प्रकास्य प्रकाशक रामू। मायाधीस ज्ञान-गुन-धामू।

इन्द्रियों के परम प्रकाशक अनादि, ब्रह्म, अयोध्यापति राम के होने से इन्द्रियों को एक आध्यात्मिक जीवन-दर्शन की प्रतिबद्धता मिल जाती है, जिससे वे भटक नहीं पायेंगी, क्योंकि ये राम के आधीन हैं। राम का भक्त कभी भी भटकाव, दुःखों, विवशा-

ताओं से ग्रस्त नहीं हो सकेगा। मनस्तात्त्विक दृष्टि से भी रामचरितमानस के पात्रों में मानसिक तथा सामाजिक अवस्थाओं का सामूहिक प्रतिनिधान पा सकते है। राम आदर्श तथा उत्कृष्टता से संयुक्त नैतिक मन के प्रतीक है। जीवन के प्रति उनकी दृष्टि मे अचेतन की धार्मिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया का प्रकाश मिलता है। इसी प्रकार रावण असद्‌वृत्तियों तथा काली छायाओं (दानव) की मूर्ति है। ये ऐसे आद्य बिम्ब है जिन से मनुष्य संत्रस्त रहता है। राम इस मूर्ति का भंजन करते हैं तथा इरास से समन्वित नैतिक मन विजयी हो जाता है। इन पात्रों की पृष्ठभूमि मे समकालीन यथार्थ के अनुभवों के साथ सामूहिक भाव-प्रतिमाओं की सांस्कृतिक इतिहास चेतना भी है। यह मूर्ति-भंजन इतिहास के हर मोड़ पर संस्कृति की इच्छा के फलस्वरूप होता रहता है। तुलसीदास ने चेष्टा की कि लोकभावना का इस मिथक के माध्यम से मध्यकालीनीकरण हो सके।

तुलसी राजा को ईश्वर का अंश मानते थे, वह नियतिवादी थे, वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे, रामभक्ति को ही दु:खों के लिए अमोघ औषधि मानते थे, उन्होंने शूद्रो एवं नारियों की निन्दा की, राजतन्त्र में उन का विश्वास था, वह सामन्तवाद के बुर्जुआ कवि थे—ये आलोचनाएँ मध्यकालीनतावाद के सरलीकरण के साथ, उस समय की सामाजिकार्थिक अवस्था को समझने से इन्कार करती है। राजनीतिक शासन-व्यवस्था के यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए बालकाड मे उन्होने कहा, '**नहिं कोइ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं।**' उत्तरकांड में कलिकाल का मर्मस्पर्शी वर्णन करते हुए वह कहते है—'**कलि बारहिं बार दुकाल परं। बिन अन्न दुखी सब लोक मरं।**' इस तरह के यथार्थों की अभिव्यक्ति उन्होने जीवन की एक व्यवस्था-पद्धति को नकारने के लिए की है। यह संस्कृति द्वारा सत्ता से विरोध है। इस नकार अथवा विरोध मे तुलसी की दृष्टि निखरी है, लेकिन जहाँ उन्होंने धार्मिकता के दरवाजे से मध्यकालीन पूजा-पाठ की तैयारी शुरू कर दी है वहाँ वह धार्मिक परम्परा के समृद्ध कवि के रूप में सामने आते हैं। उस समय कविता और धर्म यद्यपि बिल्कुल मिले-जुले थे, लेकिन धर्मशास्त्र बनने से रोकते हुए तुलसी जब-जब कविता के प्रति अधिक सचेत हुए है, उन्होंने राम को यथार्थ के धरातल पर ग्रहण किया है, जब वह धर्म के प्रति अधिक सचेत हुए है, उन की दृष्टि आध्यात्मिक यूतोपिया की ओर बढ़ गयी है। ये चीजें कितनी घुली-मिली रहती है, इसे प्रस्तुत दृष्टान्त से समझ सकते है—

बारे ते ललात, बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हौ चारि फल चारि ही चनक को।

पहली पंक्ति मुगल शासन की पीडा को सीधे-सादे ढंग से कह देती है, दूसरी पंक्ति में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के चार फलों में भी तुलसी की दृष्टि धर्म एवं मोक्ष से अधिक जुड़ी रही, ऐसा स्पष्ट आभास मिल जाता है। भवसागर को समझते हुए भी उन की दृष्टि आंशिक रूप से इस की लहरों से उलझने एवं अधिकांशत: इसे राम-नाम के सहारे पार करने की रही है। '**भवबन्धन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम।**' राम का

नाम संसार से मुक्त होने के लिए है। नाम की यह भाषा मनुष्य को वास्तविक तकलीफ से निकाल कर धार्मिक यूतोपिया मे ले जाने की है। यहाँ मोक्ष है—आध्यात्मिक मुक्ति। सामाजिकार्थिक मोक्ष नहीं।

कर्मयोग शास्त्र के 'स्त्रियो वैश्यास्तया शूद्रा: येऽपि स्युः पापयोनय.' की अवधारणा पर तुलसीदास ने स्त्रियों, वैश्यों, शूद्रों को क्षुद्र कहा। इस के कारण अस्पृश्यता के विचार जन्म लेते है। नही तो क्या कारण है कि वास्तविक समाज में राम के वे ही भक्त पिछले चार सौ वर्षों से उन दलितो के प्रति ओछी दृष्टि रखते आये है, जिन्हें राम ने गले लगाया ? राम ही इनका स्पर्श कर सकते हैं, जूठे वेर भी खा सकते हैं, वे तो देवता है, साधारण आदमी भला ऐसा किस प्रकार कर सकता है—ऐसी भावना बनी। परमब्रह्म, निर्गुण-सगुण भगवान राम को सामान्य मानवीय रूप में दिखाकर भी तुलसी ने अनजाने ही उन्हे मनुष्य से और अधिक दूर कर दिया था। इससे राम की मानवीयता नही बढ कर, उन का देवत्व ही वढ़ा था। इसी कारण राम गतिशील रूप मे भीतर ग्रहण नही किये गये। सामने मूर्ति अथवा कैलेंडर रख कर पूजे जाने लगे। भारतीय मन के भीतर इनके मिथक का विकास नही हुआ, बल्कि मध्यकालीनतावाद के आयामों में इनकी मूर्ति एवं कथा की जनप्रियता बढी। ये रूढ़ि बन गये, धार्मिक कथा में ढल गये। लोगो ने कविता को धर्मशास्त्र बना कर पढ़ा, इसलिए उन्हे धार्मिक कथा मिली तथा वे भक्ति-भजन एव रामलीला के आयोजनों में लग गये। इसने भारतीय दिमाग मे अफीम का-सा असर पैदा किया और साधारण जन इसके माध्यम से अपने दुःखों को भूलने लगे। सामाजिकार्थिक परिवर्तन दुःखों को भूलने से नहीं, इसे पूरा महसूस करने एवं इसके कारणों की सक्रिय खोज करने से आता है। भारतीय जड़ता एवं दुरावस्था का कारण धार्मिक कथाओं की ऐसी ही औषधियाँ हैं, जो वस्तुस्थिति को समझने से रोकती हैं तथा सांस्कृतिक जडता को अवकाश देती है।

उत्तरकाड में तुलसी ने कलियुग के घोर पापों का चित्रण अपने समय के भीतर खड़ा हो कर किया है। उन की दृष्टि हमेशा द्विज पुरुष की रही है। नारी को शूद्र एवं वैश्यों की भाँति ताड़न का अधिकारी उन्होंने वहाँ कहा है जहाँ यह माया के रूप में आती है, लेकिन नारी माया के रूप में नही आ कर भी, कहाँ नारीत्व के गुणों से संयुक्त रहती है, यह तुलसी यथार्थ के आधार पर नही दिखा सके हैं। बड़े-बड़े ज्ञानी-मुनि मृगनयनी का चन्द्रमुख देखकर अगर अपनी सुध-बुध खो देते हैं, तो यह नारी का दोष है या ज्ञानी-मुनियों का आत्मस्खलन है ? 'नारि विष्णु-माया प्रगट' तथा 'मोह न नारि नारि के रूपा' के रूप में नारी को भक्ति की प्रतिस्पर्धी के रूप मे देखना तुलसी की ज्यादती है। मध्यकाल में नारी वैसे ही दवाई हुई थी तथा वह कोई माया-चक्र चलाने में सक्षम थी, यह नही माना जा सकता। वस्तुतः तुलसी जहाँ निजी विचारों के आधार पर धर्मशास्त्र अथवा रीतिशास्त्र की रचना करने लग जाते हैं, वहाँ भी कविता मरने लगती है।

तुलसी की दृष्टि जहाँ अवरुद्ध हो जाती थी, वहाँ वह राम की माया तथा

समझौतावाद का नैतिकीकरण कर डालते थे। सारी समस्याओं को उन्होंने राम की माया एवं समझौतावाद से मिटाया है। राम की इस तरह की भक्ति ने हिन्दू चेतना में आस्था तो पैदा की, लेकिन शोषण-विरोधी संघर्ष दीर्घकाल के लिए टाल दिया। अतः तुलसी निरन्तर संघर्षों के कवि न होकर पक्षपातपूर्ण समझौतों के कवि हैं। उनका एक बड़ा कार्य नगरों तथा गाँवों को मिलाने का रहा है। रावण की औद्योगिक-साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध आदिवासियों तथा द्वितीय श्रेणी के नरों को लेकर जो युद्ध हुआ, उसका मिथक मध्यकाल में नही बना, बल्कि बहुत पहले बना, जब भारतीय इतिहास के किसी अज्ञात पृष्ठ पर दबाये हुए लोगों ने सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया होगा। तुलसी के मन मे यही प्रसंग द्विज हिन्दुओं को द्वितीय श्रेणी की नागरिकता मिलने पर राम के नेतृत्व मे एक जनक्रान्ति के रूप मे उभरकर आया। राजा राम किस सामाजिक व्यवस्था के प्रतीक है तथा वनवासी राम किस ऐतिहासिक संघर्ष से उपजे हैं-—इस अन्तर को हमे मिथक के भीतर ही कार्यरत दो शक्तियों के रूप में देखना होगा। वह युग अभी ऐसा नही था, जब दोनों शक्तियों को वर्गीय आधार पर एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने की भावना विकसित होती। इसीलिए तुलसी मे एक राम नही होकर, अगर राम-समुदाय के होने की बात की जा रही है, तो यह तुलसी को सांस्कृतिक समझौतों के मध्यकालीन कवि के रूप में समझने की कोशिश है। अपनी परम्पराओं को दुहकर तुलसी ने धर्मशास्त्र एवं मिथक से समन्वित कविता दी, जो उस समय की सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थितियो को स्पष्ट करती है। तुलसी की इतिहास-दृष्टि उस समय कुछ प्रगतिशील थी, लेकिन आज के सन्दर्भ मे इसकी कोई प्रासंगिकता नही है। वस्तुतः रामचरितमानस मध्यकालीनतावाद का एक विशाल सन्दर्भ-ग्रन्थ है।

□

भारतेन्दु की सामाजिक दृष्टि

भारतेन्दु की मृत्यु के करीब तीन वर्षों के बाद 'इण्डियन मैगजिन' (जनवरी १८८८) में छपा था—'हरिश्चन्द्र से बढ़कर अँग्रेजी राज्य का कोई दूसरा शुभचिन्तक नहीं था।' १८७१ में उन्होंने प्रिन्स आफ वेल्स की बीमारी पर कविता लिखी थी—'हम हैं भारत की प्रजा, सब विधिहीन मलीन। तुम सों यह विनती करत, दया करहू लखि दीन।' ऐसे भारतेन्दु में कौन-सी बात थी, जिसके आधार पर हम उनकी राष्ट्रीयतावादी सामाजिक भूमिका का विश्लेषण कर सकते हैं? समाज में परिवर्तन लाने के पीछे उनकी कौन-सी आकांक्षाएँ थीं? क्या ये आकांक्षाएँ उनकी राजभक्ति को मजबूत करती थीं? इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु की कविताओं में हम जिस नव-भक्तिकाल का उभार पाते हैं, उसकी पृष्ठभूमि में सिपाही-विद्रोह की विफलताएँ थीं।

तत्कालीन भारतीय समाज में हताशा और दीनता छाई हुई थी। विभिन्न मुस्लिम आक्रमणकारियों की विजयों के फलस्वरूप भक्तिकाल के निराशापूर्ण वातावरण की भाँति। 'भक्त सर्वस्व,' 'प्रेम तालिका,' 'गीत-गोविन्दानन्द,' 'प्रेम माधुरी,' 'कृष्ण चरित' तथा उनकी बहुत-सी फुटकल काव्य-रचनाओं में हम नायक-नायिकाओं की विलासितापूर्ण शृंगारिक भावनाओं का अभाव तो पाएँगे, लेकिन इनमें किसी वैष्णव भक्त की आध्यात्मिक चेतना कूट-कूटकर भरी हुई मिलेगी। पर इनमें वैसी विह्वलता और मधुरता का अभाव है, जैसी भक्तिकालीन कविताओं में थी। उन्होंने प्रेम कविताएँ भी लिखीं। इससे हम अन्दाजा लगा सकते हैं कि भारतेन्दु की काव्य-चेतना उनके यथार्थबोध में बाधक थी। गद्य-रचनाओं के माध्यम से उन्होंने वास्तविकता और बौद्धिकता के संसार से परिचय प्राप्त किया। लेकिन एक महत्वपूर्ण काम उन्होंने यह किया कि क्षयशील रीतिकालीन कविताओं का प्रवाह रोक दिया। शृंगारिक कविताओं का पतन सामन्ती दरबारों की जर्जरता के साथ ही शुरू हो गया था क्योंकि अँग्रेजों के शासन में राजाओं की सामन्ती भोग-विलासिता पर भी बाधाएँ उपस्थित थीं। लेकिन भारतेन्दु ने पतनशील सामन्तवाद के महल में लगी हुई आग थोड़ी और तेज कर दी। खुद अपना ही घर लुटाने लगे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र दोनों हाथ से खर्च कर रहे थे। एक ओर साहित्यिक पत्रिकाओं के प्रकाशन में रुपये लग रहे थे। दूसरी ओर दीन-दुखियों की सहायता में। तीसरी ओर देशहित के कामों में चन्दास्वरूप। चौथी ओर धार्मिक कार्यों में और पाँचवीं ओर वेश्याओं तथा कोठेवालियों के साथ में। घर के शुभचिन्तकों ने काफी समझाया। काशी-

नरेश तक खबर गई। उन्होंने इनसे कहा—'बबुआ, घर को देखकर काम करो।' इस पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने निर्भीकता से जवाब दिया था—'हुजूर, इस धन ने मेरे पूर्वजों को खाया है, अब मैं इसे खाऊँगा।' यह कथन कितनी पीड़ा और क्रोध से भरा हुआ था, हम लोग सहज ही समझ सकते हैं। वस्तुतः वे सामन्तवाद की जड़ खोदने में लगे हुए थे। इस सामन्तवाद ने भारतीय समाज-व्यवस्था में रूढ़ियाँ, अन्धविश्वास, शोषण और जड़ता भर दी थी। इन्ही कारणों से हमारा देश गुलाम हुआ था। अत. राजनीतिक स्तर पर अगर उपनिवेशवाद से लड़ना हो, तो अपने जड़ समाज को गतिशील और जागरूक बनाना होगा—भारतेन्दु के सोच का केन्द्रबिन्दु यही था।

गाँव-गाँव घूमकर अपने भाषणों के द्वारा अथवा 'कवि-वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' इत्यादि पत्रिकाओं के माध्यम से वे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तीव्र करना चाहते थे। उनका कहना था--'बहुत-सी बातें जो समाज-विरुद्ध मानी है, किन्तु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है, उनको चलाइए, जैसे जहाज का सफर, विधवा-विवाह आदि।···लडकों को छोटेपन ही में ब्याह कर उनका बल-वीर्य आयुष्य सबमत घटाइए।··· कुलीन प्रथा, बहु-विवाह आदि को दूर कीजिए। लडकियों को भी पढ़ाइए।···सब लोग आपस में मिलिए।' भारतेन्दु की राष्ट्रीय एकता की भावना सामाजिक परिवर्त्तन की चेतना के साथ-साथ चल रही थी। उन्होंने अपने जीवन में भी उपरोक्त सारी बातें उतारी। विरोध के बावजूद अपनी पुत्री को शिक्षा दी। सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में घर-घर घूमकर नई शिक्षा और नई चेतना का प्रसार किया। स्कूल खोला। यात्राएँ की। कमरे में बन्द होकर सिर्फ लिखते नहीं रहे। फिर भी ३४ वर्ष की छोटी उम्र में उन्होने इतना लिखा, कि हरेक को आश्चर्य होता है।

भारतीय समाज की जडता को तोड़ने के लिए तात्कालिक रूप से वे अँग्रेजों के माध्यम से पहुँच रही पश्चिमी संस्कृति का एक गुणात्मक महत्व स्वीकार करते थे। लेकिन वे इसका अन्धानुकरण नहीं चाहते। 'नीलदेवी' में भारत की नारी के स्वत्व की तलाश की गई है। वे इस रीतिकालीन मान्यता को पलट देना चाहते थे कि नारी सिर्फ भोगने की वस्तु होती है। इस नाटक में उन्होंने लिखा है—'यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न मे भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती-समूह की भाँति हमारी कुल-लक्ष्मीगण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें, किन्तु और बातों में जिस भाँति—अँग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का कामकाज सम्भालती है, अपने सन्तानगण को शिक्षा देती है, अपना स्वत्व समझती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती है ये भी आगे बढ़ें। किसी समाज मे नारी की स्थिति में परिवर्त्तन का अर्थ होता है एक बड़ा राजनीतिक परिवर्तन। हजारों वर्षों से सबसे अधिक जुल्म की शिकार औरत हुई है, गरीब से गरीब कौम मे भी। भारतीय महिला की वास्तविक आत्मपहचान की लड़ाई अभी जारी है। अतः इस युग मे भारतेन्दु ने निःसन्देह एक प्रगतिशील, बल्कि कहना चाहिए उग्र सामाजिक भूमिका निभाई थी।

उस युग की पृष्ठभूमि में विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों का सूत्रपात हो चुका था, जिसका साहित्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। लेकिन पाश्चात्य संस्कृति के एक बड़े हिमायती राममोहन राय और अँग्रेजी राज के एक बड़े भक्त शिवप्रसाद सितारे हिन्द के विचारों से भारतेन्दु का अलगाव बहुत स्पष्ट है। दोनों ही राजा थे। सरकार ने शिवप्रसाद को सितारेहिन्द की उपाधि दी थी। हरिश्चन्द्र सरकारी खिताबों के लिए कभी लालायित न रहे पर उन्हें जनता की ओर से 'भारतेन्दु' कहा गया। पण्डित रघुनाथ द्वारा पहले-पहल यह नाम उन्हें नाराजगी में दिया गया था। उन्हें चाँद इसलिए कहा गया कि इसमें कलंक होता है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र वेश्यागमन करते थे और बड़ों की गलत बातों का विरोध भी। लेकिन इनका वेश्यागमन एक विशेष वैयक्तिक मूड की बात थी।

राममोहन राय एक ऐसी शिक्षा-पद्धति पर जोर दे रहे थे, जिसका उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना था, जो रक्त और वर्ण से भारतीय हों, पर विचार से अँग्रेज। शिवप्रसाद सितारेहिन्द सामन्ती खयालातों के थे, सदैव अँग्रेजी सत्ता का पक्ष लेते थे और व्यक्तिगत उन्नति को प्रधान समझते थे। वे हिन्दी का एक और अहित कर रहे थे, इसे अरबी-फारसी के शब्दों से बोझिल करके। वे ऐसी पाठ्यपुस्तकें लिख रहे थे, जिनमें भारत की सामाजिक आत्मा का कोई पता-ठिकाना नहीं था। दूसरी ओर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' कहते हुए गद्य-साहित्य में सामन्ती जड़ता के स्थान पर आधुनिक चेतना पैदा कर रहे थे। वे जनता के पक्ष में खड़े थे और इसके लिए लिख रहे थे। वे देश और जाति को ही प्रधान मानते थे। राजा राममोहन राय से भिन्न वे शिक्षा को राष्ट्रीय चेतना के विकास तथा अँग्रेजी उपनिवेशवाद के उन्मूलन का हथियार समझते थे। ब्रजरत्न दास ने लिखा है—'उन्होंने हमारी भाषा को सामयिक लेख और कविता के चाल चलाई, स्वदेशानुराग उत्पन्न किया।' शिवप्रसाद सितारे हिन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बीच का झगड़ा व्यक्तिगत नहीं था और यह झगड़ा जितना बढ़ता था, भारतेन्दु पर अँग्रेज सरकार का कोप भी घनीभूत होता जाता था। पाश्चात्य संस्कृति के सम्बन्ध में भारतेन्दु का नजरिया बिल्कुल अलग और मौलिक था।

भारतेन्दु के रचना-काल में अँग्रेजी का आपातकाल लगा हुआ था। प्रेस पर प्रतिबन्ध था। अँग्रेज सरकार की दमन-नीति तेज हो गई थी, क्योंकि १८५७ के सिपाही-विद्रोह से इसने सबक लिया था। दूसरी ओर इस विद्रोह की असफलता से पूरा जनमानस व्यथित था। अँग्रेजों द्वारा भारतीय जनता का गहरा आर्थिक शोषण हो रहा था। मैनचेस्टर के कारखानों के लिए भारतीय रुई विदेश जा रही थी। जुलाहों का रोजगार छिन्न-भिन्न हो गया था। १८१५ तक अँग्रेजों द्वारा १५ लाख रुपयों की लूट हो चुकी थी। १८७० में बंगाल का भयानक दुर्भिक्ष फैला था। महामारी फैली थी। भारत में अँग्रेज आर्थिक लूट के ही लिये आये थे, यहाँ के मनोहर प्राकृतिक स्थलों पर हवाखोरी के लिए नहीं! अतः जैसे-जैसे लूट बढ़ रही थी, भारतीय जनता की आर्थिक

दुरावस्था गहरी होती जा रही थी और बढ़ती हुई बेचैनी को रोकने के लिए दमनचक्र और न्याय-व्यवस्था भी कठोर हो रही थी। 'नये जमाने की मुकरी' में उन्होंने इस दमन शोषण और आर्थिक खोखलेपन का खुलासा कर दिया है—

> भीतर-भीतर सब रस चूसै
> हँसि-हँसि कै तन-मन-धन मूसै
> जाहिर बातन मे अति तेज
> क्यों सखि सज्जन नहिं अँगरेज

आध्यात्मिक कविताओं मे भिन्न इन मुकरियों तथा 'बन्दरसभा' शीर्षक लम्बी कविता में सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों का वस्तुवादी विश्लेषण मिलता है। सम्भवत: लम्बी कविताओं का प्रारम्भ भी भारतेन्दु से ही होता है। मुकरियों में अलग खिचड़ी पकाने वाली अँग्रेजी, दृष्टिविहीन और भूखे शिक्षित वर्ग, बढती हुई चुंगी, स्वार्थी नौकरशाह वर्ग, पुलिस के भ्रष्टाचार, कानून का फन्दा, सिफारिशों से प्राप्त खिताब, मनुष्य को खराब कर्मों की ओर प्रेरित करनेवाली शराब और शोषक-शासक अँग्रेज वर्ग पर उन्होंने तीखा व्यंग्य किया है। दयानिधान ईश्वरचंद्र विद्यासागर की प्रशंसा की है। रेल, अखबार, छापाखाना और पानी के जहाज के सन्दर्भ मे भी भारतेन्दु ने अपना उल्लास प्रकट किया है। अँगरेज राज के ये ही सुख है। लेकिन 'पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।'

'विषस्य विषमौषधम' में वे देशी राजाओं-सामन्तो की दुर्बलताओं और इनके खोखलेपन को चित्रित करते है। उन्हे प्रसन्नता होती है कि 'वे (अँग्रेज) आज स्वतन्त्र राजाओं को दूध की मक्खी बना देते है।' उनकी दृष्टि की यह कमजोरी है कि वे देख नही पाते कि क्षयशील सामन्तवाद अँग्रेजी शासन-व्यवस्था की शरण में जाकर पुन: शक्तिवान हो रहा है। अँग्रेज भारत का शोषण इस खोखले सामन्तवाद की मरम्मत करके, इसकी आड़ मे ही कर सकते थे।

'भारत-दुर्दशा' मे उन्होंने रूपकात्मक पद्धति से भारतदुर्देव का जो स्वरूप उपस्थित किया, वह आधा अँग्रेज और आधा मुसलमान का है। यहाँ भी उनके मन में यह पूर्वाग्रह काम कर रहा था कि मुस्लिम शासक हिन्दुओं पर जो साम्प्रदायिक जुल्म ढा रहे थे, अँग्रेजों के आने से वह कम हुआ है। लेकिन अँग्रेजों के आने के बाद हिन्दुओं पर जुल्म कभी कम नही हुआ। जुल्म का दायरा बढ गया। यह व्यापक समाज पर होने लगा, जिसमे मुसलमान भी आते थे। भारतेन्दु के मन पर मुस्लिम शासक वर्ग के अत्याचारों ने खौफ उत्पन्न कर दिया था। वे अँग्रेजों के शोषण और दमन को शासक वर्ग के चरित्र के रूप में विश्लेषित कर रहे थे, पर मुस्लिम शासकों के शोषण और दमन को साम्प्रदायिक जामा पहना रहे थे। फिर भी यहाँ वे स्पष्ट थे कि भारत की वर्तमान स्थिति दुर्दशा से भरी हुई है। रोग, आलस्य, मदिरा और अन्धकार छाया हुआ है। विद्या का सूर्य दमन की अन्तहीन काली रात मे बदल रहा है। एक पात्र-कवि हाथो

मे चूड़ियां पहनकर उँगली चमकाकर शत्रुओं मे लड़ने के नाम पर कहना है—'मुए इधर न आइयो, इधर जनाने है।' सम्पादक या बाकी लोग मौखिक गोला-बारूद दाग रहे है या सिर्फ कमेटी बना रहे है अर्थात एक व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन अनुपस्थि है, तभी भारत आत्महत्या करता है। बोलने की आजादी छिन जाने के बाद नैरा और गहरा हो जाता है। तीसरे अंक से ही भारतेन्दु की समझ साफ और यथार्थवादी गई थी। भारतदुर्दैव सिर्फ अंग्रेजी शासन का प्रतीक बन जाता है। वह अपने संवाद कहता है—'कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं। हहा हहा! एक चने से भा फोड़ेंगे! ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी मे पकड़ो और ऐसे लोगो को हर तरह से खारिज करके, जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो, उसको उतना बड़ा मैडल और खिताब दो।' तानाशाही शासन का यह सच्चा चित्र बहुत प्रासंगिक है। 'भारतदुर्दशा' जनसंघर्षों के स्थान पर खण्डित जन-जागरण का नाटक है। यह हिन्दी का पहला त्रासदी नाटक भी है।

एक अन्य रूपकात्मक नाटक 'भारत जननी' में राष्ट्रीय एकता एवं संघर्ष की किरणें दिखाई पड़ती है। 'भारत-दुर्दशा' का विषाद इसमें खत्म नहीं हुआ है, पर एक आशा पैदा होती है। प्रतीकात्मक रूप मे भारतेन्दु ने 'अंधेरी नगरी' में अंग्रेजी शासन की सामंतवादी व्यवस्था पर व्यंग्यपूर्ण चोट की है। इसमें उन्होंने कहा कि 'चना हाकिम सब जो खाते, सब पर दूना टिकस लगाते।' यह अंग्रेजों की उस लूट पर चोट है जो सामंती राजाओं की आड़ मे चल रही है। न्याय, प्रशासनिक भ्रष्टाचार और जातिवाद पर भी उन्होने करारा व्यंग्य किया। फूट और बैर को हिन्दुस्तानी मेवा बतलाकर उन्होंने राष्ट्रीय एकता के बाधक तत्वों को दूर करने की ओर भी संकेत दिया। इस प्रहसन का शिल्प लोकनाट्य रूप से प्रभावित है, इसलिए आज भी ताजा है। भारतेन्दु अंग्रेजी उपनिवेशवाद का विरोध न करके सामाजिकार्थिक दुरावस्था के रूप में विरोध करना चाह रहे थे। सीधे विरोध करने से इन नाटकों का खेला जाना संभव नही था। दूसरी बात यह है कि बिना सामाजिक जागरण के राष्ट्रीय जागरण मे व्यापकता नही आ सकती थी। स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन की चेष्टा के पीछे भारतेन्दु की राष्ट्रीय आकाक्षाएं क्या थी अथवा समय-समय पर उन्होंने अंग्रेजी शासन की प्रशसा की, तो उसका क्या उद्देश्य था।

फिर भी भारतेन्दु के इरादे छुपे नही रह सके। उनकी बढ़ती हुई लोकप्रियता से जलकर कुछ लोगो ने सरकारी तबके में शिकायत की कि भारतेन्दु राजद्रोही हैं। निश्चय ही यह शिकायत राजाओ और सामंतों ने की, क्योंकि भारतेन्दु का सपना था कि इनके द्वारा स्थापित शोषणमूलक व्यवस्था का अन्त हो जाए तथा समाज मे नये मूल्य स्थापित हों। इसलिए वे संघर्ष कर रहे थे। 'कवि-वचन सुधा' के कई लेखों के बारे मे कहा गया कि इनमे छोटे लाट सर विलियम म्योर की खबर ली गई है। सरकारी सहायता बंद हो गई। हरिश्चंद्र की चलाई दो मासिक पत्रिकाओं की खरीद बंद हो गई। उन्होने सम्मानसूचक अवैतनिक जज का पद भी त्याग दिया। हिन्दी की उन्नति मे

उनका दत्तचित्त होना वस्तुतः राष्ट्रीय-सामाजिक संघर्ष को ही तीव्र करना था। उनके जीवनकाल में लाजरस साहब ने उनके बारे में लिखा था—'वह कभी-कभी व्यंग्य लेख लिख देते थे। दुर्भाग्य से ऐसे ही लेख से तत्कालीन हाकिम इन पर क्रुद्ध हो गए और यह कोप-दृष्टि अब तक उन पर बनी है।' वस्तुतः कलम का उठना ही लेखक से अपनी कीमत मागता है।

भारतेन्दु का नाटक विधा चुनना साहित्य के क्षेत्र मे एक क्रांतिकारी कदम था। नाटक एक ऐसी विधा है, जिसके द्वारा साहित्य का जनता से सीधा संबंध जुड़ता है। यह एक गैर-अभिजात विधा है। जिस साहित्यकार में राजनीतिक चेतना प्रखर होती है, वह नाटक को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है ताकि व्यापक समाज तक अपनी बात पहुंचाकर वह जनसंघर्षों मे अपनी अधिकतम हिस्सेदारी निभा सके। एक दूसरा रास्ता है, साहित्य की बातें गाव-गाव, क्षेत्र-क्षेत्र, कस्बा-कस्बा घूमकर लोगों तक पहुंचाना। भारतेन्दु दोनों राह पर चले। उन्होंने गद्य को आधुनिक दिशा दी तथा इसे जनोन्मुख किया। अमीचंद के वणिक खानदान मे एक सामंती मिजाज के परिवार से आकर भी उन्होंने धीरे-धीरे अपने को वर्गच्युत कर लिया था तथा साधारण जीवन के अभ्यासी हो गये थे। एक बार वे पटना गये जब वे बाबू रामदीन सिंह के घर पर पहुंचे, उस समय कुछ रात बाकी थी। नौकर ने फाटक खुलवाने के लिए बहुत आवाज दी, लेकिन पहरे के सिपाही ने नही खोला। इस पर भारतेन्दु दरवाजे के बाहर कोने में पड़ी थोडी सी जगह पर ही सो रहे। अगर उनके सामंती मिजाज होते, तो भले जागना पडता, पर इस तरह नही सोते। जीवन के शेष वर्षों मे उनके हाथ बिल्कुल खाली हो गये थे। इन जीवन-स्थितियों तथा परिवर्तनकारी सामाजिक दृष्टि का प्रभाव उनके नाट्यरूप पर भी पड़ा। भारतेन्दु के नाटक थोडा माजकर आज भी साधारण जनता के बीच खेले जा सकते हैं। आज इनकी प्रासंगिकता बनी हुई है, तो इसके मूल मे उनकी व्यापक सामाजिक दृष्टि है।

☐

प्रेमचंद के संघर्षशील पात्र

कथा-रचना के लिए हम किस तरह के चरित्र चुनते हैं तथा इन चरित्रों उभारने के लिए कैसे परिवेश की रचना करते हैं— यह बहुत कुछ इस पर निर्भर कर हैं कि कथाकार की दृष्टि और संवेदना का आधार क्या है। जब प्रेमचंद अपने समा और राष्ट्रीय जीवन की पहचान कर रहे थे, तो उनकी कलम मूल रूप से राजनीति आर्थिक समस्याओं पर तनी हुई थी। उनकी आंखों के सामने परिवार, व्यक्ति, सामाजि परिवेश, राजव्यवस्था की कई चीजें किन्हीं तथ्यों के रूप में नहीं, बल्कि चुनौतीमूलक समस्याओं के रूप में उभर रही थीं। जन-जीवन का राजनीतिक और सामाजिक यथार्थ उन्हें उद्वेलित कर रहा था। आम आदमी का शोषण और अपमान उनकी आंखों के सामने नाच रहा था। अपने महान् राष्ट्रीय जीवन के जो सुन्दर लक्ष्य वे देख रहे थे, इनके मार्ग में साम्राज्यवादी, सामंतवादी तथा महाजनी शक्तियों ने भयंकर बाधायें उपस्थित कर रखी थी। इन बाधाओं से जूझने की समस्या प्रेमचंद के सामने थी। एक पहाड़ अपने आप में कोई समस्या नहीं है। यह समस्या तब बनता है, जब किसी में, इसे पार करने की इच्छा और दृष्टि जगती है। भारतीय जनता अपनी विपत्तियों से मुक्ति के लिए जूझ रही थी। प्रेमचंद ने जूझने के इन्हीं भावों को कलात्मक रूप देकर अपने उन पात्रों की रचना की, जिनका अपना एक वर्गगत आधार भी था।

वर्ग-संघर्ष की दृष्टि होने के कारण ही प्रेमचंद ऐसे चरित्रों की रचना कर सके, जो अपने राजनीतिक और आर्थिक हकों के लिए मुखर होते हैं। मौजूदा स्थितियों से विक्षुब्ध होकर ये संघर्षशील जीवन जीते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि प्रेमचंद ने वर्गसंघर्ष के किसी कृत्रिम आधार को स्थापित न करके, भारत की समाज-व्यवस्था में इसके यथार्थ स्वरूप को प्रकट किया है। इसकी चेतना को जनोन्मुख वाणी प्रदान की है। तभी ये पात्र आत्मीय और विश्वसनीय बन सके हैं। बीसवीं शताब्दी के लगभग आधे हिस्से का भारतीय जनसंघर्ष प्रेमचंद के माध्यम से व्यापक साहित्यिक फलक प्राप्त करता है। यथार्थवादी वर्गदृष्टि के कारण प्रेमचंद के संघर्षशील पात्रों की प्रासंगिकता आज बनी हुई है तथा आज भी ये प्रेरणादायक हैं। संघर्षशील कथानायकों का चरित्र मन के इस विश्वास को मजबूत करता है कि परिवर्तन की राजनीति को आधार बनाये बिना साहित्य कभी भी व्यापक जनता तक नहीं पहुंच सकता। इसीलिए उन्होंने परिवर्तन के मुख्य केन्द्र गांवों के जीवन पर ध्यान दिया। जिस वक्त छायावाद की भाषा छायी हुई थी, उस समय राजनीतिक और आर्थिक जनमुक्ति का इतना स्पष्ट

सपना देखना प्रेमचंद के साहित्य को महान् बना देता है। अगर प्रेमचंद ऐसे संघर्षशील पात्रों की रचना कर सके, जो पाठकों के लिए अविस्मरणीय बन गये, तो इसके तीन मुख्य कारण थे।

एक—वे खुद गाँव, भूख और गरीबी के बीच से आये कथाकार थे। निजी जीवन मे भी उन्होंने काफी संघर्ष किया था, जिसमे सरकारी नौकरी से त्याग पत्र देना भी शामिल है। उन्होंने अलवर के महाराज के यहां व्यक्तिगत सचिव के रूप मे नौकरी करना अस्वीकार कर दिया था तथा रायसाहबी की उपाधि भी स्वीकार नही की, क्योंकि वे कहते थे—'जनता की रायसाहबी मिलेगी, तो सिर आखों पर। गवर्मेन्ट की रायसाहबी नही।' (प्रेमचंद घर में, पृष्ठ ११८) उनके बोलने और करने मे बहुत कम दूरी थी।

दो—तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्यवाद और संयुक्त सामंतवादी शक्तियों का नग्न दमनकारी रूप उभर आया था। कानून-व्यवस्था सूदखोर महाजनो के अनुकूल थी। जमीदार किसानों से जमकर लगान वसूलते थे। इससे किसान फटेहाली और भुखमरी की जिन्दगी जीते थे। सरकारी अत्याचार और भ्रष्टाचार तो ऊपर से था ही। नतीजतन शोषित कृषक वर्ग के प्रति उनके मन मे अथाह मानवीय संवेदना पैदा हो चुकी थी। साथ ही साम्राज्यवाद के मूल विरोध मे वे इसी कृषक-वर्ग को स्थापित करना चाहते थे, जबकि उस युग मे बहुतों का ध्यान मजदूर वर्ग के नेतृत्व की ओर अटका हुआ था या पूजीपति वर्ग के नेतृत्व की ओर। भारत मे यह पूंजीपति वर्ग स्वदेशी आदोलन की उपज था।

तीन—भारतेन्दु की जातीय वेदना तथा इससे प्रस्फुटित राष्ट्रीय यथार्थवाद की पृष्ठभूमि मे जिस प्रकार १८५७ का विद्रोह था, प्रेमचद के सामाजिक यथार्थवाद की पृष्ठभूमि में भारतीय जनता का स्वाधीनता-संघर्ष था। प्रेमचद की निगाहों मे स्वाधीनता-आदोलन का नक्शा न तो वैसा था, जैसा महात्मा गाधी देखते थे और न यह वैसा था जैसा मजदूर वर्ग के नेतृत्व मे विश्वास करने वाले अपरिपक्व प्रगतिवादी सोचते थे। वे स्वदेशी आंदोलन तथा लगान-बदी आदोलन दोनों को सम्मिलित रूप से तीव्र कर अंग्रेजी साम्राज्यवाद के आर्थिक हितों पर चोट पहुँचाना चाहते थे। इसी प्रक्रिया मे स्वयं राजनीतिक मुक्ति का स्वप्न देखते थे। वे रूसी क्रांति से वैचारिक स्तर पर अत्यधिक प्रभावित थे। लेकिन इस क्रांति मे प्रभावित होने का कारण यह था कि उन्हें स्वयं अपने भारतीय समाज मे जनसघर्ष की प्रक्रिया पर अटूट विश्वास हो चला था रचनाकार के रूप मे अपने विचारो का विकास उन्होंने अपने देश की जनता के अभूतपूर्व संघर्षों के माध्यम से किया और गंवार जनता से शिक्षा लेने मे कभी हिचकिचाहट नही दिखाई।

प्रेमचंद किसान-संघर्ष के प्रति सजग थे, तभी वे जनभाषा में रचना कर सके। एक ही साहित्यिक कालखंड मे जैनेन्द्र के 'सुनीता' (१९३४) तथा प्रसाद की 'कामायनी (१९३६) से प्रेमचद के 'गोदान' (१९३६) की भाषा का फ़र्क़ हम बखूबी परख सकते है। एक ही काल की हिंदी मे इतना फर्क कुछ तो अभिव्यक्ति-माध्यम के संस्कारो की वजह से है, पर यह फ़र्क़ जीवन-दृष्टियों तथा रचना-वस्तु में अंतर से भी

उपजा है। 'गोदान' और 'कामायनी' के बीच जितनी दूरी है, उससे अधिक दूरी 'गोदान' और 'सुनीता' के बीच है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में यह दो जीवनधाराओं की सूचना है। वस्तुत. जनभाषा के कारण ही प्रेमचन्द अपने कथा-साहित्य मे संघर्षशील पात्रों की सुन्दर अवतारणा कर सके। इनके उपन्यासो और कहानियों की भाषा इसीलिए साफ है कि इनमे वैचारिक उलझाव नही मिलता, वैचारिक सम्वेदना का विकास भले मिले क्योकि प्रेमचन्द के मन मे जनवाद को लेकर कोई सन्देह या भ्रम नही था। जनता की सामाजिक लड़ाई तभी अपनी प्रासंगिकता प्राप्त कर सकती थी, जब यह धरती की माटी से उभरे तथा धरती पुत्रो की भाषा मे फैले। बिना आंचलिक शब्दो की मिथ्या प्रदर्शनी के उन्होंने अंचल-जीवन की गभिन धाराओ को अभिव्यक्ति दी। संघर्ष के साथ भाषा का रिश्ता गहरा होता है, क्योकि शब्द-रचना मे वर्गीय संस्कार काम करते हैं। प्रेमचन्द ने अपने समय की घटाटोपी भाषा के बारे मे लिखा था—'मैं वह जबान नहीं लिख सकता, जिसका आजकल रिसालो मे नमूना नजर आता है। इस रंग का उनसुर है, सीधी-सी बात को तशबीहात (उपमाओं) और इस्तआरात (रूपकों) मे बयान करना।' प्रेमचन्द के संघर्षशील पात्र जनभाषा मे बात करते है। यही कारण है कि इनके कथा-साहित्य ने पूर्ववर्ती परम्परा के तिलस्मी, ऐय्यारी, जासूसी, साहसिक या रोमांस-प्रधान उपन्यासों के एक व्यापक पाठक वर्ग को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इससे पाठकीय रुचि मे साहित्यिक सस्कार मजबूत हुए।

करीब १९१९ के आसपास प्रेमचन्द ने निगम साहब को लिखे गये एक खत मे कहा था—'अब मैं करीब-करीब बोलशेविक उसूलों का कायल हो चुका हूँ।' रूसी क्रान्ति का प्रभाव पूरी दुनिया पर पड़ा था। ऐसे सभी लोगों ने इसकी प्रशंसा की थी, जिनके मन मे गरीबो से लगाव था, क्योकि इस क्रान्ति से एक भरोसा मिलता था। जो कम्युनिस्ट नही थे, उन्होने भी इस रूसी क्रान्ति का स्वागत किया था, क्योंकि इसके पीछे जनता का संघर्ष था। रूसी जनता ने अपने बल पर यह क्रान्ति की थी, कही से सैनिक मदद लेकर नही। लेकिन प्रेमचन्द भावनात्मक स्तर पर भी इस क्रान्ति से जुड़ सके, जैसा कि 'कायल' शब्द से स्पष्ट है। इसका सबसे बडा प्रमाण है कि 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'वरदान', 'रंगभूमि' जैसे उपन्यास तथा उन्ही दिनो की ढेरों कहानियां बोल्शेविक उसूलों के कायल प्रेमचन्द की कलम से लिखी जाकर भी बोलशेविक आदर्शों से रहित है। क्या प्रेमचन्द का कोई भी साहित्यिक मूल्यांकन इन रचनाओ को काटकर हो सकता है? बाद के उपन्यासो तथा कहानियों मे भी देश की अपनी राजनीतिक-सामाजिक हलचलों की प्रतिध्वनि मिलती है, भले ये रूसी क्रान्ति जितनी व्यापक न हो। लेकिन क्या व्यापकता के लोभ में अपने समय की इतनी महान् सच्चाइयों को खो देना चाहिए ?

अव्वल तो प्रेमचन्द बोल्शेविक विचारों से प्रारम्भिक परिचय के पूर्व ही शोषित जनता की समस्याओ से जुड गए थे। इसी प्रकार भारतीय राजनीति मे गांधी के राष्ट्रीय स्तर पर प्रवेश (१९२१) तथा कांग्रेस द्वारा पूर्ण स्वराज्य की घोषणा (१९२९) के पूर्व

ही सांस्कृतिक स्तर पर वे अंग्रेजी साम्राज्यवाद की ईंट से ईंट बजा चुके थे। उर्दू में लिखी उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ—'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न' तथा 'सांसारिक प्रेम और देशप्रेम' में उनकी अद्वितीय राष्ट्रीय भावना मिलती है। बीसवीं सदी के प्रथम दशक मे जिस राजनीतिक चेतना को लेकर प्रेमचन्द उभरे, उसकी परिणति 'सोजेवतन' में हुई। १९२१ मे, जब कांग्रेस औपनिवेशिक स्वराज्य की ही माग कर रही थी, प्रेमचन्द ने लिखा—'भारत के उद्धार का कोई उपाय है, तो वह स्वराज्य है, जिसका आशय है —मन और वचन की पूर्ण स्वाधीनता (आदर्श-विरोध)।' प्रेमचन्द के इस राष्ट्रीयतावादी स्वरूप को इधर उपेक्षित किया जा रहा है। राजनीतिक चेतना से सम्पन्न प्रेमचन्द का कथन है—'साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नही है —उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नही, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है (साहित्य का उद्देश्य)।' यह प्रेमचन्द का भ्रम नही था, क्योंकि वे राष्ट्रीय-सामाजिक चेतना के एक समर्थ कलाकार थे। प्रेमचन्द ने राष्ट्रीय स्वाधीनता की चेतना से भरे हुए कई पात्रों की रचना की हे। 'लालफीता' मे हरिविलास प्रारम्भ में सरकार की न्यायपरायणता पर विश्वास करता है, लेकिन बाद मे जब असहयोग के सत्याग्रहियों का दमन करने के लिए गुप्त निर्देशपत्र मिलता है, तो उसकी आत्मा विद्रोह कर उठती है। वह बीस वर्ष पुरानी सरकारी नौकरी छोडकर असहयोग मे शामिल हो जाता है। उसका पुत्र शिवविलास भी कालेज से अपना नाम कटवा लेता है, ताकि अपनी आत्मा को दबानेवाली व्यवस्था से मुक्त होकर वह जातीय स्वाधीनता के लिए लड़ सके। 'जुलूस' कहानी मे स्वराज्य का जुलूस निकलता है। इसके एक वयोवृद्ध सत्याग्रही इब्राहिम को दारोगा बीरबल सिंह अपने घोडे की टापों से कुचल देता है। इसका असर यह पड़ता है कि जिन लोगो ने पहले सत्याग्रहियो की उपेक्षा की थी, वे भी आन्दोलन में उमड़ पड़ते है। 'पत्नी से पति' कहानी मे गोदावरी अपने पति की आज्ञा का उल्लंघन करके स्वाधीनता आन्दोलन की सभा मे शरीक हो जाती है। 'जेल' कहानी की मृदुला गिरफ्तारी भी देती है। 'समरयात्रा' कहानी मे आन्दोलन की चेतना गाँवों तक पहुँचती है। प्रेमचन्द ने इसकी ओर भी सकेत किया है कि किस प्रकार ये ग्रामवासी सत्याग्रहियों से अपनी मुक्ति की उम्मीदें लगा बैठते है। इसी प्रकार एक अड़ियल घोड़े की कहानी है—'स्वत्वरक्षा'। रविवार को इनकी छुट्टी रहती है, पर जब इस दिन भी इसे जबर्दस्ती काम पर लगाने की चेष्टा की जाती है तो यह अपने बुनियादी हक तथा स्वत्व की रक्षा के लिए चलने-दौड़ने से इन्कार कर देता है। डण्डे पडते है, दाना खिलाया जाता है, यहां तक कि तसले मे शराब उड़ेलकर दी जाती है, ताकि नशे मे ही चौकड़ी भरने के लिए तैयार हो जाय, पर यह घोडा होकर भी अपने बुनियादी अधिकार को नही बेचना चाहता। जबकि मामूली शराब और डिनर पर तथाकथित क्रान्तिकारियों के ईमान बदलते देखे जाते है। कहानी प्रतीकात्मक है। यह अवसरवाद से विरोध की कहानी है। 'अधिकार-चिंता' शीर्षक कहानी मे कथाकार ने 'बुलडाग' के प्रतीक के

द्वारा अँग्रेजी साम्राज्य के कौशलपूर्ण विस्तार की कथा बुनी है। लेकिन अन्ततः यह एक दिन परलोक सिधार गया, अर्थात् प्रेमचन्द ने प्रारम्भ में ही अँग्रेजी राज के अन्त का सपना देख लिया था।

'कर्मभूमि' की भोली ग्रामीण वाला मुन्नी पर जब गोरे सैनिक बलात्कार करते है, तो अन्ततः उनकी हत्या करके मुन्नी प्रतिशोध लेती है। जनता की नजर में वह देवी के पद पर प्रतिष्ठित हो जाती है और सभी नगरवासी उसे मुकदमे से बरी कराने के लिए संगठित हो जाते हैं। 'रंगभूमि' में भी भारतीय जनता और अँग्रेज अधिकारियों के बीच संघर्ष चित्रित है। 'गबन' में पुलिस नवयुवकों पर जो मुकदमा चलाती है, उस पर मेरठ षड़यन्त्र के श्रमिक नेताओं के प्रति अँग्रेजी सरकार की कठोरता की स्पष्ट छाया है। १९२२ में प्रेमचन्द ने 'संग्राम' शीर्षक जो नाटक लिखा था, उसमें पूँजीवादी अदालत का स्पष्ट चित्र सबल सिंह के शब्दों में व्यक्त किया गया है —'जहाँ रुपयों के द्वारा फरियाद की जाती है, वहाँ गरीबों की कहाँ पैठ। यह अदालत नहीं न्याय की बलिवेदी है।' राज-व्यवस्था की कुरूपताएँ अदालत में भी प्रवेश कर जाती है, इसलिए यह सबलों के हितों की पोषक बन जाती है। साम्राज्यवाद-विरोधी दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले प्रेमचंद ने अपनी एक कहानी 'मुफ्त का यश' में अपने कथा-संग्रह सोजेवतन' पर प्रतिबन्ध के सन्दर्भ में लिखा था—'अगर तुम विद्रोहात्मक गल्प या लेख लिखोगे, तो फौरन गिरफ्तार कर लिए जाओगे। हाकिम जिला जरा मुरव्वत न करेंगे।' एक साहित्यकार के लिए इतने कठोर शासन के खिलाफ कलम उठाना मामूली बात नहीं थी। लेकिन उन्होंने मात्र सत्ता का विरोध नहीं किया, व्यवस्था का भी विरोध किया। 'गोदान' में धनिया निडर होकर दारोगा पर कटु वचन बरसाती है। अँग्रेज-शासन के भ्रष्टाचार में लिपटी पुलिस भोली जनता पर जुल्म करती थी। इसी कारण होरी डरा हुआ था, पर धनिया इस शोषण को जरा भी बर्दाश्त नहीं कर पाती।

अपने युग में प्रेमचंद ने अँग्रेजी शासन-व्यवस्था के खिलाफ स्वाधीनता-संग्राम का चित्र खींचा, लेकिन इसमें शरीक विभिन्न वर्गों के हितों की पहचान की। अपने कथा-साहित्य में स्पष्ट किया कि कमलानन्द राय, जान सेवक, अमरपाल सिंह, खन्ना, सेठ खूबचंद जैसे व्यक्ति अपने किन वर्गीय स्वार्थों से प्रेरित होकर राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थक थे, कौंसिलों में जाने के लिए रुपये पानी की तरह बहाते थे और जब इनके हितों पर चोट पड़ती थी, तो किस प्रकार स्वाधीनता-संग्राम से विश्वासघात की भूमिका भी बनाते थे। कथाकार ने यह भी विश्लेषित किया कि मध्यवर्ग, किसान और मजदूर वर्ग अपने किन व्यापक हितों के लिए इस राष्ट्रीय आन्दोलन में उम्मीदें लगाकर काम कर रहा था।

प्रेमचंद ने कहा था—'असहयोग स्वराज्य के लिए है। स्वराज्य अर्थात किसान-मजदूर जनता का राज।' वे एक ऐसे मानव समाज का स्वप्न देख रहे थे, जिसमें सब बराबर हों, जहाँ विषमता को आश्रय न मिले और कोई किसी का खून नहीं चूस सके। वे मानते थे कि इस स्वप्न को किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। उनका कहना

था—'वह नाम शायद सब ठीक होंगे और सब उतने ही गलत। नाम के फेर मे क्यों पड़ते हो, वह तो छिलका है। उसे छीलकर देखो, अन्दर क्या है। हाँ, अगर नाम के बिना तुम्हारा काम नही चलता हो, तो लो मैं दो नाम देता हूँ—जनतावाद, लोकवाद। जनतन्त्र नही, उसमे तो धोखा है। सभी अपने को जनतन्त्र कहते हैं, लेकिन जनता उसमे कहाँ है। लेकिन चीज को नाम दे देना ही काफी नही है, उसका बिरवा लोगों के दिल में रोपना होगा' (कलम का सिपाही, अमृत राय पृष्ठ-२६१)। आज के युग मे नाम का इतना अधिक महत्व है, लेबेल का इतना लोभ है, जनवादी, वामपंथी, क्रान्तिकारी वेश धारण का इतना आकर्षण है कि प्रेमचंद की उपरोक्त उक्ति बहुत काम की साबित हो सकती है। आज प्रतिक्रियावादी-पूँजीवादी शक्तियाँ भी क्रांतिकारी नाम धारण करके, प्रगतिशीलता का ओवरकोट पहनकर सच्चे दिल से काम करनेवालो पर अपना तानाशाही रोब गाँठ रही हैं। जबकि प्रेमचंद के पात्र वास्तविक जीवन से सच्चे रूपों मे उभरे थे और उनके दिलों में जो आग थी, वह शासन-व्यवस्था के भयकर शोषण-दमन के विरुद्ध उपजी थी।

'नशा' मे कथानायक अपने जमीदार दोस्त ईश्वरी से गरीबों के अधिकार को लेकर बढ़ चढकर बातें करता था। ईश्वरी स्पष्टतया जमीदार वर्ग का पक्ष लेता था। कथानायक का छद्म उभरकर आ गया, जब वह दशहरे की छुट्टियों पर जमीदार दोस्त के घर गया। यहाँ रहने के लिए उसे नकली कुवर साहब बनना पड़ा। लेकिन चद दिनो मे ही हालत यह हो गई कि क्रान्तिकारी खयालातो के इस कथानायक मे असली कुँवर साहब दिखाई पड़ने लगे। बिस्तरा ठीक करने या टेबुल लैम्प तक जलाने में अगर नौकर जरा भी देर कर दे, तो कथानायक को सचमुच गुस्सा आने लगता। यहाँ तक कि लौटते समय ट्रेन मे उसने एक गरीब आदमी को बिना किसी बात के पीटकर अपना रौब दिखाया। अमीरों के खिलाफ बोलना अगर सिर्फ एक नशा हो, तो यह किस तरह अपना रूप बदलता है, प्रेमचंद ने 'नशा' कहानी मे दिखाया है। वैसे कथानायक कभी-कभी आत्मविश्लेषण भी करता है तथा उसे बीच-बीच मे शर्म भी महसूस होती है। पर आज के आधुनिक समाज मे पूँजीवाद के खिलाफ संघर्ष की बातें कर बुद्धिजीवी लोग इस तरह जरा-जरा-सी सुविधाओ के लिए पदाधिकारियों के तलवे सहलाते हैं कि लज्जा भी नही आती।

प्रेमचंद की कहानी 'हार की जीत' मे प्रो० भाटिया की बेटी लज्जा सिर्फ सिद्धान्तों की ही भक्त नही थी। इन्हे वह व्यवहार मे भी लाना चाहती थी। उसका एक गरीब व्यक्ति केशव की ओर झुकाव होता है। यह उसके संघर्षशील व्यक्तित्व का सकर्मक पक्ष है। सम्पन्न शारदाचरण उससे प्रेम करता है, पर लज्जा उसे जवाब देती है—'मैं जानती हूँ कि इस समय तुम्हे कुल-प्रतिष्ठा और रियासत का लेशमात्र अभिमान नही है। लेकिन यह भी जानती हूँ कि तुम्हारा कालेज की शीतल छाया मे पला हुआ साम्यवाद सांसारिक जीवन की लू-लपट को सह नही सकेगा'। शारदाचरण एक अमीर लड़की के चक्कर मे भटक जाता है, पर अन्ततः त्याग और सेवा की मूर्ति

अपने प्रिय पात्रों की संघर्ष चेतना तथा संवेदनशीलता के माध्यम से समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता की ओर संकेत कर प्रेमचन्द ने अपने सामाजिक यथार्थ को आत्मीय बना दिया है। उन्होंने युगो से पददलित-सर्ववंचित मनुष्यों मे यह आस्था भरने की कोशिश की है कि अब वे सारे कारण इकट्ठे होते जा रहे है, जिनसे व्यक्ति के विद्रोह सामाजिक स्तर पर संगठित होकर किसी सांस्कृतिक क्रांति का रूप ग्रहण कर लें। ऐसा होने पर ही क्रूर सामाजिक विडंबनाओं का अन्त हो पाएगा और किसानो का जीवन सुखी होगा। आर्थिक अभावों तथा सामाजिक अतृप्ति के फलस्वरूप कथाकार के रचनात्मक अवचेतन मे संघर्ष के कुछ सच्चे आदर्श निर्मित हो रहे थे। सेवासदनो, प्रेमाश्रमों तथा विभिन्न निकेतनो की स्थापना इसी के परिणाम है। आज ये भ्रष्टाचार के अड्डे बन गये हो सकते है, पर इन सुधारो के पीछे प्रेमचंद के मन मे परिवर्तन की ही भावना काम कर रही थी, भले यह अर्द्ध-विकसित हो। गाधीवादी प्रभाव या हृदय-परिवर्तन का आरोप लगाकर उनकी उपरोक्त वैचारिक संवेदना को खारिज नही किया जा सकता। वस्तुत. प्रेमचद मे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नही, बल्कि यथार्थ और मूल्यगत आदर्श का तनाव मिलता है। यह तनाव हमेशा एक जैसा नही है। इसकी शक्ल हर कहानी-उपन्यास मे बदलती रही है। इसका प्रमाण है कि वे किसी एक आदर्श पर रुके नही। नये उपायों और रास्तों की ओर बढते गये। इस तलाश की चेष्टा का महत्व है। सबसे बडी बात है कि यह ऊपर से थोपी हुई या आयातित नही थी, बल्कि यह सीधे जनसमस्याओ के भीतर प्रवेश करती हुई चल रही थी। वे किसी विशिष्ट आदर्शवादिता के शिकार होकर बैठ नही गये, बल्कि अपने संघर्षशील पात्रों के माध्यम से नई मूल्यपद्धति और क्रांतिकारी जीवन-व्यवस्था की खोज करते रहे। एक लेखक का सबसे महत्वपूर्ण काम यही है।

'प्रेमाश्रम के बलराज' में आर्थिक व्यवस्था से असन्तोष, 'रंगभूमि' में सूरदास का एक कर्मठ संघर्षशील व्यक्तित्व के रूप मे आत्मोत्सर्ग कर देना, 'कर्मभूमि' का जनआदोलन, हिन्दू-मुस्लिम एकता, जातिप्रथा विरोध, 'गोदान' मे मनुष्य-मनुष्य मे बराबरी तथा शोषणमूलक महाजनी व्यवस्था के उन्मूलन का कृषक-स्वप्न, 'मगलसूत्र' मे सामाजिकार्थिक स्वतन्त्रता की आवाज —ये वे सदर्भ हैं, जो प्रेमचंद की रचनाओं में सामन्तवादी मूल्यों के विघटन तथा जनसत्तावादी व्यवस्था के निर्माण की चेष्टाओं के उभर पड़ने का संकेत देते है। अत: इन संघर्षशील पात्रों ने अपने युग के यथार्थ के साथ-साथ साधारण जनता के स्वप्नों का तनाव भी व्यक्त किया है। प्रेमचद परंपरागत आदर्शों और मूल्यों के भंजक एक साम्राज्यवाद-सामन्तवाद-विरोधी कथाकार है। उनके रचनाकार व्यक्तित्व मे विद्रोह का गतिशील आदर्श मिलता है। 'सेवासदन' के चेतू से लेकर, 'प्रेमाश्रम' के बलराज और मनोहर, 'रंगभूमि' के सूरदास या फिर 'गोदान' में गोबर तक, ये सभी एक ही पात्र हैं। कथाकार की वैचारिक मानसिकता के विकास और संघर्ष पथ की निरन्तर खोज की जटिलताओ के कारण इनमे फ़र्क पैदा हुआ है। प्रेमचंद के इस काम और दूसरी ओर सामंतवादी पूंजीवादी व्यवस्था के सम्मिलित

तज्जा के पास वापस आ जाता है। प्रेमचंद देखते हैं कि सामन्तवादी संस्कारों से पीड़ित भारतीय समाज में प्रेम करना संघर्ष के पथ पर चलना है और यह बहुत कठिन है। फिर भी एक ऐसा पथ है, जो चलने के लिए चुने जाने योग्य है। सुन्दरी विधवा पूर्णा को धार्मिक संस्कारों के कारण ही कृष्ण की मूर्ति से सन्तोष करना पड़ता है। विधवा वृजरानी प्रेम करने के बावजूद अपने प्रेमी से विवाह नहीं कर पाती। सामन्तवर्ग की गायत्री भी यौन अतृप्ति की शिकार एक ऐसी ही विधवा है। वहीं भुनिया भी विधवा है, पर वह गोवर को अपनाने में संकोच नहीं करती। संघर्ष का जो तेज प्रेमचंद के कुछ पात्रों में था, वह शरतचन्द्र के पात्रों में न था। इनमें एक गहरा और सूक्ष्म अर्न्तद्वन्द्व मिलता था, एक भावनात्मक आलोड़न भी। इनकी भावुकता से परिचित होकर ही प्रेमचंद ने टिप्पणी की थी कि 'बंगला साहित्य में स्त्रीगुण अधिक है।'

प्रसन्न या तृप्त व्यक्ति कभी भी विचारादर्श और परिवर्तनकारी जीवनमूल्यों की निरन्तर तलाश जारी नहीं रख पाता। जर्जर-पीड़ित और अविकसित समाज व्यवस्था में कुछ अच्छे दिवास्वप्न ही मनुष्य को ऊर्जा प्रदान करते हैं। सामाजिक शोषण-व्यवस्था से जूझते हुए प्रेमचद के पात्रों ने अपने जनाधिकारों की प्राप्ति के लिए कुछ ऐसे दिवास्वप्न देखे है, जिनका तत्कालीन समाज में यथार्थवादी अस्तित्व व्यापक नहीं था। फिर भी ये सामाजिक यथार्थ की ही आन्तरिक घटनाएँ थी। वेश्या को सामाजिक स्वतन्त्रता देने के लिए ही उन्होंने 'सेवासदन' का स्वप्न देखा था। एक आर्थिक मसला जानकर ही वे वेश्याओं को उनके स्थान से निर्मूल करने के विरोधी थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे वेश्यावृत्ति चाहते थे। अपितु वे इसे सामाजिक विषमता का अभिशाप मानते थे। सुमन इस विषमता से टकराती है। वह अपने पति से लड़कर घर से निकल पड़ती है। वहीं दूसरी ओर सुधा अपने लम्पट पति का तिरस्कार करती है। परन्तु निर्मला के चरित्र में वह तेजी नहीं है। इसी प्रकार सुमित्रा भी यौन और अहं के बीच द्वन्द्व की शिकार रहती है। वह अपने लम्पट पति कमलाप्रसाद से विद्रोह नहीं करती और भारतीय नारी जीवन की दासता तोड़ नहीं पाती।

प्रेमचन्द के स्त्रीपात्र सामंत वर्ग, मध्यवर्ग तथा कृषक वर्ग के रूप में भिन्न संस्कारों के आधार पर बंटे हुए थे। गरीब अथवा निम्नवर्ग की मेहनतकश औरतें निर्णय लेने में शहरी बहुओं से अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र थी। धनिया, बिलासी, भुनिया, मुन्नी, सलोनी, सिलिया, नोहरी इत्यादि ऐसी ही स्त्रियां हैं। जबकि मध्यवर्गीय नारियों की कामभावना तथा आर्थिक अधिकारों को उनके वर्ग की सामंती परम्परायें बुरी तरह जकड़ी हुई थी। प्रेमचन्द ने कुछ स्त्री-चरित्रों में आत्मसंस्कार भी दिखाया है। मसलन जालपा और जोहरा के चरित्र में। शहर की रंगीन तितली मालती ग्रामीण जनता की पीड़ा को देखकर सेवा भाव से भर जाती है। चारित्रिक परिवर्तन का यह भी एक रूप है। हमारा समाज बदल रहा है। इसमें संघर्ष की तैयारियां फूट रही हैं। इसका असर यथा-साहित्य के नारी पात्रों पर पड़ना स्वाभाविक है।

यथार्थ था, वही यह प्रेमचंद की निरूपायता भी थी कि ऐसे संघर्षशील चरित्रों का विकास वे किस आधार पर करें। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे दृष्टिहीन थे, बल्कि वे एक ऐसे जीवन-दर्शन के लिए बेचैन थे, जिसे वे रचना की राह से उपलब्ध करना चाहते थे।

समाज में वर्ग-संघर्ष को चलाने वाली शक्तियां जिस प्रकार रहती हैं, इसे तोड़ने तथा भटकानेवाली राजनीतिक शक्तियां भी काम करती हैं। मिल मालिक खन्ना ने इसी कारण हड़ताली मजदूरों पर विजय पा ली। अत: एक सवाल यह भी है कि हम समाज में किन-किन को साथ लेकर किन-किन के खिलाफ़ जेहाद बोलेंगे। वर्गसंघर्ष की प्रक्रिया को तेज करने में निम्नवर्ग और दलित वर्ग की भूमिका कितनी है? साहित्य में इसका प्रतिबिंब किस रूप में पड़ रहा है? इस पर विचार करना होगा।

'कफन' कहानी के दलित पात्र घीसू और माधव क्या स्तब्ध और विजडित संवेदना के कामचोर पात्र हैं, जैसा कि राजेन्द्र यादव, गिरिराज किशोर आदि ने कहा है? क्या इनमें यथार्थ की कुरूपताएँ भरी हुई हैं? घीसू और माधव पर सामाजिक सन्दर्भ और गरीबों की अस्तित्व-चेतना के सन्दर्भ में विचार किया जाय तो पता लगेगा कि इनके अवचेतन में गहरी विद्रोह भावना छुपी हुई है। कफन का पैसा लेकर शराबखाने में उनका घुस पड़ना धार्मिक पाखण्डों को मुंह चिढ़ाना है। दूसरी ओर सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का प्रतिकार भी है। 'ये मोटे-मोटे लोग गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को ढोने के लिए गंगा नहाते हैं।' ठगिनी क्यों नैना झमकावे' गाते हुए जब वे गिर पड़ते हैं, तो ऐसा नहीं लगता कि उन्हें अपनी बहू-बीबी बुधिया से मतलब नहीं था। उनके पीने-नाचने-उछलने में अन्ततः यही उभरता है कि दोनों बुधिया को कितना प्यार करते थे। उनमें जीने की बड़ी भूख थी, पर वे सामाजिक विषमता की चपेट में फंसे हुए थे। व्यवस्था की क्रूरताओं ने उनका अमानवीयकरण कर दिया था। 'कफन' भारतीय निम्नवर्ग का औपन्यासिक महाकाव्य है। इसका एक-एक शब्द कविता के समान गहरे संवेदनों, व्यंग्यार्थ तथा कलात्मक सौन्दर्य लेकर चलता है।

'कफन' को, घीसू-माधव की कामचोरी और इनकी संवेदनशीलता को समझने के लिए प्रेमचंद की कहानी अग्निसमाधि' पढ़नी चाहिए। धार्मिक और सामन्ती शोषण के मिले-जुले रूप को यह कहानी बहुत मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करती है। घीसू-माधव की कामचोरी का तर्क पयाग के चरित्र में है, जो नशा करता है और कबीर का पद 'ठगिनी क्या नैना झमकावे' पूरा गाता है।

श्रमजीवी पयाग साधु-सन्तों के दुष्प्रभाव में आकर गांजे, चरस और भंग का नशा पकड़ लेता है। वह जाति का भर था। काम था सप्ताह में एकदिन थाने जाना, वहां अफसरों के घर पर झाड़ू लगाना, अस्तबल साफ करना, लकड़ी चीरना और कभी-कभी निरपराध मार खाना। काम का पक्का था, लेकिन नशे की आदतों के कारण आलस्य आ जाता था। दम लगाने के लिए अपनी पत्नी रुक्मिणी से पैसे मांगता। लेकिन वहां से उसे ठीक पैसे नहीं मिलते। एक दिन गुस्से में कहीं से एक दूसरी बीबी कर ली।

शोषण-दमन से जूझने के भाव की एक झलक 'रंगभूमि' के इस संवाद में मिलनी

मिठुआ ने पूछा—दादा हम रहेंगे कहा ?
सूरदास—दूसरा बनायेंगे ।
मिठुआ—और फिर कोई आग लगा दे ।
सूरदास—तो फिर बनायेंगे ।
मिठुआ—और फिर लगा दे
सूरदास—तो हम फिर बनायेंगे ।
मिठुआ—और जो कोई हजार बार लगा दे
सूरदास—तो हम हजार बार बनायेंगे ।

प्रेमचंद की एक कहानी है—'विध्वंस' इसमे गावों की बेगार· आवाज है। बीरा नामक गाव की एक विधवा, वृद्धा और सन्तानहीन · उठाई गई है। नाम है भुनगी। उसके भाड पर गाव के लोग चना-चबैना पंडित जी के गाव मे रहती थी, अत. बेगार करनी पड़ती था। यह धार्मि· कि एकादशी या पूर्णमासी के दिन भाड जलाने नही दिया जायगा· फाका करना पडता था। पडितजी का तर्क था कि एक-दो दिन भूखों थोड़े ही जायगी। जब यह सब असह्य हो गया, तो भुनगी ने स्वर ऊँचा जी कौन मेरी रोटिया चला देते है। कौन मेरे आसू पोछ देते है। अप· तब कही दाना मिलता है लेकिन जब देखो खोपड़ी पर सवार रहते· उनकी चार अगुल जमीन से मेरा निस्तार हो रहा है।' 'गोदान' मे धनिया अपने पति होरी से लड़ पड़ती है। भुनगी ने अपने बुरे दिन जमीन पर काटे थे। यहा के एक-एक पेड़-पत्ते से प्रेम हो गया था। जी उसे झोंपड़ा छोड़कर निकल जाने के लिए कहते है, तो वृद्धा म· है—'क्यों छोड़कर निकल जाऊँ ? बारह साल खेत जोतने से · जाता है। मैं तो इस झोपड़ी मे बूढी हो गई। मेरे सास-ससु· झोपडे मे रहे। अब इसे यमराज को छोड़कर और कोई मुझसे · दिन जमीदार के आदमी आकर भाड़ खोद डालते हैं। अपने कारण बुढ़िया भाड़ पुनः तैयार करती है। इसे पुनः खोद दिया से सीधा सघर्ष ठन जाता है। वे पत्तियों की ढेर में आग लग यह आग देखती है फिर इसमें कूदकर आत्महत्या कर लेती है।

संघर्ष मे अटूट आस्था रखते हुए भी एक काल के साम· यथार्थवादी आधार पर यह नही समझ पा रहे थे कि इस संघर्ष· जाय। लोग समकालीन जीवन मे पराजित होकर टूटते जा र· बहुत तगड़ी थी। प्रेमचंद ने कई स्थलों पर वर्गसंघर्ष को बनाने के लिए जातिगत विषमता को ध्यान मे रखा। नहीं और दूसरे वर्ग मे दलित गोंडिन क्यों होती ? भुनगी का ।८.

थी। यही सोचकर उसने जान पर खेलकर खेत की रक्षा की और पीटे जाने के बावजूद रुक्मिणी ने भी न केवल पति की रक्षा की चेष्टा में, बल्कि खेत की रक्षा की कोशिश में अग्निसमाधि ले ली। इन दोनों पर यह सुलगती हुई व्यवस्था का ही एक हमला था। मानो वे मालिकों की खातिर सिर्फ अपनी जानें न्योछावर करने के लिए पैदा हुए थे। कहानी मे है—'पयाग को प्रत्यक्ष का क्रूर अनुभव होता, संसार उसे काँटों से भरा जंगल दीखता, विशेषत. जब घर आने पर मालूम होता कि अभी चूल्हा नही जला और चने-चबैने की कुछ फिक्र करनी है।' ये भूमिहीन मजदूर दूसरे के खेतों तथा गाँव के संपन्न लोगों के लिए जान पर खेलकर खटते थे, पर बदले में इन्हे क्या मिलता था? प्रेमचंद ने इन भूमिहीन मजदूरों के आर्थिक-शोषण और धार्मिक-शोषण का चित्र खीचा है। साथ ही गरीबी से जर्जरित परिवार के भीतर रुक्मिणी और पयाग के बीच लड़ाई-झगड़ों, कहा-सुनी के बावजूद एक-दूसरे के प्रति कितना सच्चा प्रेम और सहानुभूति है—इसे भी अपनी कथात्मक संवेदनशीलता के साथ उभारा है। 'कफन' 'अग्नि-समाधि' की ही संवेदना का विकास है। दोनों ही भूमिहीन मजदूरों की कहानियां हैं। इस कहानी को पढ़ने के बाद पता चलता है कि घीसू और माधव क्यों कामचोर थे तथा उनमे बुधिया के प्रति कितना गहरा लगाव था। पयाग नशे में गाता रहता था—

'ठगिनी क्या नैना झमकावे
कद्दू काटि मृदंग बनाए, नीबू काटि मजीरा,
पाँच तरोई मंगल गावें, नाचे बालम खीरा,
रूपा पहिर के रूप दिखावे सोना पहिर रिझावे,
गले डाल तुलसी की माला, तीन लोक भरमावे।
ठगिनी···।'

'मंत्र' कहानी में शुद्धि कार्य के लिए हिन्दुओं का एक जत्था विद्वान पंडित लीलाधर के नेतृत्व मे मद्रास प्रान्त की भीलों-चांडालों की एक वस्ती में गया हुआ था, ताकि मुसलमानो द्वारा धर्मान्तर रोका जा सके। तमाम लम्बी-चौड़ी बात करने के बाद हजारों पिछड़ों के बीच पण्डित जी वर्णभेद का औचित्य बतलाने लगे तथा पिछड़ों को ऋषियों की सन्तान बताकर उपदेश देने लगे कि 'माँस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च वर्ण के हिन्दुओं मे मिल सकते हो।' दलित वर्ग के लोगों का आक्रोश बूढ़े चौधरी के स्वर मे फूट पड़ा—'हिन्दू समाज में रहकर हमारे माथे से नीचता का कलंक नही मिटेगा। हम कितने विद्वान, कितने ही आचारवान हो जायं, आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे।' प्रेमचंद समझते थे कि भारत की समाज व्यवस्था भयंकर धार्मिक संस्कारों से जकड़ी हुई है तथा इनसे सहज मुक्ति संभव नही है। ऊंचे वर्ण के हिन्दू धन और ज्ञान के बल पर गरीब-पिछड़ों को हीन दृष्टि से देखते हैं। उधर साम्प्रदायिक कत्लेआम भी निहित स्वार्थी तत्वों द्वारा होते रहते थे। पण्डित जी पर भी हमला हुआ तथा इनका पूरा शिविर उजड़ गया। पण्डितजी को लहूलुहान

उसे घर ले आया। पहले तो रुक्मिणी को बड़ा क्रोध आया। लेकिन बाद में वह उसकी देखभाल करने लगी। अब पयाग को भी दम लगाने के लिए ठीक पैसे मिल जाते। जब पयाग की दूसरी बीवी कौशल्या ने देखा कि बाहर मजदूरी करने और पैसा कमाने के कारण रुक्मिणी ही मालकिन बनी हुई है तथा पयाग पर अधिक अधिकार भी जताती है, तो उसने स्वयं बाहर निकलकर मेहनत करने की ठानी। घास काटकर बेचना प्रारम्भ किया। पयाग को दम लगाने के लिए अधिक पैसे भी दिए। बदले में उसे अधिक आकर्षित करने का प्रयास किया। रुक्मिणी उपेक्षित रहने लगी। प्रेमचंद ने यहां यह दिखाने का प्रयास किया कि एक अत्यन्त निर्धन परिवार में नशा और पैसा किस प्रकार सारे व्यक्तियों के अन्तर्मन को खोखला कर देता है। इसमें सम्बन्धों का एक अमानवीय धरातल विकसित होने लगता है। नतीजतन एक दिन कौशल्या (जिसका नाम बदलकर सिलिया हो गया था) की शिकायत पर पयाग रुक्मिणी को बुरी तरह पीटता है। रुक्मिणी बदले में अत्यन्त खराब-खराब गंवई गालियां देती है। उत्तेजित होकर पयाग पुनः बुरी तरह पीटता है। उस दिन पयाग को भी थाने पर निरपराध मार पड़ी थी और मन में एक दबा हुआ गुस्सा था।

अंधेरा होने पर रुक्मिणी क्रोध में आकर घर से निकल जाती है। कोई कुछ नहीं बोलता, लेकिन पयाग के मन में एक पछतावा था। वह खुद भी दूसरों के खेतों की पकी फसलों की रखवाली पर निकल गया। डेढ़-दो महीने के लिए उसे यह काम मिल जाता था तथा किसानों से मजदूरी के रूप में कुछ अनाज मिल जाता था। वहां उसने देखा कि मड़ैया आग में धू-धू जल रही है। उसे रुक्मिणी पर सन्देह हुआ। पर पयाग के पास सोचने का मौका नहीं था। पास के खेतों में यह आग क्षण भर में फैल जाएगी। फसल जल जाएगी, तो गांव भर में कोहराम मच जाएगा। अभी 'पूस की रात' के हल्कू जैसी मानसिक स्थिति उसकी नहीं बनी थी। उसने ज्यादा नहीं सोचा। गंवारों को सोचना नहीं आता। उसने जलती हुई मड़ैया को अपनी लाठी पर उठाया और सिर पर लिए वह सबसे चौड़ी मेड़ पर गांव की ओर भागा। ऐसा जान पड़ा मानो कोई अग्नियान हवा में उड़ता चला जा रहा है। हाथों का हिलना खेतों का तबाह होना था। चार फर्लांग का रास्ता था। तीसरे फर्लांग पर मड़ैया नीचे खिसकने लगती है और स्थान-स्थान पर देह के जल जाने से उसके पांव लड़खड़ाने लगते हैं। वह सोच लेता है कि अब उसके जिंदा बचने की उम्मीद नहीं है। तभी रुक्मिणी आकर मड़ैया अपने हाथों पर लेकर खेत के बाहर कर देती है। खेत को बचा देती है पर खुद उसके नीचे दबकर अग्निसमाधि ले लेती है।

पयाग उसके करीब जाकर और उसकी अधजली लाश देखकर रोने लगता है और स्वयं भी इलाज होते रहने के बावजूद कुछ तो आग से और कुछ शोकाग्नि से जलने के कारण दम तोड़ देता है। इस मार्मिक कहानी में गांव के एक अस्थायी मजदूर के शोषण की कथा है। बहुत थोड़ी मजदूरी में वह जिसके-तिसके यहां काम करते हुए जिन्दगी बिता रहा था। जान देकर काम करता था सिर्फ इसीलिए गांव में उसकी इज्जत

थी। यही सोचकर उसने जान पर खेलकर खेत की रक्षा की और पीटे जाने
रुक्मिणी ने भी न केवल पति की रक्षा की चेष्टा में, बल्कि खेत की रक्ष
में अग्निसमाधि ले ली। इन दोनों पर यह सुलगती हुई व्यवस्था का ही एव
मानो वे मालिकों की खातिर सिर्फ अपनी जानें न्योछावर करने के लिए
कहानी में है—'पयाग को प्रत्यक्ष का क्रूर अनुभव होता, संसार उसे काँटों
दीखता, विशेषतः जब घर आने पर मालूम होता कि अभी चूल्हा नहीं जला अ
की कुछ फिक्र करनी है।' ये भूमिहीन मजदूर दूसरे के खेतों तथा गाँव के सं
लिए जान पर खेलकर खटते थे, पर बदले में इन्हें क्या मिलता था? प्रे
भूमिहीन मजदूरों के आर्थिक-शोषण और धार्मिक-शोषण का चित्र खींचा
गरीबी से जर्जरित परिवार के भीतर रुक्मिणी और पयाग के बीच लड़ाई-
सुनी के बावजूद एक-दूसरे के प्रति कितना सच्चा प्रेम और सहानु
भी अपनी कथात्मक संवेदनशीलता के साथ उभारा है। 'कफ़न' 'अग्नि-समा
संवेदना का विकास है। दोनों ही भूमिहीन मजदूरों की कहानियां हैं। इ
पढ़ने के बाद पता चलता है कि घीसू और माधव क्यों कामचोर थे तथा उन
प्रति कितना गहरा लगाव था। पयाग नशे में गाता रहता था—

> 'ठगिनी क्या नैना झमकावे
> कद्दू काटि मृदंग बनाए, नीबू काटि मजीरा,
> पाँच तरोई मंगल गावें, नाचे बालम खीरा,
> रूपा पहिर के रूप दिखावे सोना पहिर रिझावे,
> गले डाल तुलसी की माला, तीन लोक भरमावे।
> ठगिनी...।'

'मंत्र' कहानी में शुद्धि कार्य के लिए हिन्दुओं का एक जत्था वि
लीलाधर के नेतृत्व में मद्रास प्रान्त की भीलों-चांडालों की एक बस्ती में गया
ताकि मुसलमानों द्वारा धर्मान्तर रोका जा सके। तमाम लम्बी-चौड़ी बात व
हजारों पिछड़ों के बीच पण्डित जी वर्णभेद का औचित्य बतलाने लगे तथा
ऋषियों की सन्तान बताकर उपदेश देने लगे कि 'माँस खाना छोड़ो, मदिरा प
शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च वर्ण के हिन्दुओं में मिल सकते हो।' द
लोगों का आक्रोश बूढ़े चौधरी के स्वर में फूट पड़ा—'हिन्दू समाज में रह
माथे से नीचता का कलंक नहीं मिटेगा। हम कितने विद्वान, कितने ही आच
जायें, आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे।' प्रेमचंद समझते थे कि भारत
व्यवस्था भयंकर धार्मिक संस्कारों से जकड़ी हुई है तथा इनसे सहज मुक्ति
है। ऊँचे वर्ण के हिन्दू धन और ज्ञान के बल पर गरीब-पिछड़ों को हीन दृष्टि
हैं। उधर साम्प्रदायिक कत्लेआम भी निहित स्वार्थी तत्वों द्वारा होते रहते
जी पर भी हमला हुआ तथा इनका पूरा शिविर उजड़ गया। पण्डितजी को

के बावजूद
को कोशिश
हमला था।
पैदा हुए थे।
भरा जंगल
र चने-चबैने
न्न लोगों के
चंद ने इन
है। साथ ही
झगड़ों, कहा-
ति है—इसे
धि' की ही
कहानी को
बुधिया के

द्वान पंडित
हुआ था,
रने के बाद
पिछड़ों को
ना छोड़ो,
लित वर्ग के
र हमारे
रवान हो
ी समाज
संभव नहीं
से देखते
। पण्डित
लहूलुहान

पाकर अछूत बूढ़ा चौधरी उनकी सेवासुश्रुषा करने लगा। पण्डितजी ठीक हो गये। न केवल शरीर में, मन में भी बदल गये। उन्हें बड़ी ग्लानि हुई कि जिन्हें वे नीचे समझते थे तथा जिनकी वे शुद्धि करने के लिए निकले थे, उनमें उच्च हिन्दुओं से कहीं अधिक मनुष्यता है। इतने में गाँवों में प्लेग का आक्रमण होता है। अंधविश्वास के कारण रोगियों को छोड़कर गाँववासी ही नहीं, इनके परिवार के लोग भी भाग कर जाने लगे। इस गाँव के तीन आदमी भी बीमार पड़े, जिनमें बूढ़ा चौधरी भी था। पण्डित जी ने उनकी सेवा की। शहर से दवा लाने गये। डाक्टर के आगे गिड़गिड़ाहट का कोई असर नहीं पड़ा, क्योंकि उनके पास पैसे नहीं थे। अपने पाण्डित्य तथा लज्जाशील स्वभाव पर वे मौन गये, अन्ततः एक स्थान से दान प्राप्त कर तथा उन पैसों से दवा खरीद कर वे गाँव लौटे। प्लेग से पीड़ित लोगों को ठीक करके ही दम लिया। अपने को वर्ग और वर्णच्युत कर पण्डित जी ने पिछड़े गाँव की जनता का मन जीत लिया। 'यह मन्त्र था, जो उन्होंने चांडालों से सीखा था।' पण्डित जी का व्यक्तित्वान्तर हो गया था तथा उनका अपना परिवार लाकर उन्हीं भीलों के साथ रह जाना एक अद्भुत बात थी। प्रेमचंद की सामाजिक दृष्टि स्पष्ट है, धर्मांतर की समस्यायें आज भी समाज में हैं, क्योंकि धर्म की समस्या है, जिसे अर्थ की समस्या से बदलना होगा। इसी शीर्षक से एक अन्य कहानी में प्रेमचंद ने गरीब आदमी की सज्जनता, निःस्वार्थ सेवा-भाव तथा मानवीयता की ओर संकेत किया है। बूढ़ा भगत यह जानते हुए भी कि खेलने के नशे में डाक्टर चड्ढा ने उसके बेटे भोला को देखने से इन्कार कर दिया था और उसकी मृत्यु हो गई थी। उसी के बेटे को साँप काट लेने पर वह अपने मन के द्वन्द्व से निकलकर इलाज करने के लिए जाता है और उसे ठीक भी कर देता है। गाँववासी का हृदय कितना मधुर है।

प्रेमचंद के संघर्षशील पात्र समाज के सामन्ती-महाजनी परम्पराओं को चुनौती देते हैं तथा जनवादी जीवन-मूल्यों के पक्षधर होते हैं। कोई न कोई चेतू अथवा गोबर, सुमन या मुन्नी, बलराज, मनोहर अथवा सूरदास जैसे पात्र अर्थव्यवस्था के ठेकेदारों, धार्मिक पाखण्डों, राजनीतिक गुलामी या सामाजिक परम्पराओं का प्रतिरोध करते हैं। होरी अपनी पीड़ा की कठोर अभिव्यक्ति करता है—'कोई राज नहीं माँगते। मोटा-झोटा पहनने को माँगते है। मोटा-झोटा खाने को माँगते हैं। वह भी नहीं होता।' दुख और कष्टों की डोर से बने झूले पर खुशियों की मामूली पेंग भरने की कोशिश अन्ततः इस कृषक को सड़क पर मजदूरी करने के लिए पटक देती है। बाहर से व्यवस्था की जितनी अधिक मारें पड़ रही थी, भीतर ध्वस्त हो रहे अपने जीवन-संसार को किसी भी प्रकार खड़ा करने की इच्छा उसमें उतनी ही बलवती हो जाती थी। जिन्दगी से जूझने की इतनी ताकत कृषकों में ही रह सकती है, प्रेमचंद इसे बखूबी समझते थे। लेकिन महाजनी सभ्यता के शिकंजे इतने कठोर होते जा रहे थे कि बहुत थोड़ी खुशियों तथा बहुत थोड़े सम्मान के साथ जीने की इच्छा अन्ततः थक-हार कर दम तोड़ देती है। महाजनी सभ्यता की लू में होरी की हत्या हो जाती है। ताल्सटाय की कथाओं में मिलने-वाली आध्यात्मिकता की भाँति प्रेमचंद के कथानायकों के मन में एक यूतोपिया या

सुखी जिन्दगी का स्वप्न दिखाई पड़ सकता है। लेकिन इस बात से क्या इन्कार कर सकते हैं कि गरीबी या सामाजिक विषमता की चक्की में पिसते हुए भी ये पात्र संघर्ष के किसी न किसी पथ की तलाश में लगे दिखते हैं। इनके भीतर से मानो एक युग अपना रास्ता खोज रहा था। राजनीति और संवेदना का रिश्ता यहीं गहरा हो जाता है। यह तलाश यथार्थवादी आधार पर जारी रहती है, क्योंकि इसमें एक कथाकार की चेष्टा लगी हुई है। फलतः एक कृषक-पीढ़ी के रूप में होरी के अवसान के बाद भी यह संघर्ष रुकता नहीं। गोबर की पीढी का उभरना, तैयारियाँ करना, जीने की कोशिशों के क्रम में प्रयोग करना और अन्ततः लड़ाई जारी रखना इसका प्रमाण है। गोबर भी होरी की नहीं, अपनी लडाई लडता है। उसकी अपनी सार्थकता इसी में है कि गलत या सही कदम उठाते हुए वह अपनी नजरों मे जीवन—संसार की क्रूरताओं को देखे और इनका सामना करे।

अब सवाल है कि होरी के संघर्ष को गोबर कितना आगे बढा पाता है। प्रेमचंद की लड़ाई को उनके बेटे या नाती-पोते आगे नहीं बढ़ा सके। जहाँ तक गोबर का सवाल है, प्रेमचंद ने इसे एक कन्फ्यूज्ड पात्र बनाकर छोड़ दिया, क्योंकि प्रेमचंद इसे लेकर स्वयं दिग्भ्रमित थे। गोबर को लेकर कोई वर्गीय अवधारणा उनके मन में उस तरह स्पष्ट नही थी, जिस तरह होरी को लेकर थी। होरी की मृत्यु एक त्रासद यथार्थ है। लेकिन जिस होरी ने प्रौढ़ रामसेवक से रूपा की शादी करके अपने जीवन की जबर्दस्त हार-स्वीकार की थी, वही अपने भाई हीरा के घर लौट आने पर अपनी मृत्यु के कुछ पूर्व ही कहता है—'कौन कहता है, जीवन संग्राम में वह हारा है। यह उल्लास यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं। इन्हीं हारों मे उसकी विजय है। उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजय पताकाएं हैं।' होरी की छाती फूल उठती है और मुख पर तेज आ जाता है। सिर्फ अपने एक भाई के लौटने मात्र से नहीं, बल्कि एक भूले-भटके किसान के कृषि-जीवन मे लौट आने पर। वही गोबर के वापस शहर जाने से वह दुखी हो गया था। गोबर शहर से जो बोध लेकर रूपा के विवाह में आया था, उसका एक नमूना देखें - 'वह गुलामी करता है, लेकिन भरपेट खाता तो है। केवल एक ही मालिक का तो नौकर है। यहाँ तो जिसे देखो वही रोब जमाता है। गुलामी है, पर सूखी।' गोबर एक अच्छी महिला मालती के यहाँ नौकर बनकर संतुष्ट हो गया है। क्या संघर्षशील नई पीढी का यही भविष्य है?

गोबर मे प्रेमचंद ने मजदूर वर्ग के चरित्र को भी ठीक से उभारने की चेष्टा नहीं की। अन्ततः उसे कुसंगति में डालकर मतलबी बना दिया। श्रमिक-विद्रोह के फलस्वरूप खन्ना की शक्कर मिल को मालिक वर्ग के स्वार्थों के खिलाफ भस्मीभूत कर दिया जाता है। यह कार्य प्रेमचंद की उद्योगविरोधी दृष्टि पर तो मुहर लगाता है। लेकिन कथाकार ने गोबर को कृषि-क्रान्ति के लिए कितना तैयार किया? वे गोबर के भटकाव को आधुनिकतावादी आधार भी नही प्रदान कर सके, क्योंकि यह उनकी कथा-सीमा के बाहर की बात थी। वस्तुतः होरी के पास ही प्रेमचंद अपनी समस्त कला और यथार्थ-

वादी दृष्टि के साथ क्यों ठहर जाते है ? गोवर एक ओर खेत से भागता है। वहाँ वदलाव की राजनीति के लिए सक्रिय मन नही रखता। दूसरी ओर मजदूर आन्दोलन की कमजोरियों को अवश्य चित्रित करना चाहिए था, पर इसका अत्यन्त सतही रूप ही उपस्थित किया गया है। गोवर मालिक वर्ग के हृदय परिवर्तन में थोड़ा-बहुत विश्वास करने लगता है और शहर की पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ निरन्तर संघर्ष की ओर नही वढता। प्रेमचंद की यह असफलता तत्कालीन राजनीति की गलती का परिणाम थी। भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रधान अन्तर्विरोधों को समझने में जड़ से ही गलती हुई। कृषि-क्रान्ति का आधार तैयार करने के स्थान पर औद्योगिकरण की प्रक्रिया पर अधिक निर्भरता दिखायी गई। चीन की भांति सामन्तवादी शोषण.से मुक्ति के लिए गांवों को संघर्ष का प्रधान क्षेत्र नही चुना गया। प्रेमचंद यही चाहते थे। वे मिलों को खोद क खेत बनाना चाहते थे। वे यह भी देख रहे थे कि जो उद्योगपति हैं, उनके वडे कृषि-फार्म या जमीनें भी है। मान लेना चाहिए कि होरी की सीमा ही प्रेमचंद की भी सीमा है। वैसे वोध के एक भिन्न स्तर पर गोवर भी सोचता है—'अपना भाग्य खुद वनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पानी होगी। कोई देवता, कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने नही आयेगी।' लेकिन इस सोच में उसमे सिर्फ यह फर्क आता है कि वह अव नम्र और उद्योगशील हो गया है।

प्रेमचंद की दो-पाच रचनाओं अथवा आठ-दस वाक्यों के आधार पर क्या उनका सही मूल्यांकन किया जा सकता है ? आज प्रेमचन्द की ही दो रचनाओं को एक-दूसरे से लड़ाकर देखा जा रहा है, जवकि इनमें विकास खोजना चाहिए। एक अन्य विडम्बना भी है कि प्रेमचंद को तो मान्यता दी जा रही है, लेकिन उनकी रचनाओं को नही। उनकी अपनी ही रचनाओं से काटकर उनकी महानता मापी-तौली जा रही है। मजे की वात तो यह है कि आज के कई छद्म लेखक प्रेमचंद से समग्रतया नही, वल्कि उनके किसी छोटे से मनपसन्द टुकड़े से जुडना चाहते हैं। वे उन्हे मार्क्सवादी या अमार्क्सवादी सिद्ध करने में ज्यादा व्यस्त हैं। अगर वे मार्क्सवादी थे, तो पूछना चाहिए कि क्या वे वैसे ही मार्क्सवादी थे, जैसे कि आज के कई लेखक है और अपने को मार्क्स-वादी कहते रहते है।

हमे विचार करना होगा कि आज प्रेमचंद के किस रूप को जनता के सामने रखा जाय, ताकि उनके साहित्य की एक वास्तविक और प्रासंगिक तस्वीर उभरे। साथ ही जनवादी आन्दोलन को मदद पहुंचे। प्रेमचंद का आज जो भी व्यक्तित्व हमारे सामने है, इसका निर्माण उनके संघर्षशील सामाजिक पात्रो ने किया है। इनमे से कुछ की ही ऊपर विवेचना की गई है, फिर भी इससे यह संकेत मिल सकता है कि उनका हर अगला संघर्षशील पात्र पिछले पात्र की लडाई को आगे वढाता है और इसके माध्यम से भारतीय समाज में वर्ग संघर्ष के राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक और आर्थिक, आधार भी खुलासा होते है। अपने देश की आत्मा में झांककर प्रेमचंद ने भारतीय जनता की संघर्षशील शक्ति की थाह ली थी और देखा था कि इसमे समझ की कही कमी नही है।

कमी है तो राजनीतिक शिक्षण और ऐसे सही संगठन की, जो इनके जीवन संघर्षों को जोड़कर व्यापक क्रांति का रूप दे सके। जनता कितनी समझदार है, इसकी एक झलक गोदान मे मिलती है, जब गाँव के युवक महाजनी शोषण पर एक प्रहसन खेलने हैं। एक दृश्य में एक किसान झिंगुरी सिंह का पैर पकड़ कर रोने लगता है। बड़ी मिन्नत के बाद जब उसे कर्ज मे १० की जगह सिर्फ ५ रुपये ही मिलते हैं, तो वह चकरा कर पूछता है—'यह तो ५ ही हैं मालिक ?' 'पाँच नही दस हैं, घर जाकर गिनना'। झिंगुरी सिंह कहता है और बतलाता है कि इनमें एक-एक रुपया नजराना, तहरीर, कागद, दस्तूरी और सूद का है और ये नगद पांच हैं।

'हां सरकार अब यह पांचों भी मेरी ओर से रख लीजिए।'

'कैसा पागल है ?'

'नही सरकार एक रुपया छोटी ठकुराइन का नजराना है। एक रुपया बड़ी ठकुराइन का। एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने का। एक बडी ठकुराइन के पान खाने का। बाकी बचा एक, वह आपके क्रिया-करम के लिए।'

जो आलोचक अपनी राजनीतिक गलतियों के कारण असफलता का सारा दोष जनता पर डालते है अथवा इसे गंवार और मूर्ख मानते है, उन्हे ऊपर की पंक्तियो मे जनता की प्रकट हुई समझदारी से सबक लेना चाहिए और अपनी ही राजनीति का आत्मविश्लेषण करना चाहिए।

प्रेमचंद के बाद के कथाकारों ने प्रेमचंद के यथार्थ और संघर्षशील पात्रो के संघर्ष को कितना और किस रूप में आगे बढाया है ? यह एक जरूरी सवाल है, पर यहां के लिए नहीं। वस्तुत: एक ग्रामीण परिवेश गढ़ना और एक संघर्षशील कथानायक की रचना करना ये दो भिन्न बातें हैं। क्या प्रेमचंद की संवेदना और दृष्टि का विकास उनके द्वारा संकेतित अंचलों के परिवेश तथा रचित पात्रों में विकास के बिना संभव है ? जन-जीवन से आये प्रेमचंद के पात्रों ने सामाजिक संघर्ष को जिस बिन्दु तक पहुँचाया था, उसका विकास किये बिना उनकी संवेदना और दृष्टि से सरोकार नही बन सकता। गाँव के जीवन में 'कम गति' नही, 'गहरी गति' होती है। शहर के पूंजीवादी जीवन में 'गति का पागलपन' भले हो, पर अंचल या गांव की भाँति इसमें गति की गहरी मानवीयता और संघर्षशीलता नही होती। हमे 'गति के चित्र' के साथ कथा-साहित्य मे उपस्थित 'जीवन-चित्र की गति' भी देखनी होगी। प्रेमचंद के बाद के कथा-साहित्य में वर्गचेतना से प्रेरित संघर्षशील पात्रों के स्थान पर पूंजीवाद की विकृतियों से उत्पन्न परिवेश ही प्रधान होने लगा था। परिवेश से अधिक परिवेश का आतंक। पात्र मे जब संघर्ष का यथार्थवादी आधार प्रस्फुटित होता है, तो यह आतंक टूटता है। लेकिन जब पात्र अपने भीतर ही लगातार भागता रहता है, तो यह आतंक और विकराल रूप ले लेता है। इसीलिए पिछले दिनो की 'नई कहानियां' अपने भीतर रहने की प्रक्रिया मे परिवेश की 'निरन्तर विकरालता' की कहानियां हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि कथा-साहित्य मे परिवेश रह गया, लेकिन चरित्रो का लोप होने लगा। इसके साथ मनुष्य की चेष्टाओं

का लोप होने लगा। मनुष्य लघु होते-होते परिवेश मे विलीन होता गया। इसके सामने डटा नही रह सका। आखिरकार साहित्य में कला की कोई भी कोशिश मनुष्य की आकाक्षाओं और संघर्षों को पहचान कर इन्हे खड़ा करने की होती है, इन्हें समाप्त करने की नही।

सिर्फ हिन्दी मे नहीं, विश्व के कथा-साहित्य मे उपरोक्त प्रवृत्ति लक्षित हुई। यह पूजीवादी-साम्राज्यवादी माहौल का आतंक था, जिसमे मनुष्य का अस्तित्व निराशा और विलगाव मे धंस जाता था। इस संदर्भ मे कुछ आलोचकों ने यहाँ तक कहा कि यथार्थवादी चरित्रो का युग लद गया है। नथाल्या सराते ने लिखा कि 'नये उपन्यासो' मे चरित्र का लोप हो गया है' (द एज आफ ससपिशन)। राब्व ग्रिले ने घोषणा की कि 'चरित्रगत उपन्यास अब अतीत की वस्तु बन गये है' (फार ए न्यू नावेल) जान हाक्स उपन्यास के चरित्रों की परिभाषा देते हुए यहाँ तक कहता है कि ये उपन्यास के वास्तविक शत्रु हो है। उपन्यास के रूप तथा पात्रो की परम्परागत अवधारणा जब इतनी तेजी से बदलने जा रही हो, तो प्रेमचद क्या आज प्रासंगिक लगते है? इस सवाल का जवाब देने से पहले हमें अपने मन मे सोच लेना चाहिए कि प्रेमचंद के पहले कथा-साहित्य की कौन सी पृष्ठभूमि थी और उनके अपने युग की सामाजिक-राजनीतिक चेतना का स्तर क्या था।

प्रेमचन्द के पात्र अभी भी यह अहसास कराते हैं कि उन्होने अपने परिवेश के आतंक को किस प्रकार खण्डित किया था और जीने की लडाई तेज की थी। ये मूक भोक्ता नही थे। इन्ही आधारो पर आज प्रेमचन्द और उनके संघर्षशील पात्रो की प्रासंगिकता बनी हुई है। ये पुराने पड चुके है, जिस प्रकार स्थितियों की क्रूरता का नया विकास हो चुका है। फिर भी उन पात्रों की जीवन्तता, सफाई, मानवीय संवेदना और जनवादी दृष्टि का महत्व आज हमारे सामने है। इसके समक्ष पात्रो की अस्तित्वहीनता का तर्क फीका पडता जा रहा है। लेकिन ध्यान रहे कि जब भी हम प्रेमचन्द की प्रासंगिकता की चर्चा करते है, तो इसका अर्थ प्रेमचन्द की ओर वापिसी नही होता। बल्कि यथार्थवाद के जनवादी विकास की प्रक्रिया में अपनी कथा-परंपराओ को सही-सही समझना होता है। ताकि जनजीवन से संवेदनशील और वैचारिक स्तर पर जुड़ने की एक नयी दिशा उभरे। इस क्रम मे पात्रगत चरित्रों का लोप नही होता। बल्कि नयी जनवादी भूमिका लेकर इनकी एक बुनियादी अवधारणा पैदा होती है अर्थात संघर्षशील पात्र की अवतारणा के साथ इसके निर्माण की मनोसामाजिक प्रक्रिया पर जनवादी उपन्यासकार अधिक बल देता है। दूसरे शब्दों मे उपन्यास के पात्र अपने परिवेश मे मिट नही जाते, बल्कि इनकी अवधारणा बदल गई रहती है। हाल के वर्षो में हिन्दी उपन्यास का पाठक वर्ग जितनी तेजी से बदला है, इसके आलोचक अभी वहीं हैं।

□

प्रसाद का पुनर्मूल्यांकन

हिन्दी के एक महत्वपूर्ण कवि जयशंकर प्रसाद को लोग भूलते जा रहे है। कॉलेज-विश्वविद्यालयों में आप नहीं हों, तो लगेगा भी नही कि इस नाम का कोई कवि कभी था और आज किसी संदर्भ मे उसकी प्रासंगिकता हो सकती है। नयी पीढी की जीभ पर यह पुराना नाम आज कुछ इसलिए भी विकर्षण पैदा करता है कि इसका संबंध छायावाद से है। बाकी कवि तो किसी प्रकार इस भाव-संसार को लांघ गये ; आगे की ओर बढ गये, या पीछे की ओर हट गये, लेकिन प्रसाद की कविता समग्रतया इसी के बीच जीवित रही, पली और खत्म गयी। उन्होने अपने स्तर पर युग के हर अच्छे-बुरे क्षण को जिया, भरपूर भाव से इसे अपनाया। जितना लिखा, उसमे अपना पूरा जीवन भर दिया। जो छायावाद उन्हें तिरस्कार के रूप मे मिला था--एक विष-प्याले के रूप मे--उसे उन्होंने एक सबल चुनौती के रूप में स्वीकार करके नया मानवीय अर्थ देने की कोशिश की।

आदमी के जीवन का वह कौन सा-अर्थ था, जिसकी तलाश में प्रसाद ने अनेक छोटी कविताओ की रचना की और एक महाकाव्य भी लिखा ? नाटकों और कथा-साहित्य की ओर भी गये। उनकी कविता में जिस प्रकार हर अनुभूति अपनी अलग जीवन-शैली खोजती थी, गद्य में भी हर संवेदनशील पात्र सामाजिक परंपराओंसे कुछ अलग हट कर जीना चाहता था। 'मधुआ' का शराबी, एक असहाय बालक के प्रति गहरी करुणा से भर जाता है। उनके प्रेम के कारण उसमें जीवन की एक नयी भूख पैदा हो जाती है। 'गुंडा' मे नन्हकू सिंह प्रेम के लिए सामंतवादी शक्तियों से मुकाबला करता है और अन्त में मारा जाता है। एक 'चूड़ीवाली' अपनी वर्ग स्थिति की परवाह नही कर बाबू विजय कृष्ण से प्रेम करती है और अपने त्याग के बल पर उन्हे प्राप्त भी कर लेती है। 'ममता' का सेवा भाव मुगल बादशाह की कृपा से निलिप्त रहता है। इन कहानियों को हम किस आधार पर उपेक्षित कर सकते हैं ? निश्चय ही प्रेम, प्रसाद के साहित्य का केन्द्रीय भाव है, लेकिन इसकी समग्र अवधारणा वर्ग और वर्ण व्यवस्था के सामाजिक अंतर्विरोधों पर टिकी हुई है। जिस बिंदु पर यह राष्ट्रीय आधारों की ओर बढ़ जाती है, वहां इसकी टकराहट सामंती और साम्राज्यवादी शक्तियों से भी होती है। प्रसाद महंतो-जमींदारों को चुनौती देने में जरा भी हिचकते, तो 'तितली' जैसे उपन्यास की रचना नहीं कर पाते। कृषि जीवन का यह एक पीडा भरा यथार्थवादी उपन्यास है। तितली की अदम्य जिजीविषा, मधुबन का संघर्ष तथा बालक मोहन की संवेदन-शीलता ग्रामीण दमन के परिवेश में अविस्मरणीय है। प्रसाद की रचनाओं में प्रचुर

रोमांटिकता है। लेकिन, जहां इसका सामाजिक-आर्थिक और राष्ट्रीय आधार स
रहता है, वहां वे मानवीय यथार्थ का आत्मीय साक्षात्कार करते हैं एवं पराधीन भा
की पददलित मानसिकता में नये आशामय संघर्ष का सांस्कृतिक बीजारोपण भी।

जिस प्रकार भारतेन्दु-साहित्य की पृष्ठभूमि में १८५७ का सिपाही विद्रोह
और यह विद्रोह अंग्रेजों की राजनीतिक पराधीनता की मुक्ति-चेतना के साथ साम
अत्याचारों की खिलाफत के रूप में भी उभरा, छायावादी लेखन की पृष्ठभूमि मे राष्ट्री
स्वाधीनता संघर्ष की शहादत थी। तिलक, गोखले, गांधी की लड़ाई के साथ हिंदुस्ता
रिपब्लिकन आर्मी की सम्पूर्ण स्वाधीनता की मांग थी। द्विवेदी युग ने हिंदी पुनर्जागरण
का जो आदर्श खड़ा किया था, वह मोटे सुधारवादी भटकावों में बह जाता, अगर कोरे
सुधारवादी मूल्यों एवं रीतिकालीन सामंती प्रवृत्तियों के विरुद्ध समग्र मानव मुक्ति क
एक नया स्वर नहीं गूंजता, 'सरस्वती' में अंग्रेज वायसरायों की तस्वीरें भी छपती थीं।
अतः छायावादी युग मे अंग्रेजी सत्ता का सम्पूर्ण विरोध प्रथम बार प्रकट हुआ। इस दौर
मे ऐसी साहित्यिक पत्रिकाएं 'इंदु', 'मतवाला', 'रंगीला' आदि भी निकलीं, जिन्होंने उन
नीतियों और दबावों को अस्वीकार कर दिया, जिन्हें सरस्वती जैसी पत्रिकाएं ढो रही
थी। राजनीतिक, वैचारिक एवं भावनात्मक संघर्षों के इस विकास के कारण विक
और दुविधाओं मे घिरे हुए तत्कालीन भारतीय मन को संकल्पात्मक नये कर्म की आव
सुनाई पड़ी— 'मेरे विकल्प सकल्प बनें, जीवन हो कर्मों की पुकार।'

लेकिन राजनीतिक आजादी की चेतना के साथ प्रसाद और निराला जै
साहित्यकारों मे मनुष्य की समग्र स्वछंदता का स्वप्न भी था। इस स्वप्न के प्रति निराल
में निराशा कुछ अधिक है और प्रसाद में आशा का भाव अपेक्षाकृत ज्यादा है, क्योंकि
वे वर्तमान से असंतुष्ट थे, परंतु इससे विचलित नहीं थे। 'सुख से सूखे जीवन मे' प्रसाद
जिस 'आंसू' या करुणा का आह्वान करते है, वह प्रभात के हिमकण की भांति उज्ज्वल
है। करुणा इस अर्थ मे परिवर्तन की वाहक है कि यह तमाम बंधनों-रीतियों को खंडित
करके आनंद की वेदना के रूप में प्रकट होती है। मानवीय करुणा के संघर्षशील धरातल पर
प्रसाद इस 'दुख-दग्ध जगत' को एक ऐसे 'आनंदपूर्ण स्वर्ग' में बदलना चाहते थे, जिसमे
न केवल मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण खत्म हो, बल्कि उसे एक गौरवपूर्ण व्यक्तित्व
भी प्राप्त हो। करुणा मनुष्य को व्यक्तिगत विषाद से मुक्त कर देती है और सामा-
जिक रूप से सकर्मक बनाती है। प्रसाद स्वाधीनता के साथ समता का रसात्मक बोध
(समरसता) चाहते थे, इसीलिए उनमें राष्ट्रीय सामाजिक जागरण का भाव मिलता
है। निराला मे इसका एक विक्षुब्ध और संघर्षशील स्तर फूटा है, जबकि प्रसाद मे गहन
चिंतनपरक स्तर।

नाटकों में प्रसाद ने ऐसे विद्रोही पात्रों की रचना की, जो सामंती एवं साम्राज्य-
वादी शासन-व्यवस्था की ईंट-से-ईंट बजा देते हैं। इनमें प्रसाद ने इतिहास को सामा-
जिक स्मृति एवं युगीन जन-भावनाओं का द्वार बनाया है। वे अतीतजीवी नहीं थे, बल्कि
वर्तमान को ही कुशलतापूर्वक अभिव्यक्त करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने कई स्थलों

पर ऐतिहासिक तथ्यों की परवाह नहीं की। उनके नाटक अधिक मुखरता से स्पष्ट कर देते है कि अपने देश को वे विदेशी शासकों से क्यों मुक्त देखना चाहते थे। वे देख रहे थे कि अंग्रेजी राज्य का जुल्म बढ़ रहा है, साथ ही इसके संरक्षण मे सामंतवादी शोषण भी गहरा हो रहा है। फलस्वरूप तीव्र जन-विक्षोभ है, जिसकी वे उपेक्षा नहीं कर सकते थे। 'विशाख' में न्यायहीन राज्य और दृष्टिहीन धर्म के प्रति विद्रोह, प्रसाद के साहित्यिक उद्देश्य का खुलासा कर देता है। इसमे राजा जनता का अभियुक्त बनता है। प्रेमानंद राजशक्ति को सचेत करता है—सत्ता का अपव्यय मत करो।' तथा नारी पात्र कहती है— 'अन्याय का राज्य बालू की एक भीत है।' 'ध्रुवस्वामिनी' मे नारी की स्वतंत्र भावना के साथ राज्य के जिस अन्याय और राजा की विलासिता, स्वार्थवता तथा शासकीय अयोग्यता का चित्र खीचा गया है, वह भारत की सामती राज-व्यवस्था से भिन्न नही है। प्रसाद के साहित्य मे आकर नारी प्रथम बार सामंती बंधनों से मुक्त हुई है और नर-नारी समता के मार्ग मे आगे बढी है।

अजातशत्रु में पद्मावती छलना से पूछती है— '*क्या कठोर और क्रूर हाथों से राज्य सुशोभित होता है ?*' इस नाटक मे विरुद्धक युवा-भावनाओं का प्रतीक होने के साथ सामंती दमन के खिलाफ आवाज उठाने वाला एक साहसी भी है। 'लहर' मे भी है। 'आह रे वह अधीर यौवन ! अरे अभिलाषा के यौवन !' अभिलाषा के बिना प्रगति नही है। यह युवा पीढ़ी के मन में ही पैदा हो सकती है। दरिद्र कन्या रूप में तिरस्कृत मागधी और 'कोसल में कंकड़ी से भी गयी-बीती' दासी पुत्री शक्तिमती का आक्रोश भी अभिव्यक्त हुआ है। छलना एक स्थान पर तिलमिला कर पूछती है— 'और नीचे के लोग वही रहें। वे मानो कुछ अधिकार नही रखते ? ऊपरवालों का यह क्या अन्याय नही है ?' 'जनमेजय का नागयज्ञ' घृणा से दबायी गयी नाग जाति का आक्रोश प्रकट करने के साथ शोषित वर्ग के सहज मानवीय आक्रोश को भी अभिव्यंजित करता है। 'स्कंद-गुप्त' अगर ऐसे राष्ट्रीय नायक का प्रतीक है, जिस पर स्वाधीनता आंदोलनो की असफलता की वेदना प्रतिबिंबित हुई, तो चंद्रगुप्त अंग्रेजो से जूझते देशवासियों को नये सिरे से आश्वस्त करता है। प्रसाद के नाटक इतिहास से उपज कर भी अपने युग से बंधे रहते हैं तथा तत्कालीन आशा, आकाक्षा एवं संघर्षों की कहानी कहते है। इनकी यह कमी है कि ये रंगमंच के दृष्टिकोण से असफल है, किंतु ये पाठकों द्वारा व्यापक स्तर पर पढ़े गये हैं और इनसे राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ है। राष्ट्रीय चेतना तीन प्रकार की होती है—अंध, खंडित और प्रगतिशील। अंध-राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद की ओर ले जाती है, खंडित राष्ट्रीयता पूंजीवाद की ओर तथा प्रगतिशील राष्ट्रीयता सच्चे जनतंत्र की ओर। प्रसाद में प्रगतिशील राष्ट्रीयता मिलती है। 'स्कंदगुप्त' में विजया कोमल कल्पनाओं के लचीले गान तथा प्रेम के पचड़ों को छोड़ कर मातृगुप्त से वह उद्बोधन गीत सुनाने के लिए कहती है, जिसमे अँगड़ाइयां लेकर मुचकुद की मोहनिद्रा से भारतवासी जाग पड़ें। इतना ही नही, राष्ट्रीयतावादी शक्तियों को संघर्ष पथ पर मिलने वाले कष्टों का उल्लेख कर प्रसाद ने पर्णदत्त से स्पष्ट शब्दों में कहलाया,

'अन्न पर स्वत्व है—भूखों का, और धन पर स्वत्व है—देशवासियों का।' देवसेना का छायावादी प्रेम भी स्कंदगुप्त को निकम्मा नहीं बनाता, उसे साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी शक्तियों के खिलाफ संघर्ष करने हेतु सक्रिय करता है।

प्रसाद की स्फुट कविताओं का संकलन 'लहर' हम देखें, तो इसमें अन्तिम चार कविताएं ऐतिहासिक आधारों वाली हैं। इनमें जातीय सांस्कृतिक चेतना की प्रखर अभिव्यक्ति, करुणा, वीरता, संघर्ष के आह्वान तथा एक पतित के आत्म-साक्षात्कार की भूमि पर हुई है। इस संग्रह की बाकी कविताओं में कुछेक को छोड़ कर ऐतिहासिक मिथक ग्रहण नहीं किये गये हैं। क्या इसीलिए वे प्रेम और प्रकृति की मात्र सौंदर्यवादी कविताएं हैं? इसमें कोई संदेह नहीं कि निराला और महादेवी की ही भांति प्रसाद की गद्य रचनाओं में कविता की अपेक्षा सामाजिक स्वर अधिक खुलासा है। उनमें अनुभव और विश्लेषण का स्तर ज्यादा आधुनिक है। गद्य की मूल प्रवृत्तियों के कारण यह स्वाभाविक भी है। लेकिन यह कहना गलत है कि रचना की अलग-अलग विधाओं में रचनाकार का मूल दृष्टिकोण भी भिन्न-भिन्न होता है। अगर प्रसाद की कहानियों उपन्यास और नाटक में राजनीतिक-सामाजिक चेतना अपने तत्कालीन साहित्यिक रूप-विधान में अभिव्यक्त हुई है, तो हमें समझना चाहिए कि उनकी कविताएं भले आत्मनिष्ठ हों, लेकिन यह भी किसी-न-किसी स्तर पर अपने उसी सामाजिक वस्तुगत आधार से जुड़ी है। इस छायावादी काव्य की छायामयी भाषा के भीतर राजनीतिक चेतना का कौन-सा मानवीय स्तर मिलता है, इस पर विचार करना चाहिए।

प्रसाद ने राजनीति को संस्कृति के व्यापक अर्थ में समेट कर ग्रहण किया। इसलिए उनकी कविता में सभी सामाजिक-आर्थिक चुनौतियां, मुख्यतया त्रासदी में फंसे मानवीय अस्तित्व की भावनात्मक चुनौतियां बन कर आयीं। प्रकृति और प्रेम के समीप कवि इसलिए गया कि बंधनों-कुंठाओं और निराशाओं से घिरे मनुष्य को प्रकृति खोल देती है, उन्मुक्त कर देती है, आशाएं भर देती है। पराधीन आदमी प्रकृति से स्वच्छंदता सीखता है लेकिन अपनी नयी भावनाओं को संस्कारता-शोधता है, प्रेम के द्वारा। प्रेम मनुष्य को व्यक्तिमुक्त कर देता है, उसे व्यापक बनाता है, फैलाकर सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर भी ले जाता है। प्रसाद का प्रेम श्रांत भवन पर टिक कर रुक जानेवाला व्यक्तिगत प्रेम नहीं था। वह व्यापक मानवीय जीवन के प्रति था, क्योंकि वह सौंदर्य और इसका फलक व्यापक था, जिससे प्रेम उत्पन्न हुआ। यह सौंदर्य प्रलय की छाया का विलासितापूर्ण रूप-सौंदर्य नहीं है, जो मृत्यु के आलोक में खंडित हो गया। इसका मूल्य उपलब्धि में निहित है, उपभोग में नहीं। 'लहर' उन मानवीय आशाओं और अभिलाषाओं की प्रतीक थी, जो राजनीतिक संघर्ष की तीव्रता के साथ-साथ कुचले और सूने भारतीय मनों में पैदा हो रही थी—

उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर!
करुणा की नव अंगराई-सी

मलयानिल की परछाईं-सी
इस सूखे तट पर छिटक छहर !

'आंसू' और 'स्कंदगुप्त' कालगत दृष्टि से निकट की रचनाएं हैं और इनमें असफलता की वेदना का प्रतिबिंब है। 'चन्द्रगुप्त' और लहर' की निकटता भी प्रमाणित है, क्योंकि इनमें नयी आशाएं प्रकट होती है। कभी लहर, कभी रागारुण अरुणोदय, कभी उषा नयन से निकलती अमर जागरण की घनी ज्योति, कभी बिहाग, कभी नयी भूमिका सँभालते हुए अधीर यौवन, कभी जीवन के प्रभात, वृंदावन के रूप में परिवर्तित होता हुआ जला जगत, कभी किसलय, आग, पिंगल किरणों राका इत्यादि प्रकृति रूपों में ये भावनाएं प्रकट हुई हैं। वेदना, करुणा और आशा-प्रेम के इन तीनों धरातल पर कवि मानवीय परिवर्तन में आस्था व्यक्त करता है। जन पीर से उसकी व्याकुलता का प्रमाण हमें 'चित्राधार' में व्यर्थ ईश्वरीय पूजा के तिरस्कार से मिलता है—

ऐसो ब्रह्म लेइ का करिहै
जो नही करत, सुनत नही जो कुछ
जो जन पीर न हरिहैं।

और मानव के प्रति कवि का कैसा गहरा वैचारिक लगाव है, यह कामायनी में प्रकट होता है।

यहां यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि प्रसाद साहित्य की शास्त्रीय, पांडित्यपूर्ण और अकादमीय आलोचना ने भारी धुंध पैदा की है। खास तौर से काव्य की आलोचना ने उनको आध्यात्मिक, रसवादी, प्रकृति के चितेरे, पलायनवादी इत्यादि क्या-क्या नही सिद्ध किया। हिंदी के कुछ व्यक्तिवादी लेखकों को गौरव से विभूषित करने के लिए उनके नाम पर एक व्यष्टिमूलक परंपरा ही खड़ी कर दी गई, जिससे प्रसाद को वस्तुवादी धरातल पर समझने में कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी। प्रसाद व्यक्ति की अनुभूतियों के नही, समाज सापेक्ष मानवीय अनुभूतियों के रचाकार है। उनकी अनुभूति का निजी स्तर विकसित हो कर अपने अन्तर्विरोधों के साथ राष्ट्रीय और सामाजिक आयामों मे ढल गया है।

यह हिन्दी आलोचना का दुर्भाग्य है कि किसी को उठाना होगा, तो माथे के बहुत ऊपर उठा लेंगे। उपेक्षित करना होगा, तो नाम तक नही लेंगे। मैं ऐसा नही कहता कि प्रसाद की सीमाएँ नहीं हैं। ये बहुत ज्यादा है। उसी युग के प्रेमचंद से कहीं ज्यादा है। सबसे बड़ी सीमा तो उनकी भाषा और शैली है, छोटी कविताओं की अति सूक्ष्मता और महाकविता (कामायनी) की भ्रांतिकर स्फीति है, उनके उलझे हुए वैचारिक स्वप्न हैं, तथा ये सभी उनके युग की भी सीमाएँ है, जिनमे अभी साहित्यिक और वैचारिक संघर्ष तीव्र होना प्रारम्भ हुआ था। लेकिन सिर्फ इन्ही वजहों से प्रसाद के साहित्य की मूल अन्तर्वस्तु की वास्तविक पहचान करने से कतराना नही चाहिए। उनकी भाषा की व्यंजना और काव्य-पद्धति को समझते हुए उनकी और उनके युग की मानवीय भाव-

नाओं को प्रगतिशील राष्ट्रीय मूल्यों के लिए संघर्ष के सन्दर्भ में यथोचित महत्व देना चाहिए। इन मूल्यों के लिए संघर्ष के बिना मानवीय एवं सच्चे जनतन्त्र की भावनाओं का विकास सम्भव नहीं था।

'कामायनी' को समझने के मार्ग मे जहाँ इसकी विविध दार्शनिक व्याख्याएँ बाधक है, वही प्रसाद की भूमिका भी, जिसमें कहा गया है कि 'मनु अर्थात मन के दोनो पक्ष—हृदय और मस्तिष्क, का सम्बन्ध क्रमश. श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।' हृदय और बुद्धि का इन आधारों पर किया गया विभाजन अवैज्ञानिक है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सत्य मे श्रद्धा की स्थापना की गई है तथा उपनिषदों में जिज्ञासा, प्रेरणा, विवेक के अर्थ में भी श्रद्धा का प्रयोग हुआ है। प्रसाद के लिए हृदय, मनुष्य के मन के भावनात्मक मूल्यों का आगार है तथा बुद्धि उसी मन के तर्क और विज्ञान का स्रोत। पर 'कामायनी' में मनु की समस्या नहीं, मानव की समस्या है। इसकी भाषा में कवि की 'आत्मपरक रीति' (मुक्तिबोध) झलकती है, लेकिन उन्होंने अपने जीवन का सारा चिंतन मन के लिए नहीं, मानव के लिए न्योछावर किया। वह ऐसा पात्र है, जो कामायनी मे प्रायः अनुपस्थित एवं मूक होकर भी प्रसाद की विचारानुभूति के माध्यम से सर्वाधिक मुखर हुआ है। रचनात्मक काम के मिथक के द्वारा मूलतः मानव के संघर्ष, आस्था और बौद्धिक-वैज्ञानिक यात्रा का चित्र उपस्थित किया गया है। श्रद्धा, इड़ा और कैलाश लोक की समरसता वस्तुतः मानव जीवन के द्वन्द्वात्मक विकास की कथा है। प्रसाद एक विशुद्ध भौतिक कथा कहना चाहते थे, भले उनकी भाषा छायावादी काव्य पद्धति से बँधी हुई हो तथा यह आगे चलकर रहस्यात्मक भी हो गई हो।

सवाल यह है कि अगर उन्हें कथा मानव के भौतिक जीवन की कहनी थी, तो उन्होंने 'कामायनी' (१९३६) के लिए इस तरह की भाषा का चुनाव क्यों किया? उन्ही दिनों एक कृति आयी थी 'गोदान' (१९३६), जिसमें एक भिन्न तरह की हिन्दी है। युग का दबाव इन दोनों कृतियों में है। यह सम्भव नहीं था कि एक ही समय की दो श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों की मूल अनुचेतना में इतना बड़ा फर्क हो कि एक तो इस लोक की कथा कहे, अर्थात होरी की और दूसरी कृति उस लोक में जाने की कथा कहे, अर्थात मनु-श्रद्धा के कैलाश लोक जाने की। मूल बात यह है कि कामायनी मे हिन्दी कविता के संस्कार काम कर रहे थे, जिसमें भावुकता और दार्शनिकता सदियों से रही, जबकि प्रेमचंद के लिए गद्य एक नवीन माध्यम था। दोनों ही कृतियों के अन्त में एक धार्मिक 'रिचुअल' है। गद्य में लिखे जाने के कारण 'गोदान' अधिक यथार्थ बन गया है, जबकि कामायनी के अन्तिम सर्ग भ्रान्तिकर दार्शनिक स्फीति के शिकार है। मनु भी आधुनिक मनुष्य के मानसिक द्वन्द्वों, अभिशापों और दुखों का शिकार हुआ था। वह स्वतन्त्र रूप से दुखी रहने का अधिकार चाहता था पर, प्रसाद उसे आनन्द की भूमि तक पहुँचाना चाहते थे—एक यूटोपिया तक।

कामायनी की रचना उस समय हो रही थी, जब मानवीय स्वतन्त्रता के मूल्य, जीवन के परम मूल्य हो गये थे। मध्यवर्ग के उदय के साथ रोमाण्टिसिज्म भी लोकप्रिय

हो रहा था। हिन्दी में तो उतना नहीं, लेकिन बंगला इत्यादि मे यह अधिक व्यापक था। इतिहास, स्वप्नानुभूति तथा आधुनिक कल्पना के द्वारा प्रसाद ने जीवन के रचनात्मक मूल्यों को ही विकसित किया। दुरूह भाषा के कारण ये मूल्य जनधारा में घुल नही सके, किनारे पड़ गये। समकालीन राजनीतिक परिस्थितियो मे जिन विचारों और मूल्यों की खोज स्वतन्त्रता-सेनानी कर रहे थे, साहित्यिक-सांस्कृतिक स्तरो पर उन्ही मूल्यों की तलाश प्रसाद कर रहे थे। उन्होंने काम, अर्थात इच्छाशक्ति का मिथक इसीलिए चुना। 'राम की शक्तिपूजा' भी मनुष्य की इच्छाशक्ति (विल पॉवर) का ही उद्‌बोधन था। बिना इस कामना, अभिलाषा तथा इच्छाशक्ति को पहचाने, भारत का सांस्कृतिक विकास असम्भव था। कामायनी इस राष्ट्रीय दायित्व-बोध से पलायनवाद का उपनिषद नही है। मुगल पराधीनता ने जिस प्रकार रामचरितमानस दिया, अँग्रेजी पराधीनता ने हमें कामायनी दी। यह एक अलग तथ्य है कि कामायनी मे द्विवेदी युग की काव्य-भाषा नही होकर, छायावादी युग की प्रतीक-पद्धति, बिम्ब-योजना और लाक्षणिकता है। लेकिन कामायनी मे प्रकृति के माध्यम से जो कुछ कहा गया है, वह प्रकृति का अनुभव नही, मनुष्य का अनुभव है। कामायनी की दुरूहता असंदिग्ध है, लेकिन यह उस युग की सीमा है। कवि प्रकृति को ही सृजनात्मक कल्पना के द्वारा अपनी मानवीय भावनाओं का वाहक बना देता है।

हमारे यहाँ मत्स्य कच्छप तथा वाराह अवतारों के साथ जलप्रलय की कल्पना मिलती है, पर कामायनी मे नैमित्तिक, प्राकृतिक, आत्यन्तिक अथवा श्रीमद्‌भागवत का नित्यप्रलय नही है। इस तरह के प्रलय का पुनराख्यान करने की जरूरत प्रसाद को नहीं थी। अतः उन्होने मिथक और प्रतीकों के माध्यम से इस प्रलय को पराधीनता के सन्दर्भ मे रखा है—'नियति' के शासन की पराधीनता। कामायनी का प्रलय एक सांस्कृतिक प्रलय है। पराधीनता का यह प्रलय सारे जीवन-मूल्यों, मानवीय आशाओं, सामाजिक प्रगति तथा मनुष्य की स्वतन्त्र चेतना को ही आत्मसात कर लेता है। मनुष्य विवश और एकाकी हो जाता है। प्रलय के बीच मनु का अकेलापन, उसका दुख, उसकी चिंता भारतीय मनुष्य की विवशताओं और निराशा को प्रकट करती है। इतिहास-बोध ने उसके पराधीन वर्तमान को इस कदर नंगा कर दिया है कि वह जातीय स्मृतियों से भी छुटकारा चाहता है। उसमे शॉपेनहावर के निराशावाद, तुर्गनेव की ध्वंसात्मक नकारात्मकता, बौद्धों से भिन्न बीटनिकों से मिलते-जुलते 'निगेटिव निहलिज्म' (नकारात्मक नास्तिवाद) की अनुगूंज भी सुनाई पड़ती है — **विस्मृति आ अवसाद घेर ले, नीरवते बस चुप कर दे/चेतनता चल जा जड़ता से आज शून्य मेरा भर दे।**' अगर यह प्रलय मात्र जलगत होता, तो श्रद्धा-संसर्ग तक, जब सृष्टि का कोई चिह्न कही नहीं बचा था, यह सारस्वत प्रदेश, भरी-पूरी जागरूक जनता, बौद्धिकता और विज्ञान के आधार पर विकसित हो रही एक सभ्यता तथा इसकी नेत्री इडा कहाँ से आ गई?

कथा के ऊपरी ढांचे पर ऐसे कई अन्तर्विरोध मिलते है, लेकिन भीतर मानवीय मूल्यों की खोज की चेष्टा में एक व्यापक संगति है। कामायनी मे शब्द और प्रकृति की

बाह्य छाया हमे छल सकती है। अतः हमे भाषा की बाह्य सतह पर सम्भलकर चलना है। तथा अन्तर्प्रवेश कर प्रसाद के काव्य-यथार्थ का पता लगाना है। अंग्रेजी राज में खुले शब्दो मे अभिव्यक्ति पर बन्धन था। अतः वस्तुगत भावनाओं को भाषा में भूमिगत होकर छायावाद का सहारा लेना पड़ा। प्रसाद ने 'पश्चिम के काले बादलों' द्वारा अक्सर अंग्रेजो की पराधीनता की ओर संकेत किया है तथा सूर्य की किरणों के प्रतीक से आजादी की लड़ाई का चित्र भी खीचा है। (यह 'पश्चिम-व्योम' लहर में भी है।) 'आह वह मुख! **पश्चिम के व्योम/बीच जब घिरते हों घनश्याम/अरुण रविमण्डल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम** ' (कामायनी)

चिता सर्ग मे ही प्रलय-पूर्व जीवन के रूप मे उस देव सभ्यता के चित्र उभरे हैं, जिनके कारण अभिशाप बनकर प्रलय आता है। भारतीय पराधीनता अथवा प्रलय का कारण क्या है? केन्द्रीभूत सुखो की पूंजी। यह वैदिक देवताओं के खत्म होने की स्थिति भी है तथा हिंसा, विलासिता, ऐश्वर्य मे डूबी राजतन्त्रात्मक पद्धति की लोकविमुखता की सूचना भी। लम्बी भारतीय पराधीनता के भी यही कारण है, जिनके फलस्वरूप अतीत की समृद्धि विनष्ट हो गई। इस यथार्थ से साक्षात्कार के बाद अब प्रसाद का स्वप्न प्रारम्भ होता है। एक त्रासदी से कामायनी प्रारम्भ हुई। लेकिन कवि ने मनु में मानव की विशिष्टता पैदा की। '**मौन, नाश, विध्वंस, अंधेरा** के बाद मनु की चेतना मे '**नव कोमल आलोक**' बिखरने लगा। अगर अनन्त आलोक होता, तो यह धरातल होता, लेकिन 'कोमल' एक छायावादी शब्दावली है। '**निज अस्तित्व बना रखने में जीवन आज हुआ था ध्वस्त**।' कवि अस्तित्ववादी दार्शनिकों के 'मैं हूँ' से 'मैं रहूँ' की भावना तक विकसित हुआ। '**नव हो जगी अनादि वासना मधुर प्राकृतिक भूख समान/चिर-परिचित-सा चाह रहा था द्वन्द्व सुखद करके अनुमान**।' अर्थात द्वन्द्व के बिना विकास सम्भव नही है। मनु के मन मे भौतिक द्वन्द्व अपनी जड़ पकड़ने लगता है। वह पुन: सृजन और निर्माण की ओर बढ़ना चाहता है।

भारतीय मनुष्यो की दुरावस्था इसलिए थी कि उनकी संकल्पशक्ति, इच्छा-शक्ति, कर्मप्रेरणा, अर्थात काम को ही कुचल डाला गया था। प्रसाद ने इसे पुनः जाग्रत किया, मनु मे जिजीविषा और सिसृक्षा उत्पन्न की। मात्र मनु में नही, भारतीय जन-मानस में उन्होंने इच्छाशक्ति, कर्म और संघर्ष की वह प्रेरणा भरने का काम किया, जो हमारे अतीत में थी। मनु को भी अहसास हो जाता है—'**भूलता ही जाना दिन-रात, सजल अभिलाषा कलित अतीत/बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य, दीन जीवन का यह संगीत**।' यह दीनता क्या सिर्फ एक व्यक्ति की थी? लेकिन कवि यहाँ रुका नही। इसने संस्कृति की शक्ति को पहचाना—'**रचित परमाणु पराग शरीर, खड़ा हो ले मधु का आधार** और '**वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई अपने आलस का त्याग किये**।' हमारी संस्कृति में परिवर्तनकारी शक्तियाँ जीवित हैं। आवश्यकता इन्हें पूरी गति से सक्रिय करने की है। मधु जैसी विभिन्न रंग के फूलों की रसात्मक ऐक्यबद्धता और परमाणु जैसी शक्तिवाली सांस्कृतिक ऊर्जा के द्वारा ही यह कुचला हुआ भारतीय मन ...

इतिहास बना सकता है।

मनु जीवनोन्मुख तथा कर्मोन्मुख हुआ। 'बीइंग' में 'डूइंग' की ओर बढ़ा, फिर आगे चलकर 'स्ट्रगल' की ओर। मनु का काम, अर्थात कामना, कर्मप्रेरणा जब उच्छृंखल हो गयी और उसने इड़ा का घर्षण करने के बहाने बौद्धिकता और विज्ञान का दुरुपयोग करना चाहा, तो उसे जनसाधारण ने दंड दिया। यहाँ कवि ने मनु की तानाशाही पर जनसाधारण की लोकतान्त्रिक भावनाओं की विजय दिखायी है। लेकिन क्या कारण है कि मनु सारस्वत प्रदेश में नहीं रह पाये, पर मानव रहा। मानव में ऐसा क्या था, जो मनु में नहीं था? इड़ा सर्ग में मनु स्वीकार करता है—

मुझमें ममत्वमय आत्ममोह स्वातंत्र्यमयी उच्छृंखलता
वह पूर्व द्वंद्व परिवर्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन
सचमुच मैं हूं—श्रद्धाविहीन।

मनु मानव का आंतरिक भटकाव था। उसमें पशुता का उदय होता है, क्योंकि आकुलि-किलात ही उसके साथी बनते हैं। 'अंधायुग' में ऐसी ही पशुता का उदय खिन्न अश्वत्थामा में होता है। हिमगिरि का आकुलि-किलात सारस्वत प्रदेश में घुसा-पैठा हुआ था। यह पराजय, पशुता और पराधीनता सकारण थी और व्यापक थी। श्रद्धा मानव का आंतरिक विकास थी—स्वतंत्रता का स्रोत थी। प्रसाद समझते थे कि अंग्रेजों से स्वतंत्रता हमें इसलिए नहीं लेनी है कि नये और स्वतंत्र भारत में जीवन दुखी और संत्रस्त हो जाये। काम मनु को अभिशाप ऐसे ही वक्त देता है, जब वह श्रद्धा से अलग था। वस्तुतः कामायनी में स्वतंत्र भारत का सांस्कृतिक स्वप्न बुना जा रहा था तथा मानव के माध्यम से आजाद मनुष्य का भावनात्मक अध्ययन हो रहा था। प्रसाद ने मनु के लिए कामायनी नहीं लिखी, मानव के लिए लिखी। इसीलिए वे स्वप्न से मिथक की ओर बढ़े, मिथक से स्वप्न की ओर नहीं। वे हर हालत में मनुष्य की विजय चाहते थे और उसके विजयी होने का विश्वास भी उनमें था—

तप नहीं, केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद
तरल आकांक्षा से है भरा सो रहा आशा का आह्लाद
शक्तिशाली हो, विजयी बनो, विश्व में गूंज रहा जयगान।

कामायनी पराजय, दीनता, अवसाद को खत्म करने वाली विजय, स्वतंत्रता तथा समाजवादी खुशहाली का काव्य है। मनु ने पहले कहा था—'मानव की शीतल छाया में ऋणशोध करूंगा निज कृति का।' श्रद्धायुक्त यही मनु मानव में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह श्रद्धा मनु को पहली बार नहीं मिली थी। मनु धीरे-धीरे पहचानता है कि यह उसकी चिर-जीवन संगिनी थी। अर्थात काम भावना एक आदिम भावना है, यह 'सेक्स' का पर्याय भर नहीं है। 'जन्मसंगिनी एक थी जो कामबाला, नाम मधुर श्रद्धा था।'

यहां श्रद्धा को हृदय समझने की सारी भ्रांति दूर हो जाता है। पर रचनात्मकता और स्वतंत्रता की यह देनि प्रतिबद्ध भी है। प्रतिबद्ध रचात्मकता अथवा स्वतंत्रता के बिना इडा के रूप में विज्ञान और बौद्धिकता व्यर्थ है। प्रसाद जानते थे कि आनेवाला युग बौद्धिकता और वैज्ञानिकता का है। इसलिए इनके समीप वे रचानात्मक प्रतिबद्धता के साथ, अर्थात श्रद्धा के साथ मानव को पहुंचाना चाहते थे तथा बिना श्रद्धा के इनके समीप जाने पर क्या दुर्गति होती है, मानव के भटकाव के रूप में वे मनु के उस घर्षण को भी चित्रित कर देना चाहते थे, जिसके बाद आहत मनु दुख की पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है। कवि की प्रतिबद्धता मानवीय जीवन के समतापूर्ण विकास के प्रति थी। प्रश्न है कि श्रद्धा अगर मानवीय अभिलाषा, स्वतंत्रता की कामना अथवा रचनाशीलता या कर्मप्रेरणा है, तो यह प्रतिबद्धता उसमें किस प्रकार पैदा होती है? लज्जा से। जरा श्रद्धा और लज्जा का संवाद देखें। श्रद्धा लज्जा से पूछती है—

> तुम कौन हृदय की परवशता सारी स्वतंत्रता छीन रही
> स्वच्छंद सुमन जो खिले रहे, जीवन वन से हो बीन रही?

लज्जा जवाब देती है :

> इतना न चमत्कृत हो बाले, अपने मन का उपचार करो,
> मैं एक पकड़ हूं जो कहती, ठहरो कुछ सोच विचार करो।
> मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूं मैं शालीनता सिखाती हूं
> मतवाली सुंदरता पग मे नूपुर सी बंध जाती हूं।

श्रद्धा का समग्र आत्मचिंतन भारतीय स्वतंत्रता का ही आत्मनिरीक्षण है। स्वतंत्रता का मंगल, इसका शिवत्व, प्रतिबद्धता मे ही निहित है, यह श्रद्धा समझती है। श्रद्धा कोई अलौकिक शक्ति नहीं है, वह पूर्ण मानवीय धरातल पर अपने बोध का विकास करती है। मानवीय शोषण के खिलाफ समता की रचनात्मक दृष्टि प्रसाद ने श्रद्धा के माध्यम से ही दी। स्वतंत्रता का शिवत्व यही था। काम, शिवत्व और आनंद मे गहरा संबंध है। रोमांटिसिज्म इस का अतिक्रमण करते है और प्रसाद प्रतिबद्ध रचनात्मकता अथवा स्वतंत्रता के संदर्भ मे मनु की पूंजीवादी मानवता पर व्यंग्य करते हुए श्रद्धा ने कहा था—

> अपने मे सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा?
> यह एकांत स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।
> औरों को हंसते देखो मनु, हंसो और सुख पाओ
> अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।

मनु अपने उपभोग, शोषण, हिंसा तथा व्यक्तिगत सुख पर दृढ़ रहता है। इसी लिए उसे भारत की कृषि-संस्कृति तथा कुटीर आकर्षित नहीं करते। श्रद्धा इस

इस सस्कृति से नये भारत के स्वप्न के साथ जुडी हुई थी। प्रसाद की रचनात्मक काम की चेतना ही विकसित हो कर व्यापक मानवतावाद की पृष्ठभूमि पर वर्गविहीन समाज की कल्पना में वदल जाती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अनजाने ही कभी देखा था कि 'छायावाद में स्थान-स्थान पर वर्गविहीन समाज को अनुगूंज सुनाई पड़ती है' उन्होंने कामायनी का नाम नही लिया। लेकिन रामविलास शर्मा ने रेखांकित किया कि प्रसाद का मानवतावाद ही रहस्यात्मक हो कर भूमा, समरमता के धरातल पर वर्गविहीन समाज की कल्पना में बदल गया है। प्रमाद शिव के भक्त थे। वस्तुत: कामायनी वही समाप्त हो जाती है, जब श्रद्धा प्रतिबंद्ध रचनाशीलता और स्वतंत्रता की भावना से युक्त मानव को अर्थात श्रद्धायुक्त मानव को बौद्धिकता और विज्ञान की प्रतीक इडा के पास शासन चलाने के लिए नियुक्त कर देती है। वह घायल मनु को लेकर वहां से हट जाती है। पुरानी आलोचना ने यह भ्रम उत्पन्न किया कि प्रसाद इड़ा को दुत्कारता है, पर ऐसी बात होती, तो श्रद्धा मानव को उसके पास **'यह तर्कमयी तू श्रद्धामय'** कह कर क्यों छोडती ?

लेकिन प्रमाद के सामने यह समस्या हो गयी कि इम मनु का करें तो क्या करें ? एंबुलेंस बुला नही मकता था। यह काव्य रूप की भी एक समस्या थी कि कही पाठक कृति को अधूरी नही समझें। अत: शिव के प्रति अपने भक्ति-भाव को रहस्यात्मक (रहस्यवादी नही) मुहावरा दे कर उन्होंने भूमा, समरसता का वर्णन किया, लेकिन शिवत्व के साथ उन्होने 'वर्गविहीन समाज' की कल्पना भी जोड दी, क्योंकि सर्वहारा शिव के मिथक के साथ ऐसी कल्पना सार्थक हो जाती थी। यूजिन आॅयनेस्को के नाटक 'द वॉल्ड स्प्रे नो' में ऐसे ही परिवेश का चित्र खीचा गया है, जिसमे समस्थिति है। नियति की मार खाये हुए मनु की त्रासदी निरंतर गम्भीर होती जाती है। ऐसा ही भाग्य-जनित दुखांत परिवेश थॉमस हार्डी की 'क्रॉस कैजुअल्टी' में मिलता है तथा प्रमथ्यु ओर आरे-स्टीन के मिथक मे भी। और' नील ने अपनी पुस्तक 'डेज विदाऊट एंड' में त्रासदी की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'चिति मे चेतन तथा अचेतन शक्तियो के संघर्ष से ही त्रासदी वनती है।' मनु के अचेतन में अनादि वासना अर्थात काम है, लेकिन उसका चेतन धरातल विभक्त, संत्रस्त और पराधीन था, श्रद्धा का कैलाश पर्वत पर ऊर्ध्वारोहण वस्तुत. 'आत्मा' का ही आरोहण है। श्रद्धा कहती है—**'इस देव-द्वंद्व का वह प्रतीक। मानव कर ले सब भूल ठीक।'** वह हृदय-सत्ता को सुंदर सत्य वतलाती है, जिसके बिना मानवीय जीवन अधूरा है।

कामायनी स्वाधीन मनुष्य की भावनाओं का राष्ट्रीय काव्य है। इसे मात्र झरना, आसू और लहर के ही विकास के रूप मे नही, बल्कि प्रसाद के संपूर्ण साहित्य---काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास के विकास के रूप मे देखना चाहिए। साथ ही छायावाद की चरम उपलब्धि के रूप में भी। सच तो यह है कि जिम प्रकार प्रेमचंद के वाद हिंदी कथा साहित्य मे 'कफ़न' और 'गोदान' की परंपरा का विकास नही हो सका, उमी प्रकार प्रसाद के वाद हिंदी साहित्य मे 'मधुआ' की मानवीय भावना, 'तितली' के कृषि-विद्रोह

की सुलगती आग, 'कामायनी' के जातीय स्वप्न, मानवीय अभिलाषा तथा प्रगतिशील राष्ट्रीयता का स्वर भी धूमिल हो गया। क्या प्रसाद में ऐसा कुछ है, जिसका विरान आजभी किया जा सकता है ? इस पर सोचना है। लेकिन, प्रसाद ऐसे रचनाकार नहीं थे, जो लिखते-लिखते थके नहीं, या जिन्हें अपने चुक जाने का अहसास नहीं हुआ। उनसे अंतिम समय चिकित्सक ने पूछा था—'आपको किसी से कुछ कहना हो तो कह लें।' प्रसाद का जवाब था—डॉक्टर 'अब तक जो कहा, वह क्या कम है।' जिस मानवीय स्वप्न की साधना प्रसाद करते रहे, नि.संदेह वह उनकी यथार्थोन्मुखी रोमांटिकता से उपजी थी, पर वे समकालीन जीवन-दुर्दशाओं से निकल कर मनुष्य को एक मानवीय और सच्चे जनतंत्र में इस प्रकार प्रतिष्ठित करना चाहते थे कि उसकी प्रखर आंतरिक गरिमा बनी रहे। इसी आशा में वे लिखते रहे। उनके भीतर की घनीभूत पीड़ा विश्वप्रेम से उपजी थी। तभी वे अपनी अंतिम पंक्तियों में कह सके—

> आज जीवन में तरल सुख
> विश्व मदिरा-सा भरा है
> प्राणमादन/प्राणमादन वह मधुर मुख।

'प्राणमादन' शीर्षक नयी कविता पुस्तक में प्रसाद की अलभ्य रचनाएँ ढूंढकर प्रकाशित करने का दावा किया गया है। पर यह देखकर आश्चर्य होता है कि इसकी नयी कविताएँ, 'प्रेमपथिक', 'झरना' और विभिन्न नाटकों से ही लेकर संकलित कर दी गई हैं। इसके अलावा कुछ कविताएँ तो लगती भी नहीं कि प्रसाद की हैं। उनके अधूरे उपन्यास—'इरावती' को बलात पूरा करके प्रकाशित किया गया है। यह सब कवि की आत्मा पर व्यावसायिक अत्याचार है। प्रसाद दुरूह थे। अब उन्हें महँगा भी किया जा रहा है, ताकि सही पाठको से उनकी दूरी बनी रहे तथा वे जन-मन में समादृत नहीं हो।

जातीय एवं सामाजिक स्मृति के वाहक ऐसे स्वप्नदर्शी कवि को क्या इतनी निर्ममता से विस्मृत किया जा सकता है ? क्या आश्चर्य, अगर उनका नाम लेना ही सामन्ती अवशेष या पूँजीवादी सुविधाएँ ढो रहे कई लेखकों को प्रतिक्रियाशील साजिश लगे। जबकि बंगाल या सर्वत्र, वामपंथी लोगों के दिल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सुभाषचन्द्र बोस जैसे लोगों के प्रति सम्मान लौट रहा है, क्योंकि उस युग में उन सबकी अपनी एक भूमिका थी।

□

निराला : मुक्त संस्कृति का स्वप्न

मनुष्य की पराधीनता को सास्कृतिक स्तर पर समझने का सबसे गंभीर प्रयास निराला ने किया था। राजनीतिक और सामाजिक शोषण की शिकार मानवीय आत्मा किस प्रकार कुंठित और खोखली हो जाती है, हजारों रात्रि के अंधकार से भर जाती है, मंजिल की ओर दौड़ने के पहले ही थक जाती है—अपने युग में इसका सबसे तीखा अनुभव निराला ने किया। इस अनुभव की पीड़ा ने उनके व्यक्तित्व को तोड दिया, क्योंकि उन्हें सामाजिक व्यवस्था की मशीन बन जाने से एतराज था। उनके सामने बंगला के नवीन सांस्कृतिक जागरण का खोखलापन भी उभर कर आ गया था। अंग्रेजी दासता के विरुद्ध जनता के स्वाधीनता-संग्राम में पूजीवादी शक्तियों का प्रभुत्व भी बिल्कुल स्पष्ट हो गया था। आर्य समाज का सुधारवाद जड़ता से भर गया था और वे इससे इतने विक्षुब्ध थे कि एक बार इसके एक भवन में ही दारू पीने लगे। समकालीन नैतिकता और शिष्टाचार आर्थिक शोषण के सतरंगे वस्त्र भर थे। उनकी उदण्डता में हम कबीर की विद्रोही शैली देख सकते हैं। लेकिन अपने मन पर सांस्कृतिक विपन्नता का गहरा आघात खाकर भी, वे इसके लिए बेचैन थे कि संघर्षशील जनता की मुक्ति किस प्रकार होगी।

निराला ने छायावादी पद्धति से अपने 'मैं' को ही इसके सम्पूर्ण अन्तर्विरोधों के साथ अभिव्यक्ति किया। इस 'मैं' की आत्मा सामाजिक थी। इस में युग का समस्त अन्तर्द्वन्द्व भरा हुआ था, इसलिए यह कवि का व्यक्तिगत 'मैं' नहीं था। जहाँ महादेवी का 'मैं' तरल था, पंत का दार्शनिक और प्रसाद का जातीय स्मृति से स्नात, वहीं निराला के 'मैं' पर समाज की कई-कई तकलीफों और अभावों का दबाव था। शिवपूजन सहाय ने उनके बारे मे लिखा है—'अंधे, लूले, कोढी और निकम्मे दीन-दुखियों पर ही उनकी दृष्टि अटकती थी, फिर तो वे अपनी वास्तविक परिस्थिति को बिल्कुल भूल जाते थे। कलकत्ता सदृश महानगर की सड़कों की दोनों पटरियो पर वे ढूंढते-फिरते थे कि वस्तुत: कौन बेचारा कैसी दुर्गति में है। उनका अधिकांश अवकाशकाल दीनों की दुनिया में ही बीतता था। वहाँ फुटपाथो पर भिखारियों के सिवा बहुतेरे निराश्रित गरीब और कुली-कबाड़ी भी रात मे पड़े रहते है। उनके लिए बीड़ी, मूढ़ी, भूजा चना, मूंगफली आदि खरीदकर वितरण करनेवाला उस धनकुबेरों की महानगरी में निराला के सिवा दूसरा कोई न देखा गया, (महाकवि निराला)। हम एक संवेदनहीन युग में जी रहे हैं। सम्भवत: इसलिए इन बातो का महत्व समझ में न आये। पर निराला के ५१

दृष्टिकोण के कारण छायावाद, सांस्कृतिक नवजागरण और स्वाधीनता के मूल्यों में नये अन्तर्विरोधों का उभरना स्वाभाविक था। वे देख रहे थे कि जीवन के इस मेले में बाहर की सुघर चमकती हुई वस्तुओं को लेकर हमारी जातीय आत्मा की पावन निधियाँ पत्थर अर्थात जड़ बनती जा रही हैं। संकेत पूंजीवादी उपभोगवाद की ओर है। उन्होंने आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से पीड़ित मनुष्यों के जीवन का चित्र खींचा—

स्नेह निर्झर बह गया है
रेत ज्यों तन रह गया है
आम की यह डाल जो सूखी दिखी
कह रही है—अब यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी.
नहीं जिसका अर्थ—
जीवन दह गया है

आंचलिक परिवेश की यथार्थवादी अनुभूतियों के साथ निराला अपने समाज के जातीय जीवन की उस शुष्कता, विसंगतियों और अर्थहीनता की चर्चा करते हैं, जो पूंजीवादी व्यवस्था की देन है। पत्थर तोड़ती हुई मजदूरनी हो या लाठी टेक कर चलता हुआ भिखारी। मिदनापुर के किसी अंचल में हँसकर नदी किनारे नहाती हुई ग्रामबाला हो या कहार जाति की पनिहारिन। दलित जन (अणिमा) हो या कुकुरमुत्ता। निराला ने शोषित-अवहेलित वर्ग की भावनाओं पर आधारित कविताएँ लिखी। इनमें अपनी अनुभूति का समस्त उद्वेलन, स्नग्धता और सौन्दर्य भर दिया। समाज की पीड़ा को उन्होंने अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में भर लिया। मनुष्य की व्यापक आकांक्षाओं को अपनी कविता के प्रत्येक शब्द में मूर्त रूप दिया। शोषित वर्ग के संघर्ष को अपने व्यक्तित्व के पोर-पोर से व्यक्त किया। सामंती समाज व्यवस्था का एक चित्र देखें—

राजे ने अपनी रखवाली की
किला बनाकर रहा
बड़ी-बड़ी फौजें रखी
चापलूस कितने सामंत आये
मतलब की लकड़ी पकड़े हुए
कितने ब्राह्मण आये
पोथियों में जनता को बांधे हुए
कवियों ने उसकी बहादुरी के गीत गाये
लेखकों ने लेख लिखे

यह कविता लोकजीवन के सामंती शोषण तथा विषमता-चक्र से पिस रही जनता के घुटन की ओर इशारा करती है। धोखे में रखी गई जनता का उन्होंने यथार्थवादी

चित्र प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार लेखक, नाट्यकलाकार, इतिहासकार भी सत्ता-व्यवस्था की चाटुकारिता करते है। जनता की सेवा का व्रत लेकर क्रांति का अभंग प्रचार करने वाले ऐसे लोगों को भी उन्होंने नही छोड़ा, जो मूलतः सुविधावादी थे। वे चारों तरफ से परिवर्तन और विद्रोह के कवि थे—सास्कृतिक क्रांति चाहते थे। व्यवस्था को तोड़ने और इसके लिए उनके खड़ा होने के एक-एक अन्दाज मे महाकाव्य के गुण है। दुखों के अन्धकार की भयानकता का इतना सुन्दर चित्र वे तभी खीच सके, जबकि उनके मन में मुक्ति के एक नये सूर्य का स्वप्न था। ठोस सामाजिक वर्गसंघर्ष की चेतना पर आधारित कृषक-क्राति की कल्पना करके ही उन्होंने 'बादल राग' लिखा—

जीर्ण बाहु है जीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार
हाड मात्र ही है आधार
ऐ जीवन के पतवार।

निराला की प्रकृति मनुष्य की भावनाओं को व्यक्त करने वाली है। कवि की आँखों को गरजते बादल यूँ ही सुन्दर नही लगते। उनसे जीवन की खुशहाली का सीधा सम्बन्ध है। प्रकृति की ऐसी वस्तुएँ कवि की अन्त प्रेरणा बनकर जीवन की क्रांतिकारी अभिलाषाओं का वहन करती हैं। रहस्यवादी आलोचकों ने निराला की कविताओं में जहाँ प्रकृति को देखा, वही ब्रह्म की अनुभूति थोप दी। जबकि प्रकृति निराला की मानवीय भावनाओं को ही गहन सघनता प्रदान करती है। इसमें वस्तुओं के रूप धुँधला पड़ने के स्थान पर अधिक आत्मीय बन गये है। 'बादल राग' की ६ कविताओं मे निराला की अनुभव-यात्रा का सुन्दर विकास मिलता है। पहली कविता मे सच्चाइयों के ज्ञान से पागल बादलों को तैयार होने के लिए कहा गया है। कवि उनकी आंतरिक हलचल मे शामिल होना चाहता है। उसके परिवर्तनकारी 'भैरव-संसार' की झलक पाना चाहता है। दूसरी कविता में वह बन्धनहीन मेघों का क्राति के लिए आह्वान करता है। तीसरी कविता में दुखों के अन्त पुर का द्वार उद्घाटित हो जाता है। वहाँ आशा की किरणें पहुँचने लगती हैं। देशवासियो की स्वाधीनता का संघर्ष तेज होने के साथ गहरे दुखो से वास्तविक सुखों की ओर विजय-यात्रा प्रारम्भ होती है—

विजय! विश्व में नवजीवन भर,
उतरो अपने रथ से भारत!
उस अरण्य में बैठी प्रिया अधीर
कितने पूजित दिन अब तक है व्यर्थ
मौन कुटीर!

जिसमें वह असहाय पड़ जाता है। आज रावण बार-बार जीत जाता है और राम की बार-बार पराजय होती है। बाहर और भीतर दोनों की लड़ाई में आधुनिक युग की यह विसंगति झलकती है। अपनी टूटन और पराजय से मर्माहित होकर कवि कहता है—

> धिक जीवन जो सहता ही आया विरोध
> धिक साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध
> जानकी ! हाय उद्धार प्रिया का न हो सका।

यह जानकी भारतीय स्वाधीनता की एक उदात्त प्रतीक बनकर उपस्थित होती है। युग की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए राम अपने संघर्ष की परीक्षा मे खरा उतरते हैं। कमल न मिलने पर जैसे ही बाण से अपनी एक आँख निकाल कर महाशक्ति को चढ़ाने के लिए उद्धत होते हैं, देवी प्रसन्न हो जाती है। महाशक्ति अर्जित करना वस्तुतः ऐतिहासिक शक्ति पाना है, युग की आकांक्षाओं को तीव्रता से महसूस करना है और अपने भीतर दृढ़ इच्छाशक्ति तैयार करना है। कवि ने 'राम की शक्तिपूजा' की मूल समस्या को 'रावण-जय-भय' के रूप में रखा है। यह आज के समाज में भी एक वास्तविक समस्या है। राम के मन में सीता की मुक्ति का प्रश्न था। स्वाधीन मनुष्य की स्वाधीन संस्कृति का प्रश्न था, जो रावण की पूँजीवादी-तानाशाही शासन के संदर्भ में गंभीर बन गया था। राम के मन मे गहन चिंता थी। निराला ने कठिन संघर्ष के साथ राम की वेदना का चित्र भी खींचा— 'छल छल हो गये नयन, कुछ बूंद पुनः ढलके दृग-जल'। राम की आँखों में अश्रु। कवि ने अपने जीवन की निराशा और पराजय की अनुभूतियों के साथ संघर्ष और विजय को भी नाटकीय अभिव्यक्ति दी है। वह बतलाना चाहता है कि यह निराशा क्षणिक है, एक मानसिक आलोड़न भर है। संघर्ष की शक्ति समाज से मिलती है। हनुमान और जाम्बवान इसलिए सक्रिय दिखते है। अतीत की ऐतिहासिक चेतना तथा प्रकृति प्रतीकों को लेकर संस्कृति के सभी जीवंत दायों को वहन करने वाली भाषा मे निराला ने राम के आधुनिक मिथक के साथ शक्ति की वस्तुवादी कल्पना प्रस्तुत की। उन्होंने शब्दों का उनकी पूर्ण गरिमा तथा गंभीरता के साथ प्रयोग किया।

'परिमल' की भूमिका मे निराला ने कहा था—'मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नही होता, किन्तु उससे साहित्य मे एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है। जैसा बाग की बंधी और वन की खुली हुई प्रकृति। दोनो ही सुन्दर है, पर दोनों के आनन्द तथा दृश्य भिन्न-भिन्न है।' निराला साहित्य के मुक्त होने की बात मनुष्य के संघर्षों के निरन्तर विकास के सन्दर्भ मे करते थे। वे साहित्य को जंजीरों से जकड़ने के विरोधी थे। लेकिन उनके स्वाधीनी साहित्य का मतलब मनुष्य की समग्र स्वाधीनता के संघर्ष का साहित्य होता था, समाज निरपेक्ष साहित्य नही।

'तुलसीदास' में निराला ने अपने युग की समस्याओं की पृष्ठभूमि मे एक ऐसी

रचनाशीलता का आह्वान किया, जो तुलसी मे थी। भारत के नभ का प्रभावपूर्ण सांस्कृतिक सूर्य अस्त हो गया है। समाज में अन्धकार है। अत: कवि राजनीतिक आर्थिक चुनौतियों को किस प्रकार स्वीकार करे, यह चिन्ता का विषय है। इस अवस्था मे देश की चेतना पलायनवादी होकर शुद्ध आध्यात्मिक लोक मे विचर रही थी अथवा पाश्चात्य संस्कृति की चक्कियों मे पिसी जा रही थी। मध्ययुगीन संकटों के समय एक बार तुलसी में जिस प्रकार सृजन की भावनाएँ जागृत हुई थीं और 'प्राची दिगंत उर में रवि रेखा' दिखाई पडी थी, कवि उसी प्रकार का एक सृजनात्मक विद्रोह अपने युग में भी चाहता है। ताकि समाज का अन्धकार दूर हो सके।

> करना होगा यह तिमिर पार, देखना सत्य का मिहिर द्वार
> लडना विरोध से द्वन्द्व समर, रह सत्य मार्ग पर स्थिर निर्भर।

पतनोन्मुख संस्कृति के अन्धकार को देखकर निराला संस्कृति की नई रचना चाहते हैं, जो देशकाल के शर से बिधकर और जागरूक बनकर होगी। 'तुलसीदास' में भौतिक घटनाओं की न्यूनता है तथा मानसिक घटनाओं की प्रचुरता है। 'तुलसी' का रूपक आधुनिक युग के पराभव, दैन्य, जडता, अभाव की अनुभूतियों के मध्य नये तरह से अर्थवान हो उठता है। निराला ने तुलसी की रचनात्मक प्रतिभा को समझने की कोशिश की तथा अपने सामने यह सवाल भी रखा कि आज लोक जीवन को बाँध लेने की वैसी साहित्यक क्षमता क्यों नही पैदा हो पा रही है। कविता मे तुलसी के चरित्र को कलात्मकता और नई संवेदना के साथ प्रस्तुत किया गया है। निराला में हम सामाजिक यथार्थ से भागने की प्रवृत्ति नही पाते, बल्कि इसमें उलझने की चेष्टा लक्षित करते हैं। हर कविता मे यथार्थ के एक मे स्तर की अभिव्यक्ति नही हो पाई है और इसमे अन्तर्विरोध भी समाहित हो गये है। लेकिन निराला ने कविता को जनवादी स्तर पर प्रस्तुत करने का व्यापक प्रयास किया। रत्नावली के धिक्कार के पूर्व तुलसी का व्यक्तित्व छायावादी दुर्बलताओं का बहुत ज्यादा शिकार था। निराला ने रत्नावली के धिक्कार के द्वारा कविता की रोमानी परम्परा को भी धिक्कारा है। इस धिक्कार के बाद तुलसीदास एक सृजनशील प्रतिभा के रूप में चमकते है।

निराला की कविता में जो स्थान अपमान और निराशा का है, उनके गद्य साहित्य मे वही जगह उन अवहेलित चरित्रों का है, जिनकी ओर स्वार्थी समाज-व्यवस्था का ध्यान नही जाता। 'देवी,' 'चतुरी चमार,' 'बिल्लेसुर बकरिहा' ऐसी ही कृतियाँ हैं। 'देवी' में फुटपाथ पर पड़ी रहने वाली एक पगली और गूँगी औरत है, जिसकी ओर आते-जाते लोग देखकर भी नही देखते। 'वह रास्ते के किनारे बैठी हुई थी एक फटी धोती पहने हुए। बाल कटे हुए। ताज्जुब की निगाह से आने-जाने वालों को देख रही थी। तमाम चेहरे पर स्याही फिरी हुई। भीतर से एक बड़ी तेज भावना निकल रही थी, जिसमे साफ लिखा था—यह क्या है ?' लेखक की संवेदनशील दृष्टि इस पर पड़ती है और वह इसके जीवन-संसार की रचना करने लगता है। गोरे सैनिक सड़क पर परेड करते

हुए जा रहे थे और पगली उन्हें देखकर हँस रही थी। इस हँसी में एक अर्थपूर्ण अर्थ-हीनता थी। लेखक की इस चरित्र से घनिष्ठता बढ़ जाती है। जाड़े की रात में भी वह अपने बच्चे के साथ कांपती हुई फुटपाथ पर पड़ी है। एक मांगा हुआ फटा काला कम्बल उसके पास है। लेखक उसे कुछ आर्थिक सहायता भी देता रहता है। लेकिन उसके पैसे बदमाश रात को छीन ले जाते हैं। ...... चुरा जाने पर पगली भूल जाती थी, छिन जाने पर, कम प्रकाश में किसी को न पहचान कर रो लेती थी।' आखिरकार एक दिन पगली के जीवन का अन्त आ जाता है। वह अस्पताल भेज दी जाती है और बच्चे को अनाथालय भेज दिया जाता है। 'पगली बच्चे को छोड़नी न थी।' यह एक औरत की नहीं, मनुष्य समाज की दुर्दशा का चित्र है। लेखक पगली के विवशतापूर्ण और करुण जीवन के बहुत भीतर जाता है और संवेदित होता है।

'चतुरी चमार' भी सामाजिक अन्याय से पीड़ित एक गरीब आदमी था। इससे लेखक की घनिष्ठता ही नहीं बनती, वह इसके जीवन का हिस्सेदार भी बनता है। निराला इन चरित्रों के बीच कुछ ढूंढते से रहते थे। सम्भवतः वही आग। उन्हें लगता है कि इस दलित समाज में आकांक्षा मरी नहीं है। चतुरी अपने लड़के को स्कूल भेजना चाहता है। लेकिन 'वह एक ऐसे जाल में फँसा है, जिसे वह काटना चाहता है, भीतर से उसका पूरा जोर उमड़ रहा है, पर एक कमजोरी है, जिसमें बार-बार उलझकर रह जाता है।' यह राख और आग के बीच का अन्तर्युद्ध है। आग रहना चाहती है और राख इसे खत्म करने पर तुली रहती है। कुल्ली भाट के चरित्र में यही बात है। उसके जीवन का श्रेष्ठ अंश सामाजिक बुराइयों में लिप्त रहने के कारण उभर नहीं पाता, लेकिन उसमें अपूर्व स्नेह और मनुष्यता थी। ग्रामीण चरित्र बिल्लेसुर बहुत परिश्रमी है। नये खयालातों का है। एक बार रामदीन ने पूछा—'ब्राह्मण होकर बकरी पालोगे?' वे चुप लगा गए। लेकिन मन में सोचा—'जब जरूरत पर ब्राह्मणों की हल की मूठ पकड़नी पड़ी है, जूते की दुकान खोलनी पड़ी है, तब बकरी पालना कौन-सा बुरा काम है।' वह समझदार और प्रगतिशील भी है। अपनी कण्ठी-माला त्याग देता है उसके व्यक्तित्व में अद्भुत परिहास-वृत्ति थी और जमाने भर के विरोध से टकराने की आत्मशक्ति भी। जब गाँव के लोगों ने उसे बिल्लेसुर बकरिहा कहकर चिढ़ाना शुरू किया, तो उसने भी बकरी के बच्चों के वही नाम रखे, जो गाँव वालों के नाम थे। इन चरित्रों के माध्यम से निराला क्या उपस्थित करना चाहते थे? समाज की कुरूपताओं से जूझने में जहाँ जरा भी शक्ति थी, निराला उसे पहचानना चाहते थे। ताकि संस्कृति की मौजूदा जीर्ण-शीर्ण व्यवस्थाओं को तोड़कर एक ऐसी नई यथार्थवादी संस्कृति की रचना हो पाये, जिसमें मनुष्य खुलकर सांस ले सके।

□

कविताएं : समाज और देश

कविता सत्ता-उन्मुखी होकर कभी भी अपने अस्तित्व को जीवित नहीं रख सकती। इसकी प्रतिबद्धता किसी भी स्तर और तरीके से अपने समाज और देश के भीतरी अथवा बाहरी निर्देशों की सलामी में नहीं खड़ी होती। यह स्वाभाविक संस्कृति के हुक्मों की भी पाबन्दी नहीं करती। कुल मिलाकर इसका जो विपक्षी चेहरा बनता है, उसमे समकालीन सत्ता, सांस्कृतिक व्यवस्था तथा किसी भी किस्म के बाहरी आर्थिक-राजनीतिक फरमानों की अवज्ञा निहित है। 'अवज्ञा करने की स्वतन्त्रता' ही कविता की सबसे पहली कोशिश होती है। अपने समकालीन अनुभवों के संसार तथा जारी समय की चीजों के भीतर गुजरते हुए वह नया यथार्थ पाती है जिसका जनसंवेदनाओं से बहुत घना रिश्ता होता है। इसकी बात बहुत बार की गई है कि समाज और देश का यह यथार्थ बदलता रहता है। दरअसल बदलने का अर्थ यह नहीं है कि एक यथार्थ हटकर इसकी जगह पर बिल्कुल दूसरा यथार्थ टपक आता है। द्वन्द्वात्मक सांस्कृतिक प्रक्रिया के द्वारा यर्थाथ का विकास होता है। इसके स्वरूप तथा इससे जुड़े-मुड़े तमाम स्वरूपों और यथार्थों की पूरी धारा का विकास होता है। कवि जब यथार्थ के बदलने का अनुभव करता है, तो वह यथार्थों की किसी पूरी धारा के विकास के सन्दर्भ में ही इस बदलाव की वास्तविक पहचान कर सकता है। उसका खोजी और संघर्षशील मन नये अनुभव, विचार और सत्य कमाता है। जब वह समाज के यथार्थों की सामाजिक धारा के ऐतिहासिक विकास को पकड़ लेता है अथवा यह पकड़ विकसित करता जाता है, तो इतिहास भी उस रचनाकार अथवा कवि को अपनी रचनाशील अभिव्यक्ति का माध्यम बना लेता है। इतिहास और समय यह काम समझ-बूझकर करते हैं, फिर भी इसके अपने अन्तर्विरोध भी उत्पन्न होते हैं। जिन रचनाकारों ने भी समाज तथा देश की आर्थिक-राजनीतिक चेतना से मुक्त रहने की सोची तथा निरपेक्ष शाश्वतता अथवा देश-कालातीत सत्य की तलाश की, वे न तो अवज्ञा की स्वतन्त्रता पा सके और न उनके शब्द समय की चीजों के भीतर से सत्य कमा सके। अवज्ञा की स्वतन्त्रता तथा जिन्दगी का सच कमाना कविता की मौलिक रचनात्मक समस्यायें है। जिस प्रकार यह अवज्ञा समाज और देश के बाहर नहीं है, सच भी जन-जीवन से दूर का नहीं होता। एक आदमी कहीं जाकर एक जन भी होता है और सारे जन अपनी जगह आदमी और व्यक्ति भी रहते हैं। यहां विरोध नहीं, विकास है।

जब छायावादी-प्रयोगवादी दौर की जनकविता के बारे में विचार किया जाता

है, तो प्रगतिवाद के बावजूद निराला और दिनकर ही दो ऐसे कवि उभरते है, जिनमें अन्तर्विरोधों के रहते हुए भी पर्याप्त जनचेतना है। कहीं-कहीं निराला का आध्यात्मिक दिखना जिस प्रकार उनकी रचनाओं में जनसंवेदनाओं की तौहीनी नहीं है, उसी प्रकार दिनकर की शृंगारिक रचनाएं उनकी 'दिल्ली,' 'कविता की पुकार,' 'बापू,' 'विपथगा,' 'नेता,' 'जनतन्त्र का जन्म,' 'भारत का यह रेशमी नगर,' 'शवनम की जंजीर,' 'दिल्ली और मास्को,' 'मध्यमवर्ग' इत्यादि रचनाओं पर दाग नहीं हैं। दरअस्ल विश्वविद्यालयी आलोचना ने छायावाद के चार 'प्रमुखों' मे निराला को इस तरह जकड़ दिया कि इनकी जनचेतना को भी छायावादी सौन्दर्यबोध का ही विकास कहा गया।

कविता की पूर्ववर्ती आलोचनाओं में दिनकर के साथ भी दुर्गतियां हुई है। उन्हें राष्ट्रीयतावादी कवि के रूप में इस तरह याद किया गया कि उनकी रचनाओं में पुराने दौर का जो जनवादी स्वरूप है, वह ओझल रहा। इसमे दिनकर का भी दोष कम नही है, कि इन्होंने परवर्तीकाल मे न केवल स्वयं को ऊँचे राजनीतिक सांस्कृतिक महलों मे कैद कर लिया, बल्कि रचनायें जनचेतना से बुरी तरह विछिन्न हो गयी। दिनकर की कविता में जनचेतना मिलती है। कई आलोचकों ने उन्हे प्रगतिवादी माना है। उन्होंने नारेबाजी वाली कविता नहीं लिखी। एक समय कवि की चेतना धनपतियों के खिलाफ किसानों और सर्वहारा के पक्ष मे थी। कविता पुकारती है (१८३३)—

सूखी रोटी खायेगा जब कृषक खेत में धर कर हल
तब दूंगी मैं तृप्ति उसे बनकर लोटे का गंगाजल
उसके तन का दिव्य स्वेदजल बनकर गिरती जाऊँगी
और खेतों में उन्ही कणों से मैं मोटा अन्न उपजाऊँगी।

° ° °

इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार

जाहिर है दिनकर सिर्फ राष्ट्रीयता के कवि नहीं हैं। अंग्रेजों के साथ धनपति भी समाज के शत्रु थे। यह सही है कि दिनकर की रचनाओं में प्रगतिशीलता इस रूप में नहीं है कि इसमें नारों की भरमार है, बल्कि कविता गंवई संवेदना, वर्ग-चेतना, प्राकृतिक बिम्बों तथा नव-धार्मिकता से जुड़ी हुई है। 'लाल तारा' उनकी रचनाओं में 'लाल भवानी' के रूप में आया है। निश्चय ही इस स्तर पर वे वर्ग-संघर्ष के कवि न होकर (निम्न) वर्ग-जागरण के कवि हैं। जागरण संघर्ष की भूमिका है। किसी भी देश में शासन और व्यवस्था की खिलाफ़त करना राष्ट्र या देश की खिलाफ़त करना नहीं होता। राज-भक्ति और राष्ट्रभक्ति मे फर्क है। दिनकर जब तक राष्ट्रभक्त और जनवादी थे, इनकी कविताओं में तेजी थी, जब ये राजभक्त हो गये, तो कविताओं में 'मज़ा' आ गया और ये जन-संवेदनाओं तथा रचनाशील संस्कृति से कट गई।

दिनकर की राष्ट्रीयता पर बात करते-करते आलोचकों की कलम इतनी लीक करने लगी थी कि इनका समूचा रचनात्मक व्यक्तित्व ही लीप-पोत दिया गया। यहाँ

राष्ट्रीयता पर बात सिर्फ इस वजह से की गई है कि न केवल इसके विकास के परिप्रेक्ष्य में दिनकर को समझा जाय, बल्कि इसकी सीमाएँ निर्धारित करके दिनकर की सामाजिक आर्थिक चेतना पर भी बात हो सके। आज की कविताओं में राष्ट्र की जगह देश है। मानव की जगह आदमी है। धर्म की जगह समाज है। रहस्यवाद की जगह राजनीति है। दिनकर की ऐसी कविताओं की कमी नहीं है जिनमें न तो देश है और न समाज। इनमें प्रकृति की स्वच्छन्द भाषा है तथा रहस्यात्मक प्रेम-सौन्दर्य है। ऐतिहासिक गौरव-गाथाओं की बारम्बार पुनरावृत्तियों की भी कमी नहीं है, लेकिन पराधीनता की पहचान के लिए इतिहास एक जरूरी आईना है। सामाजिक सन्दर्भों के माध्यम से भी दिनकर ने वर्ग-जागरण की बात की है। वे अपनी पुरानी कविताओं में कहीं भी समझौतावादी रुख नहीं रखते, बल्कि उनका हाहाकार और गर्जन-तर्जन हिंसात्मकता की सीमा तक चला जाता है। अपनी कविता 'दिल्ली' के माध्यम से वे इतिहास के परम्परावादी बोध से निकलते हैं तथा लूट का एक पूरा चित्र सामने आ जाता है। साम्राज्यवादी व्यवस्था में भी शासक तथा पूंजीपति वर्ग समान रूप से शत्रु होते हैं, यह दिनकर को बोध हो चला था—

हाय, छिनी भूखों की रोटी
छिना नग्न का अर्द्ध वसन है
मजदूरों के कौर छिने हैं
जिन पर उनका लगा दसन है

° ° °

वैभव की दीवानी दिल्ली
कृषक मेध की रानी दिल्ली
अनाचार, अपमान व्यंग्य की
चुभती हुई कहानी दिल्ली
अपने ही पति की समाधि पर
कुल्टे तू छवि में इतराती
परदेसी संग गलबांही दे
मन में वह फूली न समाती

परदेसी राजनीतिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के साथ दिल्ली रानी की गलबाही कभी नई घटना नहीं रही। इसकी एक ऐतिहासिक परम्परा है। न केवल इसकी गुलामी, बल्कि बढ़ती हुई शान-शौकत भारतीय जनता के दु:खों के परिप्रेक्ष्य में बेशर्मीपूर्ण बर्बरता की कहानी कहती है। वस्तुत: दिल्ली हमेशा जनविरोधी रही। निश्चय ही दिनकर ने इस यथार्थ का चित्र जिन स्वप्नों के परिप्रेक्ष्य में खींचा, वे रोमानी वातावरण के थे। इनमें भावुकता काफ़ी थी। दिनकर के 'हुंकार' में राष्ट्रीयतावादी नहीं, बल्कि सामाजिक विक्षोभ है। उन्होंने आजादी को सिर्फ अंग्रेजों के चले जाने के रूप में नहीं देखा, बल्कि

एक ऐसे मुक्त समाज की कल्पना की, जहाँ कोई किसी के पसीने पर अपने महल न बनाये। पददलित काल-सर्पों के फन का फुफकारना दुनिया के नीरो तथा पापी जार का खत्म होना है। दिनकर की कविता में बंदूक नहीं, तलवार है। और यह कुछ ज्यादा ही उछलती है। आज की कविता में बदली हुई भाषा तथा संवेदना के स्तर पर वैसी ही उत्तेजना मिलती है, जैसी आज से चालीस वर्षों पहले दिनकर की कविता में थी। इनमें तुक है, पुराने छन्द है, वर्णनात्मकता है, सपाटबयानी है और लोक-बिम्ब है। कविता इतनी साफ है कि कहीं 'उर्वशी' जैसी कारीगरी नहीं मिलती। इसमें जन-सम्प्रेषणीयता प्रखर रूप में है। दिनकर अपने समय के शासन के खिलाफ बोल रहे थे। जिस वक्त कामायनी की भाषा छायी हुई थी, उसी वक्त प्रेमचन्द के साथ कविता में दिनकर का इस तरह निर्भीक होकर भाषा, रोटी और अवज्ञा की आजादी के लिए लड़ना काफी महत्वपूर्ण था। उन्होंने विपथगा (११३८) में लिखा था —

डरपोक हुकूमत जुल्मों से लोहा जब नहीं बजाती है
हिम्मतवाले कुछ कहते है तब जीभ तराशी जाती है

कविता में विकास की एक ऐसी सीढ़ी भी आती है जब उनका वर्गजागरण वर्ग-संघर्ष में बदलने लगता है। एक तरफ कुत्तों को दूध-भात मिलते है, दूसरी ओर भूखे बच्चे माँ की हड्डियों से चिपक कर रात बिताते है। युवती अपनी शर्म बेच देती है तथा मालिक वर्ग सुगन्धित तेल-अतरोंवाली विलासिता पर पानी की तरह पैसे बहाते है। दुनिया को भूखों मारकर राजा महल में सुखी और निश्चिन्त होकर सोता है। मन मारकर प्रजा की गहरी सहनशीलता की पहचान कवि ने तभी कर ली थी, लेकिन उसने युवकों का कसमसाता यौवन देखा था और वह पापी महलों से संघर्ष करने का आमंत्रण भी स्वीकार करता है। दिनकर की कविताओं मे प्रखर उत्तेजना तथा सीधी ललकार जागरण-दृष्टि के कारण हैं। आज ये सपाटता और साधारणता का आभास करा सकती हैं, लेकिन छायावाद तथा प्रगतिवाद दोनों के परिप्रेक्ष्य में इन्हें देखा जाय तो अंग्रेजी शासन और अहिंसक राष्ट्रीय आन्दोलन के उस दौर मे ये कवितायें अपने समय को पूरा पचाकर अभिव्यक्त करने वाली हैं। जाहिर है कि दिनकर ऐसी कविताएँ तभी लिख पाये जब अपने समय के काव्य-संस्कारों से उन्होने मुक्त होने की चेष्टायें कीं। 'रसवन्ती' लिखकर भी दिनकर 'लहर' अथवा 'पल्लव' से आगे न जा सके थे तथा 'द्वन्द्व गीत' के बावजूद 'आँसू' की अन्तर्भूत मानवीय करुणा की तुलना नहीं है। दिनकर ने यह जरूर कोशिश की कि छायावादी सौन्दर्य-बोध को ही मैथिलीशरण गुप्त की भाषा से पकड़ा जाय, किन्तु छायावादी चेतना को अपनी सहजता तथा जनोन्मुखता के स्तर पर ग्रहण करने की प्रक्रिया में दिनकर घर के रह सके न घाट के। प्रसाद तो विश्वविद्यालय से बँध गये, लेकिन आगे चलकर इस प्रक्रिया मे दिनकर उच्च-सांस्कृतिक महलों तथा संसद के कवि रह गये। इन्होंने बहुत कचरा लिखा, लेकिन इसके भीतर से आवश्यकता अच्छे साहित्य को पहचानने तथा भव्य स्खलनों की भी चर्चा करने की है।

दिनकर की कविता मंच से बोलती है, यह एक आरोप भी लगाया जा सकता है तथा इसे कविता के दायरे का विस्तार भी समझा जा सकता है। कभी कविता दरबारी और मजेदार हुआ करती थी, आज यह हम आदमियों के आसपास की चीज है। जबकि दिनकर की कविता दरबारों से निकलकर मंच पर आ गई थी। इसने जनता से जुड़ना और बातचीत करना शुरू कर दिया था। इस संवाद को खत्म करने के लिए कविता के भीतर विशुद्ध कलात्मकता तथा विशुद्ध दर्शन-दोनों ही चीजों ने समय-समय पर प्रवेश किया। दिनकर की कविता की ललकारती आत्मीयता ने कविता से इतर किसी पवित्रता की तलाश नहीं की। कवि के लिए भाषा और समाज अलग-अलग चीजें नहीं थीं वह भी हरेक अनुभव में मौजूद था, लेकिन उसकी निजता अत्यन्त सपाट और खुली हुई थी। उसकी प्रतीक-पद्धति उलझी हुई नहीं थी, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता है कि कविता में उसकी अनुभूतियाँ सूक्ष्मता से रहित थीं। सूक्ष्मता का साहित्यिक अर्थ उलझनपूर्णता नहीं होता, न ही विशुद्ध कलात्मक होना होता है, बल्कि इसका मतलब संवेदनात्मक ज्ञान के प्रखर होने से जुड़ा है। प्रत्येक सूक्ष्मता सजग वैचारिक तथा संवेदनात्मक दृष्टि भी माँगती है, जो चीजों को गहराई से, व्यापकता के साथ तथा कार्य-कारण सम्बन्धित आयामों में देख सके। छायावादियों की सूक्ष्मता विशुद्ध कलात्मकता से उपजी थी, जबकि सामाजिक कवियों की सूक्ष्मता संवेदनात्मक तथा वैचारिक दृष्टि की वजह से थी। दिनकर में सूक्ष्म पकड़ इसी कोटि की थी, लेकिन बहुत उथले में।

दिनकर का कवि आजादी मिलने के बाद भी अगर तुरन्त राजभक्त नहीं बनता, तो इसके पीछे कारण यह है कि वह खण्डित राष्ट्रीयतावादी नहीं था। जब तक वह पुरानी सामाजिक-आर्थिक चेतना से प्रेरित रहा, इसके स्वरूप को नहीं माँज पाने के बावजूद भी कविता में पुरानेपन के साथ प्रासंगिकता रही। उत्तेजना की हालत बदलकर व्यंग्यात्मक हो गई। निश्चय ही कविता के तेवर बदल चुके थे, नई पीढ़ी के कवियों ने इसका समानान्तर संसार बना लिया था। दिनकर पुराने पड़ गये थे, लेकिन रचनात्मकता के अभाव के बावजूद 'नीलकुसुम' तक दिनकर में जनचेतना तथा प्रासंगिकता बनी रही। इस समय प्रयोगवाद तथा नयी कविता की धूम थी, दिनकर ने अपनी रचनात्मकता की तलाश इनके भीतर से की। 'सीपी और शंख' तथा 'उर्वशी' में गहरी और भव्य रचनात्मकता के साथ भाषा के सांस्कृतिक मंथन का भी परिचय मिलता है, लेकिन इनमें प्रासंगिकता तथा जनचेतना का क्षोभकारक अभाव है। राष्ट्रीयतावाद पलटी खाकर काफी देर बाद अन्ततः राज की अधीनता स्वीकार कर लेता है। राष्ट्रीयता जब अकेली हो जाती है तो, इसका परिणय किसी न किसी वक्त सुविधावाद से ही होता है। लेकिन दिनकर को अपने समझौतावाद पर अन्तिम दिनों पछतावा हुआ था। समाज और देश को लेकर उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में संघर्ष को लेकर नये सिरे से सोचना शुरू कर दिया था। सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति की भूख जाग उठी थी। मोहभंग तथा पराजय-बोध से निकलकर पुराना दिनकर नई रचनाशक्ति लेकर जीवित हुआ, लेकिन काफी वक्त बीत चुका था। वेल्लूर में आपरेशन के वक्त

जब वह नया संघर्ष स्वीकार करने की तैयारी कर रहा था तथा पुराने पापों का पश्चाताप दहक रहा था, एक कवि को इन सबका मौका नही मिलकर सचमुच बड़ी क्रूर सजा मिली। उसने स्वप्न देखा था—

> फावड़े और हल राजदण्ड बनने को हैं,
> घूसरता सोने से श्रृंगार सजाती है,
> दो राह समय के रथ का घर्घर नाद सुनो,
> सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।
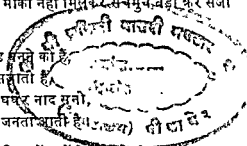
दिनकर का सामाजिक बोध खेतों-खलिहानों-वनों के बीच से होकर गुजर सका, इसने लोकचेतना का भी स्पर्श किया, लेकिन मजदूर-जीवन की विसंगतियों-यातनाओं को उन्होंने कही भी गहराई से नहीं देखा। उनकी नजर सामाजिक विषमता पर थी, लेकिन जनचेतना के नये विकासशील आयामों के द्वारा इसे न तो पहचानने की चेष्टा की, न ही मानवीय संघर्ष की जटिलताओं को वे रख सके। यह दिनकर की सीमा थी कि उन्होने कुछ ठोस बातों तक ही अपने को रखा तथा राजनीति की पेचीदगियों से वे तटस्थ रहे। वस्तुत: प्रखर राजनीतिक चेतना के बिना सामाजिक-आर्थिक बोध भी बहुत कच्चा और अधूरा रहता है। फिर भी आजादी के बाद की सामाजिक चेतना को उन्होंने जिस व्यंग्य के साथ प्रस्तुत किया उसमें अपने समय की राजनीतिक प्रासंगिकता भी है। 'दिल्ली' कविता के अनुभवों तथा बोध को उन्होंने आजादी के काल में जीवन-यथार्थों तक विकसित किया। 'भारत का यह रेशमी नगर' (१९५४) में उन्होंने लिखा—

> गंदगी, गरीबी, मैलेपन को दूर रखो
> शुद्धोदन के पहरेवाले चिल्लाते है,
> है कपिलवस्तु पर फूलों का श्रृंगार पड़ा
> रथ समारूढ़ सिद्धार्थ घूमने जाते है,
> सिद्धार्थ देख रम्यता रोज ही फिर आते
> मन मे कुत्सा का भाव नही, पर जगता है,
> समझाये उनको कौन नही भारत वैसा
> दिल्ली के दर्पण में जैसा वह दिखता है।

दिल्ली का शोषण-कार्य जारी था। भारत धूलों से भरा, आँसुओं से गीला और विपत्तियों में है, ऐसे वक्त मे दिल्ली का यह श्रृंगार तथा शुद्धोदन द्वारा गरीबी और गन्दगी हटाने की चिल्लाहट बहुत बड़ा प्रहसन है। युवराज सिद्धार्थ का प्रतिदिन सावन के अन्धे की तरह घूमना भी एक जाल है। दिनकर का भारत से प्यार सिर्फ जमीन के स्तर पर नही है, इतिहास के स्तर पर भी नहीं, यह मौजूदा सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक विडम्बनाओं के परिप्रेक्ष्य में किसानों तथा सर्वहारा के स्तर पर है। बगीचों

से सजे इस नगर में कुम्हार का चाक नहीं मिलता, किसान नहीं मिलता, मक्का नहीं उगता, फिर कैसी यह दिल्ली है, जहाँ रेशम है, इन्द्रपरियाँ हैं, नेता हैं, मदिरा है, रंगीनी हैं, वेतनभोगी हैं, अमीर है फिर भी यहाँ वह देश नहीं है जिसकी उन्हें तलाश है। फिर यह राजधानी किसानों और सर्वहारा को क्या बनायेगी ? दिनकर का देशबोध खण्डित राष्ट्रीयतावादी तत्त्वों मे जकड़ा हुआ नहीं है। मजदूरों के प्रति लगाव की कमी जरूर खटकती है, पर मालिकों तथा अमीरों से वर्ग-घृणा यह प्रमाणित करती है कि दिनकर का स्वप्न भारत को सुखी गाँवों का देश बनाने का है। वैसे उनके भीतर बना विचारों का व्याकरण उन्हें कई यथार्थों से काट देता है। लेकिन कहा जा सकता है कि दिनकर ने बुनियादी परिवर्तन तथा आजादी की दूसरी ही कल्पना की थी। 'नीव का हाहाकार' (१९५३) की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

तोड़ दो इस महल को पस्त औ' वर्वाद कर दो।
नीव की ईंटें हटाओ
दब गये हैं जो, अभी तक जी रहे हैं
जीवितों को इस महल के बोझ से आजाद कर दो।

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि चालू दौर की जनकविता जब अपना इतिहास पढ़ेगी, तो इसे दिनकर की समाज और देश की कविताओं से अपना रिश्ता महसूस करना पड़ेगा। इनमें समकालीन पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध है। जन से लगाव है। प्रकृति और शृंगार को वे नहीं छोड़ सके, लेकिन हिमालय से जब उन्हें संदेश दिलाना होता है, वे यही कहते है कि जिसे भूख लगी है उसे रोटी चाहिये, गीत नहीं। भूखों के बीच दर्शन उछालना छल और ठगी है। यह जीवन का नजदीकी सच है। दिन-दिन भर ऊँचे महलो में भूखों पर ही बात होती है, दार्शनिक बहसें होती है। यह जन से दूर जाना है। दिनकर ने कविता में कई नैतिक सुक्तियां भी कही है, चमत्कारिक वाक्यों की भरमार है; लेकिन ऐसी जगहों पर दिनकर की भाषा कविता होने से इन्कार करती है। पक्ष और सत्ता मे जाकर रचना हमेशा भ्रष्ट होती है। दिनकर का रचनाकार व्यक्तित्व कई अन्तर्विरोधों काव्यान्दोलनो, विसंगतियों, संघर्षों और सामाजिक प्रेरणाओ से बना है। उन्होंने यह स्वीकार भी किया है कि 'जिस तरह मैं जवानी भर इकबाल और रवीन्द्र के बीच भटके खाता रहा, उसी प्रकार मैं जीवन भर गाधी और मार्क्स के बीच भटके खाता रहा हूँ।'

□

यशपाल का रास्ता

यशपाल के क्रान्तिकारी जीवन तथा साहित्यिक जीवन में किस तरह का अन्तः सम्बन्ध है यह तभी समझा जा सकता है, जब हम यह पता लगाएँ कि उनकी कहानियों में उस राजनीतिक विचारधारा से कैसा लगाव है, जिसके लिए उन्होंने एक क्रान्तिकारी जीवन भी स्वीकार किया था। कुछ अतिरिक्त गाधीवादियों को छोड़ दें, तो आज हिन्दुस्तान का हर आदमी राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम मे हिंसा का पथ अनुसरण करने वाले क्रान्तिकारियों को भी लड़ाई का श्रेय देता है। अंग्रेजी शासन में यशपाल जैसे क्रान्तिकारियो का लक्ष्य था—पूँजीवाद के खिलाफ शोषित श्रेणी द्वारा हिंसात्मक संघर्ष। राजनीतिक आजादी के बाद पूँजीवादी शोषण का चक्र बढ़ा ही, घटा नही। फिर क्या बात है कि जिस देश के इतिहास को झकझोरने में ऐसी सशक्त क्रान्तिकारी पृष्ठभूमि थी और यशपाल की साहित्य-रचना मे भी यह पृष्ठभूमि थी, उस देश और साहित्य में इस परंपरा का विकास अवरुद्ध हो गया? क्रान्तिकारी आगे चलकर तमगा, पुरस्कार, पेंशन और सुविधाएँ बटोरते देखे गए अथवा किसी गहन निराशा अथवा स्मृतिलोप अवस्थाओ में अपने बिस्तर से बंधे उपेक्षित पड़े रहे। कुछ आध्यात्मिक हो गए, कुछ पारिवारिक तथा कुछ यौन-स्वतन्त्रतावादी। क्रान्तिकारी चेतना मे इस विघटन के पीछे कुछ कारण अवश्य थे। सबसे महत्वपूर्ण बात है कि जनता को विश्वास में लिए बिना, जागरण और जनसमर्थन के बिना अहिंसा की तरह हिंसा का अर्थ भी विकृत हो जाता है। हमारे यहाँ एक बड़ी गलती यह हुई कि असंतोष के आंशिक विस्फोट को क्रान्ति समझा गया। जब तक जनता मे इसकी सामाजिक परिस्थिति पैदा करने का काम नही होता और क्रान्ति की चेतना से देशवासियों को व्यापक रूप से जोड़ने की प्रक्रिया शुरू नही होती—ये विस्फोट राष्ट्रीय स्तर पर सामयिक उत्तेजना भर सृष्टि कर पाते हैं। मकसद के पाक-साफ होने के बावजूद नक्सलवादी आन्दोलन इसीलिए विफल हुआ। लेकिन ऐसे विस्फोट महत्वहीन नही होते।

यशपाल ने अपने वक्तव्य मे यह स्वीकार किया है कि एक क्रान्तिकारी ने ही उन्हे यह निर्देश दिया कि वे लेखन के माध्यम से कुछ करें, जिससे क्रान्ति की परिस्थितियाँ तैयार हो सकें। तीन खंडों में 'सिंहावलोकन' उनके राजनीतिक दृष्टिकोण तथा कर्म को जिस रूप में प्रकट करता है, इससे उनकी कहानियों से की जाने वाली माँगें ज्यादा स्पष्ट हो जाती है। कहानी के क्षेत्र मे यशपाल का एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है, लेकिन प्रेमचन्द ने 'कफ़न', 'पूस की रात', 'शतरंज के खिलाड़ी' के द्वारा कहानी को

में सआदत अपने मियाँ नूर हसन के साथ मोहब्बत से रहती थी। कहीं कोई खलल नहीं। अचानक सआदत से पड़ोस के एक मरद हबीब ने आँखें लड़ानी शुरू कर दी, नूर हसन की बीमारी में भी मदद दी। यौन-स्वतन्त्रता का सवाल खड़ा हो गया। मुस्लिम परिवार की परम्परागत जकड़न तो थी ही। नूर हसन ने अपनी बीवी सआदत को खूब पीटा। फिर भी सआदत ने आध्यात्मिक तथा भावुकतापूर्ण नाटक के साथ नूर हसन द्वारा अपना गला कटवा लिया तथा पुलिस के लिए आत्महत्या के सबूत छोड़े। यह घटना कहानी को वस्तुवादी नहीं रहने देती तथा कहानीकार की अक्षमता प्रगट करती है कि यौन-स्वतन्त्रता के सवाल का वह निर्वाह नहीं कर रहा है। यह स्मरण रहे कि शहरी जीवन तथा मध्यमवर्ग में जो यौन स्वतन्त्रता अभी स्पृहणीय है और संघर्ष का एक मुद्दा है, ग्रामांचल, निम्न-जातियों तथा आदिवासियों में यह काफी सीमा तक स्वतः सुलभ है। पिछड़ी जातियों में औरतें पुरुषों के समान कामगार, कम लज्जाशील और खुले यौन सम्बन्धों वाली होती हैं। यह समाज व्यवस्थाकी गड़बड़ी है कि इसके फलस्वरूप उनका शोषण भी सबसे अधिक होता है।

'ज्ञानदान,' 'तर्क का तूफान', 'प्रतिष्ठा का बोझ, 'उत्तराधिकारी,' 'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ' यौन स्वतन्त्रता की ऐसी ही कहानियां है, जो वस्तुवाद के परिप्रेक्ष्य मे प्रेम के प्रति जड़ दृष्टिकोणों को चुनौती देती है। 'ज्ञानदान' में ऋषियों-संन्यासियो की ऐतिहासिक कथा के माध्यम से देह तथा प्रत्यक्ष जीवन-संसार के आकर्षण की स्थापना की गई है। 'तर्क का तूफान' में लता का अवध के प्रति बढ़ते आकर्षण और अतीत की छाया को तोड़ने की कहानी है। सौन्दर्य और देह की चाह का लक्ष्य क्या है? यशपाल की नारियाँ अक्सर शादी-शुदा होती है तथा दूसरे पुरुष में उनके आकर्षण का कारण सामान्यतः कोई पूर्व असन्तोष नही होता, बल्कि वस्तुस्थिति को भौतिक ढंग से भोगना होता है। यौन-कर्म भी एक तरह की भूख की उपज है, लेकिन समाज इसे भूख मे अलग दर्जे का महत्व देकर वर्जनाओं के सिंहासन पर बैठा देता है। दूसरे पुरुष तथा दूसरी औरत मे आकर्षण मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, लेकिन यौन स्वतन्त्रता कहाँ यौन-अराजकता अथवा यौन-शोषण नही है, इसको रेखांकित करना होगा। यशपाल की कहानियों के मामले मध्यम वर्ग के हैं। 'उत्तराधिकारी' मे निम्न मध्यम वर्ग की यौन-समस्याओं के सवाल को उत्तराधिकार के प्रति मोह रूप में उठाया गया है, लेकिन क्या यह 'सम्पत्ति के मोह' को भी प्रतिध्वनित करके समाजवादी विचारों से स्खलित होने की गवाही नहीं देता? नपुंसक हरसिंह अपनी बीवी कुशली के दूसरे मरद के घर रहने के दंश को इसलिए भूल जाता है कि वह माँ बन गई है तथा उसका एक उत्तराधिकारी हो गया है। यशपाल ने निम्नवर्ग के जीवन को भी उठाया है, तो समस्या मूल रूप से यौन तथा उत्तराधिकार की उभरी है, इसमे कहानियों मे यशपाल के राजनीतिक दृष्टिकोण पर सन्देह होता है। यशपाल ने मानवीय संवेदना को नई भाषा दी है तथा संवादों की चुस्ती और घटनाक्रमों के कलात्मक संयोजन से कहानी मे रोचकता भी बढी है, लेकिन यशपाल की ऐसी कहानियाँ दूर तक सुनायी नहीं पड़ती। ये आदमी को बुनियादी संघर्षों के बीच खड़ा

जहाँ पहुँचाया था, यशपाल ने वहाँ से हिन्दी कहानी को विकसित करके कौन-सा रू दिया ? प्रेमचन्द के अपने पीछे क्रान्तिकारी संघर्ष की कोई पृष्ठभूमि भी नहीं थी, फि भी वे 'कफन' लिख सके। अतः यह शिकायत लाजिमी नहीं है कि यशपाल के समय कहानी अत्यन्त पिछड़ी हुई थी और यशपाल के सामने अपनी राजनीतिक विचारधारा से कहानी को जोड़ने के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं था।

अक्सर यशपाल पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनकी कहानियों में प्रचार है। उनकी कहानियाँ सिद्धान्त की मुद्राओं में कैद होकर रह गई हैं। यशपाल के प्रवृत्ति-मूलक पात्र विचारों के आग्रही हैं। यह भी कहा जाता है कि वे ऐसे मनोरंजन के रचना-कार हैं, जिसकी सिर्फ व्यवसायिक कीमत है। यह धारणा भी व्यक्त की जाती है कि यशपाल क्रान्तिकारी और सफल आदमी दोनों हैं। ऐसे आरोपों से हम यशपाल के रचना-शील चरित्र को नहीं समझ सकते। हमें यह पहचान करनी होगी कि यशपाल की कहा-नियों के भीतर कौन-सा परिवेश तथा किस तरह की विचारधारा काम कर रही है। यशपाल अपनी राजनीतिक विचारधारा के जिन मूल्यों को अपने क्रान्तिकारी जीवन में ढो रहे थे, उसकी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि स्वाधीनता-आन्दोलन के दिनों में थी। उस समय की हिंसा भी लोगों में उत्साह जगाती थी, क्योंकि लोगों के मन में अंग्रेजी साम्रा-ज्यवाद को हटाने की भावना बलवती हो गई थी। पर अंग्रेजों को हटाने के बाद शोषण-मुक्त समाज स्थापित करने की चेतना बहुत थोड़े लोगों के दिमाग तक ही सीमित थी। अतः यशपाल ही नहीं, देश के क्रान्तिकारी लोग अगले कार्यक्रम की ओर तेजी से लड़ने की अपेक्षा पीछे हट गए और धीरे-धीरे इनका संसदीयकरण होता गया। रचना के स्तर पर क्रान्ति की समस्याएँ संकुचित स्वरूप ग्रहण करने लगीं। एक बार जो क्रान्तिकारी ठहर जाता है, वह पुनः चलने के लिए मुश्किल से खड़ा हो पाता है। अतः जहाँ एक समय चट्टानी इरादों वाला मन कठोर पहाड़ की तरह हो गया था, अब वहाँ दबे रोमान की सहस्र धाराएँ फूटने लगीं।

सामान्यतः यशपाल की कहानियों की प्रधान समस्या है सामाजिक वर्जनाओं, टोटम तथा यौन-स्वच्छन्दता की। भारतीय समाज में प्रेम की एक अव्यक्त घुटन मिलती है। कथाकार ने प्रेम की परंपरागत वर्जनाओं को अस्वीकार किया है। एक पक्षीय त्यागपूर्ण समर्पण भाव अर्थात 'जैनेन्द्रीयता' को भी इन्होंने चुनौती दी। प्रेम को काम और नैतिकता के सवालों से जोड़कर उन्होंने अपनी कहानियों में भौतिकवादी नैतिकता की स्थापना की है। इसे हम क्रान्तिकारी तो नहीं कह सकते, क्योंकि उन्होंने यौन और नैतिकता के सवालों को आर्थिक चिंतन से अलग व्यक्तित्व देकर देखा, पर इसे 'बोल्ड' अवश्य कहा जा सकता है अर्थात् सशस्त्र क्रान्ति और श्रमिक वर्ग के नेतृत्व में वर्ग संघर्ष की अवधारणा को उन्होंने कहानी में वस्तुवादी यौनदृष्टि के रूप में परिवर्तित किया।

प्रेम में मिथ्या आश्वासन तथा परंपरागत त्यागपूर्ण नारी-समर्पणभाव को नये रोमान के साथ उन्होंने 'पहाड़ की स्मृति' कहानी में उपस्थित किया था। लेकिन अपनी प्रारम्भिक कहानियों की इन कमजोरियों से वे धीरे-धीरे बचते गये। 'जहाँ हमद नहीं'

में सआदत अपने मियाँ नूर हुसन के साथ मोहब्बत से रहती थी। कही कोई खलल नही। अचानक सआदत से पड़ोस के एक मरद हबीब ने आँखें लड़ानी शुरू कर दी, नूर हसन की बीमारी मे भी मदद दी। यौन-स्वतन्त्रता का सवाल खड़ा हो गया। मुस्लिम परिवार की परम्परागत जकड़न तो थी ही। नूर हसन ने अपनी बीवी सआदत को खूब पीटा। फिर भी सआदत ने आध्यात्मिक तथा भावुकतापूर्ण नाटक के साथ नूर हसन द्वारा अपना गला कटवा लिया तथा पुलिस के लिए आत्महत्या के सबूत छोड़े। यह घटना कहानी को वस्तुवादी नही रहने देती तथा कहानीकार की अक्षमता प्रगट करती है कि यौन-स्वतन्त्रता के सवाल का वह निर्वाह नही कर रहा है। यह स्मरण रहे कि शहरी जीवन तथा मध्यमवर्ग में जो यौन स्वतन्त्रता अभी स्पृहणीय है और संघर्ष का एक मुद्दा है, ग्रामांचल, निम्न-जातियों तथा आदिवासियों मे यह काफी सीमा तक स्वतः सुलभ है। पिछड़ी जातियों में औरतें पुरुषों के समान कामगार, कम लज्जाशील और खुले यौन सम्बन्धों वाली होनी है। यह समाज व्यवस्थाकी गड़बड़ी है कि इसके फलस्वरूप उनका शोषण भी सबसे अधिक होता है।

'ज्ञानदान,' 'तर्क का तूफान', 'प्रतिष्ठा का बोझ, 'उत्तराधिकारी,' 'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ' यौन स्वतन्त्रता की ऐसी ही कहानियाँ है, जो वस्तुवाद के परिप्रेक्ष्य में प्रेम के प्रति जड दृष्टिकोणों को चुनौती देती हैं। 'ज्ञानदान' में ऋषियों-संन्यासियो की ऐतिहासिक कथा के माध्यम से देह तथा प्रत्यक्ष जीवन-संसार के आकर्षण की स्थापना की गई है। 'तर्क का तूफान' में लता का अवध के प्रति बढते आकर्षण और अतीत की छाया को तोड़ने की कहानी है। सौन्दर्य और देह की चाह का लक्ष्य क्या है? यशपाल की नारियाँ अक्सर शादी-शुदा होती है तथा दूसरे पुरुष में उनके आकर्षण का कारण सामान्यतः कोई पूर्व असन्तोष नही होता, बल्कि वस्तुस्थिति को भौतिक ढंग से भोगना होता है। यौन-कर्म भी एक तरह की भूख की उपज है, लेकिन समाज इसे भूख से अलग दर्जे का महत्व देकर वर्जनाओ के सिंहासन पर बैठा देता है। दूसरे पुरुष तथा दूसरी औरत में आकर्षण मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, लेकिन यौन स्वतन्त्रता कहाँ यौन-अराजकता अथवा यौन-शोषण नही है, इसको रेखांकित करना होगा। यशपाल की कहानियो के मामले मध्यम वर्ग के हैं। 'उत्तराधिकारी' मे निम्न मध्यम वर्ग की यौन-समस्याओं के सवाल को उत्तराधिकार के प्रति मोह रूप में उठाया गया है, लेकिन क्या यह 'सम्पत्ति के मोह' को भी प्रतिध्वनित करके समाजवादी विचारों से स्खलित होने की गवाही नही देता? नपुंसक हरसिंह अपनी बीवी कुशली के दूसरे मरद के घर रहने के दंश को इसलिए भूल जाता है कि वह माँ बन गई है तथा उसका एक उत्तराधिकारी हो गया है। यशपाल ने निम्नवर्ग के जीवन को भी उठाया है, तो समस्या मूल रूप से यौन तथा उत्तराधिकार की उभरी है, इसमे कहानियों मे यशपाल के राजनीतिक दृष्टिकोण पर सन्देह होना है। यशपाल ने मानवीय संवेदना को नई भाषा दी है तथा संवादों की चुस्ती और घटनाक्रमों के कलात्मक संयोजन से कहानी मे रोचकता भी बढी है, लेकिन यशपाल की ऐसी कहानियाँ दूर तक सुनायी नही पड़ती। ये आदमी को बुनियादी संघर्षों के बीच खड़ा

नहीं करती। रसेल ने 'मैरेज एण्ड मोरल्स' में लिखा है—'विवाह दूसरे काम सम्बन्धों से पृथक इसलिए है कि यह एक कानूनी अथवा धार्मिक संस्था भी है।···लेकिन यह देखा जाता है कि ज्यादा सभ्य लोग एक जीवन-साथी से खुश नहीं रह पाते। विवाह के बाद इस सुख मे बाधा सभ्य समाज मे बढ़ जाती है। मुझे विश्वास है कि विवाह औरत-मर्दों के बीच सबसे अच्छा तथा महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। मगर पति-पत्नियों को यह समझ लेना चाहिए कि कानून या शास्त्र जो भी कहता हो, अपने व्यक्तिगत जीवन में वे स्वतन्त्र है।' यशपाल की ज्यादातर कहानियाँ यौन-सम्बन्धो के इसी दृष्टिकोण से प्रेरित है। पर 'खूब बचे' में कुमार यह दृष्टिकोण भी स्वीकार नहीं करता। वह बिना विवाह किए अपनी सहयोगी-प्राध्यापिका संबल को फंसाकर सिर्फ़ यौन-आनन्द लेना चाहता है। पर 'जैनेन्द्रीय' रूप मे संबल भी सुरक्षित बच जाती है तथा कुमार भी विवाह के चक्कर से बच जाता है। क्या मतलब निकला? क्या इसमे जीवन की कोई स्वस्थ दृष्टि है? यौन आनन्द प्राप्त करने और रोटी प्राप्त करने में कोई फर्क है? यशपाल के इन लक्ष्यो के लिए घटनात्मकता तथा पात्रों को मर्जी से जिधर चाहे मोड़ देने की कला बहुत सहायक होती है। 'दाग ही दाग' मे मिस्टर सिंह का पुलिस मे अपनी वफादारी और न्यायप्रियता का ऐसा दुर्लभ चरित्र कथाकार ने बुना है, जो यौन-सुख से अपने कर्तव्य को श्रेष्ठ साबित करता है। भारत के पुलिस अधिकारी का यह बडा ही दुर्लभ और ऐतिहासिक चेहरा दिखाई पडता है! 'शुरफा' के रजिस्ट्रार नफीस साहब ने अपने एक दोस्त की बीवी उड़ा ली, लेकिन बाकी में साहब बहुत ईमानदार, नेक दिल और ऊंची पसन्द वाले थे। अब सवाल है कि यशपाल की कहानियों में यथार्थवाद का कौन सा रूप है? या इन कहानियों मे यथार्थ का आभास भर है और सिर्फ़ किस्सागोई है?

'दिव्या', 'मनुष्य के रूप' या 'झूठा-सच' में यशपाल ने कहानी की कमजोरियों को दूर कर लिया हो, ऐसी बात नहीं। जहाँ भी मौका मिला है वे स्थलों को रसदार बनाने से नहीं चूके है, लेकिन इन उपन्यासों में जीवन का बड़ा फलक रहने के कारण वे काफी खूबियाँ भी भर सके है। नारी-पुरुष के यौन-प्रधान अन्तर्द्वन्द्वों मे वे ज्यादा फँसे हैं। कई जगहों पर मुक्त भी हुए है। 'समय' और 'आशीर्वाद' शीर्षक कहानियो मे बुढ़ापे की अवस्था मे आदमी की पीडाजनक अनुभूतियो को बहुत बारीकी से अभिव्यक्त किया गया है। इसी तरह 'माडर्न' तथा 'भली लड़कियाँ' मे लडकियों की फैशनपूर्ण आधुनिकता पर व्यंग्य है। लेकिन ये सभी पात्र ऐसे मध्य वर्ग के हैं, जिनके भीतर से कहानियाँ सैकड़ो फूट सकती है। लेकिन वे किसी क्रान्तिकारी विचारधारा का वहन नहीं कर सकते। जाहिर है यशपाल ने अपने ही क्रान्तिकारी जीवन तथा मार्क्सवादी विचारधारा से अपनी कहानियों को दूर रखा और मात्र अपने क्रान्तिकारी अतीत की वजह से प्रगतिवादी शिविर के पहरूए रहे। वैसे सामाजिक रूप मे उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण तथा नये लेखकों के प्रति उनके विचारो मे उदारता के प्रति कोई सन्देह नहीं करना चाहिए।

मध्यमवर्गीय पात्रों के सन्दर्भ मे लियो-शाओ ची की पुस्तक 'चीनी कम्युनिस्ट पार्टी' मे ये पंक्तियाँ पर्याप्त है—'पार्टी मे शामिल मध्यवर्गीय लोगो को, जिन्होंने मार्क्स-

वादी-लेनिनवादी विचारधारा को ठीक तरह से नही अपनाया था, अवसरवाद को फैलाने का मौका मिल गया। जिस समय नेतृत्व मे मध्यमवर्गीय विचारधारा का बोलबाला था, राजनीति में दक्षिणपन्थी और वामपन्थी अवसरवाद के साथ-साथ पार्टी के निर्माण और संगठन में भी यही नीतियाँ चलती थी।' जब तक कहानी मे मध्यमवर्गीय पात्रों का बोलबाला रहेगा, इनकी सुविधावादी विचारदृष्टि रचना को हमेशा जनविरोधी दिशाओ मे ले जाएगी। लेकिन मध्यमवर्गीय समाज मे कुछ ऐसे लोग भी होते है, जो अपने को निरन्तर वर्गच्युत करने की कोशिश करते हैं।

यशपाल की वैचारिक पृष्ठभूमि तैयार करने मे गाधीवाद के विरोध ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। एक राजनीतिक विचारक ने कहा कि गांधीवाद गाधी का फेंका हुआ वस्त्र है। वस्तुत. गाधी ने जो भी विचार व्यक्त किए, वे दर्शन कम, अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ रणनीति ज्यादा थे। गाधी के माध्यम से स्वाधीनता आंदोलन ने जो चिन्तन किया, इसके अन्तर्विरोध हो सकते है, लेकिन अन्यायी के खिलाफ शान्तिपूर्ण आन्दोलन या सत्याग्रह करने का अपना महत्व होता है। शान्तिपूर्ण सत्याग्रह अनशन अथवा सिविलनाफरमानी के कायदे साम्यवादियों ने भी अपनाए। अत. यशपाल का यह विचार गलत है कि अहिंसात्मक सत्याग्रह अंग्रेज साम्राज्यवादियों से घरेलू लड़ाई के लिए था तथा इसका रूप व्यक्तिगत था (न्याय का संघर्ष)। इसके माध्यम से जनता उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष चला रही थी। यह एक सच्चा संघर्ष था। नेतृत्व के भटकावों ने इस संघर्ष के साथ विश्वासघात किया।

यशपाल की दो कहानियाँ लें—'धर्मयुद्ध' और 'पागल हैं'। कथाकार की घोषणा के अनुसार 'धर्मयुद्ध' कोई हास्य-कथा नही है, यह सत्याग्रह पर करारा व्यंग्य है। के० लाल ने अपने कुछ आधुनिक मित्रो को शराब और भोजन के लिए आमंत्रित किया था। माँ-बहन सात्विक प्रवृत्तियो के थे, अत. चोरी छुपे पार्टी चल रही थी। अचानक बूढी माँ को खबर लग गई और तीखे स्वर में उन्होंने गाली-गलौज करके अतिथियों को भगा दिया। के० लाल के स्वाभिमानी व्यक्तित्व को उनका यह अपमान सह्य नही हुआ और आमरण सत्याग्रह की घोषणा करके वे सिर पटकने लगे। घर वालो में त्राहि-त्राहि मच गई। माँ-बहन माफी माँगते हुए चिरौरी-विनती करने लगी। कथाकार ने यहाँ सत्याग्रह की अवधारणा को मध्यमवर्गीय सफेदपोशी तथा आत्मघात के साथ-साथ व्यक्तिगत प्रवृत्ति से जोडकर अगर इसका मजाक उडाने का प्रयास भी किया है. तो यह राजनीतिक आन्दोलनो के चरित्र के अनुकूल न होने के कारण हल्का व्यक्तिगत हास्य होकर रह गया है। व्यक्तिगत रूप मे सुविधावादी जिद कभी भी सामाजिक राजनीतिक सत्य का रूप नही ले सकती, अतः यह आन्दोलन तो बन ही नही सकती। 'न्याय का संघर्ष' मे यशपाल ने कहा था कि 'सत्याग्रह का वास्तविक रूप हडताल है।' लेकिन बंगाल मे जुल्मी शासन के अत्याचारों के विरुद्ध जनता की माँगों को लेकर जो बंगाल बंद होते रहे हैं, ऐसी हडतालों का मजाक यशपाल ने 'पागल हैं' कहानी में उड़ाया है। आमतौर पर व्यवस्था-पोषक यह तर्क देते हैं कि हड़ताल होगी, तो सवारी नही मिलेगी। सवारी नहीं होगी,

तो बीमार आदमी को अस्पताल कैसे पहुँचाया जायेगा। मानो पूरे शहर के लोग इसी दिन बीमार पड जाते हों। यशपाल की इस कहानी में हड़ताल के दिनों में बसों पर ईंट-पत्थर फेंकते लडके मिले और एक अत्यधिक बीमार आदमी मिला। इनके माध्यम से ऐसी दशाओं की उन्होंने रचना की कि यह हड़ताल जनता ने अपनी माँगों के लिए नहीं की है, बल्कि कुछ उच्छृंखल लड़के बसों पर ईंट-पत्थर फेंक कर अथवा इन्हें उलट कर आतंक तथा भय द्वारा हडताल पालन करा रहे हैं। दूसरी तरफ जगदेव को अपने बीमार पिता को कंधे पर ढोते हुए लाचार रूप में दिखाया गया है। इनमें शिवनाथ का चरित्र ऐसा है, जो हडताल का समर्थक होते हुए भी इस वक्त मानवीय करुणा से वशीभूत है। आखिरकार यशपाल ने क्या बताने के लिए ऐसी घटनाएँ रचीं ? एक समय के क्रान्तिकारी यशपाल नये परिप्रेक्ष्य मे हडताल के भी विरोधी कैसे हो गए ?

कहानी अथवा किसी भी विधा का साहित्य राजनीतिक चेतना अथवा सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की चेतना से मुक्त नही होता। विचार भी अच्छी रचनाओं के भीतर ध्वनित होते हैं, ये लोइयाँ बनाकर इन पर पाथे हुए नहीं होते। यशपाल की कहानियाँ विचारों से लदी हुई हैं अथवा ये वैचारिक संदेश देती हैं, यह कहना गलत है। यशपाल अपने साहित्यिक जीवन में वैचारिक उलझाव के तथा इनके पात्र मध्यमवर्गीय सुविधाभोगी चेतना के शिकार रहे है। अत. इनकी कहानियों मे विचार नही, विचारधारा का खंडन मिलता है। कही-कहो अन्त मे कुछ पंक्तियों में इनके विचार कहानी में बैसाखी की तरह फिट किए गए रहते है। जबकि कोई भी ऐसा विचार जिसे जनमानस से जुडना है, अपनी माटी में लगातार संघर्षों, खोजों और सैंकड़ों वर्षों के संचित अनुभवों के बीच से बनता या विकसित होता है। लेनिन ने कहा है 'मार्क्सवादी साहित्य यथार्थ में विश्वास पर टिके होते है। ये सामाजिक विकास के नियमों को पहचानते है। वर्ग-स्थितियों का वैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं तथा जनसाधारण के व्यापक संगठित आन्दोलनो से प्रेरणा लेते है।' उन्होने लेखकों को व्यक्तिगत सम्पत्तिवाली समाज व्यवस्था से लडने का आह्वान करके यथार्थवादी दृष्टि को गहरा करने, साहित्य में मानवीय समस्याओं पर ध्यान देने तथा जनता को रचनात्मक प्रचेष्टाओं के साथ अंकित करने का आह्वान किया था। उन्होंने कहा था कि जनजीवन में क्रान्तिकारी बदलाव के लिए कला की एक जरूरी भूमिका होती है (लेनिन एण्ड प्रावलम्स आफ लिटरेचर)। लेनिन की इन बातों से शायद ही किसी लेखक को एतराज हो, क्योंकि ये साहित्य की अपनी बुनियादी बातें है। फिर यशपाल की कहानियो में सामाजिक यथार्थ की ऐसी कौन सी रचनात्मक शक्तियाँ हैं, जो क्रान्तिकारी बदलाव मे हिस्सा लेने के लिए आगे बढ़ती हैं। चाहे वह 'पराया सुख' हो या 'खूब बचे'। तो क्या इनकी कहानियाँ रोमांटिक घटना प्रधान किस्सागोई पर ही टिकी हुई हैं ?'

यशपाल और नई कहानी के सम्बन्ध पर थोड़ी बातें करनी चाहिए। नई कहानी ने शायद कहानियों से कही ज्यादा अपने ऊपर समीक्षाएँ दी। फिर भी अपनी स्थिति अगर यह खुलासा नही कर सकी, तो शायद इसलिए कि समकालीन सामाजिक शक्तियाँ

की वास्तविक पहचान के अभाव के साथ अपनी पूर्ववर्ती परम्परा तथा प्रसाद, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल से भी इसके रिश्ते साफ नहीं थे। इसने 'कफ़न,' 'शतरंज के खिलाडी' इत्यादि की परम्परा को नये आयामों मे विकसित नही किया। यशपाल पर इसने सबसे कम ध्यान दिया। भले ही अपने को 'पराया सुख' के कथ्य से जोडकर आत्मसन्तोष कर लिया हो। यशपाल नई कहानी के बगल मे बराबर लिखते रहे तथा नई कहानी वाले इनसे प्रेम रखते हुए भी इनकी आलोचना करने में बराबर खतरा महसूस करते रहे। अगर जैनेन्द्र निजी संरक्षणशीलता के लिए उतना आक्रामक नहीं होते और नामवर सिंह जैसे लोग बुनियादी मुद्दों से भटककर नई कहानी के गलत रूप की इतनी वाहवाही नही करते, तो नई कहानी को भटकने का इतना मौका नही मिलता। इसमें विकृत अभिरुचियो, मध्यमवर्गीय संस्कारों, ग्लैमरपूर्ण यथार्थ और रोमानी द्वन्द्व के बुलबुले नही फूटते। यह वास्तविक धरातल पर जनता से जुड़कर इसकी सोई-जगी क्रान्तिकारी ताकतों को पहचानती। सामाजिक बदलाव की छटपटाहट को रेखाँकित करती। जनप्रतिरोध को अभिव्यक्त करती। मध्यमवर्गीय समाज किस प्रकार व्यवस्था की कवच बनता जा रहा है, इसकी शिनाख्त होती। पूँजीवादी समाज के ढकोसले तथा अन्तर्विरोध उभर पाते और तानाशाही ताकतों का बढ़ना दिखाई पडता। समाज के भीतर प्रतिक्रान्तिकारी ताकतों को किताब के सूत्रों से ही नही, बल्कि भारतीय समाज व्यवस्था की नब्ज पकड़कर भी समझना होगा। कदम-कदम पर जनसमाज को जो प्रतिगामी रुकावटें, शोषण तथा दमन झेलने पड रहे है, इनकी यथार्थवादी अभिव्यक्ति क्या नई कहानी अथवा इसकी सहयोगी कहानी-धाराएँ दे सकी ? यह निम्नवर्गीय जीवन, ग्रामाचलों के संघर्ष और दलितो की अपमानपूर्ण जिन्दगी को कितना उभार सकी ? यह प्रताडित इन्सान का कहाँ-कैसा हथियार बन सकी ? एक अस्त्रोपचारक की तरह इसने जनजीवन और समाज व्यवस्था का कितना आपरेशन किया और आर्थिक सम्बन्धों का कैसा विश्लेषण प्रस्तुत किया ? नई कहानी ऐसा दर्पण बन गई, जिसे व्यवसायिकता, विचारहीनता और सुविधावाद के काले रंग से लीप दिया गया हो। अत: जनजीवन कहाँ प्रतिबिम्बित हो ? मनुष्य के ऐसे अनुभव भी कहाँ अभिव्यक्ति हुए, जो अपनी प्रकृति में अकृत्रिम होते हैं तथा सामाजिक धारा के अंग होते है। इनमे रचनात्मकता की ऐसी गहराई मिलती है जो समय के दंश से युक्त हो। मानवीय जीवन के बिखरे अनुभवों, संघर्षों, अपमानों, परिश्रमों, आकांक्षाओं, अधिकारों, कष्टों में भी एक सामूहिक लोकशक्ति तथा क्रान्तिकारी चेतना की पहचान किसने की, कि पढ़ लेने के बाद किसी जन को लगे कि यह उसकी कहानी है, भारत की कहानी है। औद्योगिककरण के नाम पर शहर-गाँवों की बदली स्थितियों की कहानियाँ आयी, क्या वे सचमुच क्रान्तिकारी परिस्थितियों की वास्तविक पहचान बनाती है तथा इन्हे रचनात्मक स्तर पर सींचने, प्रस्फुटित करने तथा आगे बढ़ाने का यथार्थवादी संकल्प रखती हैं ? यह ठीक है कि किसी दार्शनिक ग्रंथ के वैज्ञानिक सूत्रों को प्रमाणित करने के लिए लिखी गयी कहानियों मे कभी भी जनजीवन और सांस्कृतिक क्रान्ति की परिस्थितियों की पहचान नहीं

उभर पायेगी, यह कही किसी जगह जरूरी भी नही बन पायेगी, पर राजनीतिक-गहरे अर्थो मे सम्पूर्ण रूप से सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति की विचारधारा को पीछे छोड़कर भी कोई रचनाकार जन-जीवन की अथवा सही मायने मे किसी आदमी अथवा व्यक्ति के संसार को अभिव्यक्त करने वाली कहानिया नही दे सकेगा। किसी कल्पना, किसी अनुभव, किसी आकांक्षा, किसी पात्र, किसी साधन, किसी अनुभूति, किसी सौंदर्य को चुनते समय हमे ख्याल रखना चाहिये कि हम कुछ भी अकारण नही चुनते।

प्रेमचद की कहानिया पाठक को जिन दिशाओ में बढा और उकसा पाती थी, यशपाल की कहानिया पाठक में एक चुलबुलाहट करके थक जाती हैं। यशपाल यह स्वीकार करते है कि उन्होने मजदूर और किसानों के जीवन पर नहीं लिखा। वे उधर नही गये। फिर उनका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वर्ग-चरित्रों को लेकर किस प्रकार कार्य करेगा, अगर ये पात्र उत्पादन के साधनों से सीधे नहीं जुड़ते। जाहिर तौर पर यशपाल की कहानिया मार्क्सवादी कहानिया नही है। लेकिन इसके पीछे मार्क्सवाद की कुछ दृष्टिया जरूर काम करती रही है। थोड़े अकुश रहे है, जिनके कारण वे जैनेन्द्रीश्ता के आत्मसमर्पणमुखी नारी-भाव मे नहीं डूबे, न आध्यात्मिक झुकाव ही हुआ। ये नयी कहानी मे वह नही गये, लेकिन इन्होने अपने को इससे काफी दूर अथवा विरोध मे भी नही रखा। वे नयी कहानी के बगल के कलाकार है, इसीलिए इससे उनका समझौता भी रहा। नई कहानी से यशपाल ने कुछ सीखा, यह नई कहानी के सम्बन्ध मे बहुत बड़ी बात होगी, लेकिन पड़ोसी से अप्रभावित बचना भी मुश्किल होता है। खास तौर पर ऐसे वक्त पर जब यशपाल को कहानी में मनोरजन के तत्व भी कुछ देने हों। व्यावसायिक तंत्र ने अपने स्वास्थ्य के अनुकूल नये शिल्प की माग यशपाल और कहानी दोनों से की। यशपाल की कई कहानियो से अन्तिम पैराग्राफ हटा दिये जायें जहां वे विवेक तथा भौतिकतावादी कल्पना के आधार पर नई नैतिकता की माग करते है, तो उनकी कहानी तथा नई कहानी मे फर्क धूमिल हो जायेगा। सैक्स की तरह भूख को भी यशपाल ने अत्यंत स्थूल रूप मे लिया है। 'खच्चर और आदमी' मे अस्तित्ववादी तेवर के साथ कथाकार ने आत्मसकट की एक ऐसी परिस्थिति की रचना की, जिसमे संस्कारों से मुक्त हो कर स्थिति अनुकूल होकर जीने की बात की गई है। ऊंचे बर्फीले पहाड़ पर कुछ लोग बर्फ से घिर जाते है और उनका रसद पानी शेष होने लगता है। एक खच्चर मासाहारी बनकर दूसरे खच्चर का गोश्त खाता है, पर एक ब्राह्मण उतने कड़ाके की ठंड में भी ब्राडी नही पीता और गीले कपड़े उतारे बिना रजाई के थैले में घुस जाता है। फलस्वरूप स्थिति अनुकूल आचरण करने के कारण खच्चर तो बच जाता है, पर कर्मकाडनिष्ठ ब्राह्मण परलोक सिधार जाता है। अब सवाल यह है कि आज आदमी ही आदमी का खून पी रहा है। शोषक जिन्दा है तथा शोषित मर रहे हैं। फिर स्थिति अनुकूल होकर जीना सामाजिक व्यवहार मे कब अवसरवादी-संशोधनवादी रख ले लेगा और कब यह सामंती संस्कारों के बदलाव के रूप मे प्रकट होगा—क्या ठिकाना? यशपाल कुछ सूत्रों को सिद्ध करने मे कभी-कभी कहानी का सत्यानाश कर डालते है। इनकी एक दूसरी कहानी

'दीनता का प्रायश्चित' में दरवान का बेटा सदानंद भूख से व्याकुल होकर भी मेजवान के घर मध्यमवर्गीय सफेदपोशी के भ्रम पालता है तथा वस्तुस्थिति का सामना नहीं करना चाहता। जब वस्तुस्थिति प्रकट होती है तो अत्यंत भोले ढंग से वह दीनता के अपमान मे तड़पने लगता है। आखिर सदानंद अपने वर्ग का सीधा प्रतिनिधित्व करके क्यों नहीं जीना चाहता ? और एम० ए० की परीक्षा पास करके कुछ बन जाने तथा बड़े लोगों से आँखें मिलाकर बात करने की स्थिति में होने से क्या निम्नवर्ग की समस्याएँ मिट जायेंगी ? यशपाल ने सदानंद से यह कैसा दृष्टिहीन निश्चय कराया। इससे कुछ ज्यादा सधी हुई उनकी एक पुरानी तथा छोटी कहानी है-'अभिशप्त'। इसमे भूख का भयावह चित्र ही नहीं है, बल्कि मध्यमवर्गीय तबके की स्वार्थपरता के कंट्रास्ट में आर्थिक विसंगति का एक चिर-परिचित रूप सामने खड़ा हो गया है। भूख से पागल एक लड़का अपनी ही मां के नन्हे बच्चे की हत्या कर देता है और पूछने पर कहता है—'अम्मा घोल हमें नही देती, नन्हे को पिला देती है। बड़ी भूख लगी थी।'

'भूख के तीन दिन' यशपाल की एक लंबी तथा चर्चित कहानी है। वे कहानी-कला से प्रवीण लेखक है। अतः उन्होंने कहानी को इसके कथ्य से काफी अधिक लम्बा करके भी रोचक बनाये रखने में कोई कसर बाकी नही रखी है। सरस भूख कैसी होती है, यह नंदन के पत्रकार-जीवन को देखने से लगता है। डेढ़-पौने दो सौ पाकर भी रिक्शा पर सफर करना, धूम-धड़ाके से आत्म-स्थापना के लोभ मे कॉफ़ी-सिगरेट मे पैसे फूंकना, मित्रों में कर्ज बांटना, फक्कड़-मस्ती की जिन्दगी जीना नंदन के जिंदादिल इन्सान होने का सबूत तो देता है, पर यह भूख की पृष्ठभूमि को हल्का भी कर देता है। लेखकों के साथ ऐसी बातें घटित होती हैं, लेकिन लेखक और बुद्धिजीवी वर्ग आज साधारणतः भ्रष्ट होता है तथा रास्ता निकाल कर अपने को ऊंचे मे वेचना चाहता है। अखबार के दफ्तर में नंदन का सह-संपादक से झगड़ा किसी बुनियादी मुद्दे पर नहीं होता। हर जगह मिथ्या स्वाभिमान में जीता हुआ नंदन भूख के सामने भोला बनाकर ऐसे खड़ा कर दिया जाता है कि भूख का चित्रण करना जरूरी है, अतः उसे भूखा रखो। सामाजिक स्थितियों के द्वन्द्वात्मक विकास से भूख के चित्रण की बात होती, तो कथाकार किसान, मजदूर, भूमिहीन, शरणार्थी अथवा अयोग्य बेकार के जीवन की ओर जाता। फिर भी यशपाल ने चलते-चलाते भूख के बहाने आर्थिक विसंगतियों की बात उछाली है, लेकिन भूख के चित्रण को अनावश्यक रूप से लम्बा तथा एकरस बना दिया है। दूसरी कहानियो की तरह इस कहानी का अंत भी यशपाल की चुनी हुई संभावनाओं पर प्रकाश डालने के लिए काफी है। नंदन कोर्ट और थाने की शरण में जाकर वैचारिक दिवालियेपन तथा नाटकीयता का परिचय देता है, फिर वह भूख, शोषण, अत्याचार के खिलाफ एकाकी रहना चाहता है तथा जनसंघर्ष के प्रति उसका नजरिया साफ नही है। सबसे बड़ी मुश्किल इस कहानी के साथ तब घटती है, जब थाने मे अचानक उसके पास सुधारवादी कर्तव्यपरायण तथा देशसेवक के अवतार बनकर सीनियर सुपरिन्टेंडेंट अर्जसाहब आते हैं तथा अपने सौजन्य से नंदन को परास्त और आश्वस्त कर गाड़ी पर बैठा

लेते हैं। मानो पूरी कहानी यह विश्वास दे रही हो कि मानवता पूरी तरह मरी नहीं है। न्याय अभी जिन्दा है। भगवान अभी जिन्दा है।

यशपाल की कहानिया नागरिक जीवन और विशिष्ट मध्य-वर्ग की कहानियां हैं। पूंजीवाद द्वारा हमारे देश में मध्यम वर्ग को फैलाकर तथा इसे तमाम प्रलोभनों के साथ विकसित करने की तैयारी स्वातंत्र्योत्तर भारत की सबसे बड़ी आर्थिक घटना है। मध्य-वर्ग तथा नागरिक-सुसंस्कृति आज की नौकरशाही-तानाशाही के गर्भ हैं। ये जनता से लूटना तथा पूंजीवादी व्यवस्था के लिए हिफाजत पंक्ति खड़ी करना ही नहीं चाहते, बल्कि जनता को भी इस ओर आकर्षित करके उसे अनंत यंत्रणाओं में रखना चाहते हैं। नई कहानी की तरह यशपाल भी ऐसे ही वर्ग के कथाकार है। कहानियों मे क्रान्तिकारी चेतना का कोई अस्तित्व नही है, सामाजिक-आर्थिक दृष्टि भी दिग्भ्रमित है। उन्होंने मध्यमवर्गीय सफ़ेदपोशी के जीवन को उघाड़ कर उसे भौतिकवाद से प्रभावित नई नैति-कता के तर्कावरण मे रखना चाहा है। नई नैतिकता का तीन-चौथाई हिस्सा नई यौन-नैतिकता के आदर्शों से बना है, जिसके पश्चिमी प्रवक्ता बर्टेण्ट रसेल रहे है। यशपाल के जीवन की क्रान्तिकारी राजनीतिक विचारधारा कहानी मे आकर ऐसे नैतिक आदर्शों में रूपातरित हो जाती है, जिसकी आजकल मध्यमवर्ग के जीवन को बेरोक-टोक चलाने तथा सु-संस्कृत नागरिकता प्रदान करने के लिए अत्यंत आवश्यकता महसूस की जाती है।

□

रेणु : आंचलिकता का दृष्टिकोण

यह एक अजीब विडंबना है कि परिवर्तन के लिए राजनीतिक आंदोलनों में बराबर सक्रिय रहने वाले कथाकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' अपने साहित्य में राजनीतिक दृष्टि से मुक्त है। बहुतों का जीवन क्रांतिधर्मी नहीं होता, लेकिन उनकी रचनाएँ बढ़-चढ़ कर बोलती है। '४२ की लड़ाई, नेपाल में राणाशाही के खिलाफ संघर्ष, पूर्णिया के राजनीतिक आंदोलनों अथवा देशव्यापी तानाशाही विरोधी संघर्ष में रेणु की सक्रिय हिस्सेदारी अथवा कहानियों पर बातचीत करते वक्त इन संघर्षों को ध्यान में रखने से बड़ी तकलीफ होती है, उनके संघर्षों ने उनके साहित्य को कितना प्रभावित किया।' वे साहित्य को क्या समझते थे ? राजनीति में उनके कुछ सपने थे। साहित्य में उनके कौन-से सपने थे ? जब इन सवालों का जवाब ढूंढने की कोशिश होगी, आंचलिकता के संबंध में उनका दृष्टिकोण भी उभर कर आयेगा।

रेणु ने ग्रामीण परिवेश को लिपिबद्ध किया। उनके कथा-साहित्य में आंचलिक जीवन का दुखदर्द उभर कर आया। राजनीतिक पार्टियों के दाँव-पेच भी दिखाई पड़े। राजनीति से जुड़ी जनता की आशाएँ भी झिलमिलाईं। लेकिन रेणु का काम परिवेश को उभारने में अधिक चमका। खास तौर पर विसंगतियों को उभारने में। लेकिन परिवेश के आतंक को तोड़ने के लिए सार्थक चेतना का अभाव आंचलिकता को जुझारू रूप नहीं दे पाता। कथाकार ग्रामीणों की संवेदना को सूक्ष्मता से चित्रित करता है, नाटकीयता के साथ इस संवेदना के एक-एक तार को भाषाबद्ध करता है, ग्रामीण परिवेश को जीवंत बना देने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोड़ता, फिर भी भारत की जनता का सामाजिकार्थिक संघर्ष प्रतिबिंबित नहीं होता। पात्रों की आंचलिक मानसिकता के भीतर पूंजीवादी जीवन-मूल्यों का संक्रमण उभरा है, लेकिन रेणु के पात्र अपने ग्रामीण परिवेश से दब गये है। प्रत्येक पात्र एक अंचल बन गया है। उसकी मानसिक दुनिया आंचलिक होती गई है। कभी-कभी वह समाज के व्यापक संघर्षों से अपनी आँखें मूंदे रखता है। नास्टलजिया का शिकार होने के कारण ही रेणु ने ग्रामीण परिवेश का रोमानी यथार्थ उपस्थित किया।

'परती परिकथा' में रेणु ने पतिता और बंध्या धरती की पीड़ा को अभिव्यक्त किया था। एक ओर गांव की भूमिहीन जनता के अभाव-कष्ट, सामंती रूढ़ियाँ और आर्थिक शोषण। दूसरी ओर जमींदार और बड़े किसान। परानपुर में बुलडोजर और ट्रालर्स आते हैं, ताकि विशाल परती जमीन को उपजाऊ बनाया जा सके। इनके साथ आधुनिक

लेते हैं। मानो पूरी कहानी यह विश्वास दे रही हो कि मानवता पूरी तरह मरी नहीं है। न्याय अभी जिन्दा है। भगवान अभी जिन्दा है।

यशपाल की कहानियां नागरिक जीवन और विशिष्ट मध्य-वर्ग की कहानियां हैं। पूंजीवाद द्वारा हमारे देश में मध्यम वर्ग को फैलाकर तथा इसे तमाम प्रलोभनों के साथ विकसित करने की तैयारी स्वातन्त्र्योत्तर भारत की सबसे बड़ी आर्थिक घटना है। मध्य-वर्ग तथा नागरिक-सुसंस्कृति आज की नौकरशाही-तानाशाही के गर्भ हैं। ये जनता को लूटना तथा पूंजीवादी व्यवस्था के लिए हिफाजत पंक्ति खड़ी करना ही नहीं चाहते, बल्कि जनता को भी इस ओर आकर्षित करके उसे अनंत यंत्रणाओं में रखना चाहते हैं। नई कहानी की तरह यशपाल भी ऐसे ही वर्ग के कथाकार हैं। कहानियों में क्रान्तिकारी चेतना का कोई अस्तित्व नहीं है, सामाजिक-आर्थिक दृष्टि भी दिग्भ्रमित है । उन्होंने मध्यमवर्गीय सफेदपोशी के जीवन को उघाड़ कर उसे भौतिकवाद से प्रभावित नई नैतिकता के तर्कावरण में रखना चाहा है। नई नैतिकता का तीन-चौथाई हिस्सा नई यौन-नैतिकता के आदर्शों से बना है, जिसके पश्चिमी प्रवक्ता बर्टेण्ड रसेल रहे हैं। यशपाल के जीवन की क्रान्तिकारी राजनीतिक विचारधारा कहानी में आकर ऐसे नैतिक आदर्शों में रूपांतरित हो जाती है, जिसकी आजकल मध्यमवर्ग के जीवन को बेरोक-टोक चलाने तथा सु-संस्कृत नागरिकता प्रदान करने के लिए अत्यंत आवश्यकता महसूस की जाती है।

□

रेणु : आंचलिकता का दृष्टिकोण

यह एक अजीब विडंबना है कि परिवर्तन के लिए राजनीतिक आदोलनों मे बराबर सक्रिय रहने वाले कथाकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' अपने साहित्य मे राजनीतिक दृष्टि से मुक्त है। बहुतो का जीवन क्रातिधर्मी नही होता, लेकिन उनकी रचनाएँ बढ़-चढ़ कर बोलती है। '४२ की लड़ाई, नेपाल मे राणाशाही के खिलाफ संघर्ष, पूर्णिया के राजनीतिक आदोलनों अथवा देशव्यापी तानाशाही विरोधी संघर्ष में रेणु की सक्रिय हिस्सेदारी अथवा कहानियों पर बातचीत करते वक्त इन संघर्षो को ध्यान में रखने से बड़ी तकलीफ होती है, उनके संघर्षो ने उनके साहित्य को कितना प्रभावित किया।' वे साहित्य को क्या समझते थे ? राजनीति मे उनके कुछ सपने थे। साहित्य मे उनके कौन-से सपने थे ? जब इन सवालों का जवाब ढूँढने की कोशिश होगी, आचलिकता के संबंध में उनका दृष्टिकोण भी उभर कर आयेगा।

रेणु ने ग्रामीण परिवेश को लिपिबद्ध किया। उनके कथा-साहित्य मे आंचलिक जीवन का दुखदर्द उभर कर आया। राजनीतिक पार्टियों के दाँव-पेच भी दिखाई पड़े। राजनीति से जुड़ी जनता की आशाएँ भी झिलमिलाई। लकिन रेणु का काम परिवेश को उभारने मे अधिक चमका। खास तौर पर विसगतियों को उभारने में। लकिन परिवेश के आतंक को तोड़ने के लिए सार्थक चेतना का अभाव आंचलिकता को जुझारू रूप नही दे पाता। कथाकार ग्रामीणो की सवेदना को सूक्ष्मता से चित्रित करता है, नाटकीयता के साथ इस संवेदना के एक-एक तार को भाषाबद्ध करता है, ग्रामीण परिवेश को जीवंत बना देने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोड़ना, फिर भी भारत की जनता का सामाजिकार्थिक संघर्ष प्रतिबिंबित नही होता। पात्रों की आंचलिक मानसिकता के भीतर पूँजीवादी जीवन-मूल्यों का संक्रमण उभरा है, लेकिन रेणु के पात्र अपने ग्रामीण परिवेश से दब गये है। प्रत्येक पात्र एक अंचल बन गया है। उसकी मानसिक दुनिया आंचलिक होती गई है। कभी-कभी वह समाज के व्यापक संघर्षो से अपनी आँखें मूदे रखता है। नास्टलजिया का शिकार होने के कारण ही रेणु ने ग्रामीण परिवेश का रोमानी यथार्थ उपस्थित किया।

'परती परिकथा' मे रेणु ने पतिता और बंध्या धरती की पीड़ा को अभिव्यक्त किया था। एक ओर गाँव की भूमिहीन जनता के अभाव-कष्ट, सामंती रूढ़ियां और आर्थिक शोषण। दूसरी ओर जमीदार और बड़े किसान। परानपुर में बुलडोजर और क्रालर्स आते है, ताकि विशाल परती जमीन को उपजाऊ बनाया जा सके। इनके साथ आधुनिक

जीवन-मूल्य भी आते है और अंधविश्वासों-रूढ़ियों की परती भी टूटने लगती है। संकीर्णतावादी लुत्तो सामंती शोषण को बरकरार रखने के लिए परती तोड़े जाने का विरोध करता है, लेकिन प्रगतिशील चरित्र का भूतपूर्व जमीदार जितेन्द्र तमाम विरोधों के बावजूद अपने मकसद मे सफल होता है। बड़े किसानों और भूमिहीनों का संघर्ष बढता है। संत्राम और आर्थिक तनाव की स्थिति गहरी हो जाती है, यहा तक कि 'नये आर्थिक कोणों की टकराहट मे लोग तीज-त्योहार भूल गये।' फूहड़ राजनीतिक नेतृत्व तथा भ्रष्ट नौकरशाही का चित्र खीचते हुए भी रेणु ने ग्रामीण समस्या को मूल रूप से परती, पानी और कानून-व्यवस्था की समस्या से जोड़ा, बुनियादी आर्थिक समस्या से नही। भूतपूर्व जमीदार जितेन्द्र की प्रगतिशीलता से वे अधिक मोहित रहे, कृषकों के बीच परिवर्तन की किसी व्यापक भूख की पहचान उन्होंने नही की। नतीजा यह हुआ कि परती जमीन की परिकथा तो उभरकर आई, लेकिन कृषक-जीवन का व्यापक यथार्थ प्रकट नही हो सका। आचलिकता जब विचारहीन होती है, तो यह प्रकृतवादी चित्रण से ज्यादा कुछ नही होती। लेकिन कथाकार ग्रामीण जीवन की संवेदनाओं के भीतर कृषकों की मुक्ति-चेष्टाओ को स्थान-स्थान पर पहचानता है। उसके मन में सिर्फ गाव से स्नेह नहीं है, गांववासियों से भी लगाव है। रेणु का कथाकार इस लगाव को जिस सीमा तक वास्तविक बना पाया है, वहा तक वह सफल भी हुआ है। खोखली आधुनिक योजनाओ से ग्रामीण जीवन मे बदलाव नही आयेगा, यह रेणु समझ गये थे। 'दिनमान' मे प्रकाशित अपने एक वक्तव्य मे उन्होंने 'परती-परिकथा' के संदर्भ में अपना मोहभग प्रकट करते हुए कहा था— 'मुझे विश्वास था जब कोसी योजना सफल होगी, तो जिन्हें अभी जमीन नही मिली, उन्हें आगे चलकर मिल जायेगी। लेकिन वैसा नहीं हुआ। आज भी १०० पीछे ७५ लोग ऐसे हैं जिनके पास कोई भूमि नही है।' रेणु के कथा साहित्य मे इस ७५ प्रतिशत भूमिहीन जनता की आशाओ, आकाक्षाओं तथा संघर्षो का चित्र किस रूप मे मिलता है ?

इनका पहला आचलिक उपन्यास 'मैला आंचल' ज्यादा सशक्त रूप में गांवो के पिछड़ेपन, गुटबाजी, मूल्यों के विघटन, बेदखली, मानवीय संबंधों में बदलाव तथा विद्रोह को व्यक्त करता है। इसमे ग्रामीण जीवन की निराशा प्रकट हुई है, लेकिन भारत के मूक समाज को वाणी मिली है। रेणु के इस महत्व को निर्विवाद रूप से स्वीकारना पड़ेगा कि जब नई कहानी मे शहरी सुसस्कृत परिवेश का बोलबाला था, इन्होंने गांव के जातिय जीवन की सामाजिक विसंगतियों को व्यापक स्तर पर उभारा, 'मैला आचल' की आचलिकता मात्र परिवेश, संवाद और पात्रों की मानसिक दुनिया की आचलिकता नही है, बल्कि इसमे सामाजिक-राजनीतिक स्वर भी प्रखर रूप मे उभरा है। रेणु अपनी राजनीतिक विचारधारा को संवेदनात्मक स्तर पर थोड़ा और काम मे लाते तो शायद इस उपन्यास का महत्व अधिक होता, बोझिलता भी कम होती। 'मैला आचल' मे सामंती शोषण तथा प्रशासनिक भ्रष्टाचार—दोनों के चित्र मिलते हैं। इनके बीच समाजवादी कालीचरण सेवा और संघर्ष के भाव से काम करता है।

रेणु ने आंचलिकता को किसी जनपद विशेष की निजी पहचान के रूप मे देखा है। इसलिए उस अचल की राजनीतिक चेतना की सीमा उनके बोध की सीमा भी बन जाती है। आचलिकता का मतलब अक्सर यह समझ लिया जाता है—ग्रामीण परिवेश के एक-एक दृश्य, एक-एक घटना, एक-एक फूल, एक-एक काम, एक-एक पगडण्डी, घाट की दुलहिन का घूंघट उठाने की शैली मे वर्णन करना। यह सब तो शहरी मकान के किसी ड्राइंग रूम में भी होता है। आँचलिकता को ग्रामीण अनुभूतियों मे सीमित करना गलत है। वस्तुतः यह जनक्षेत्रो मे गहरी संलग्नता का नाम है। स्थानीय बोली के कुछ दृष्टान्त उपस्थित कर देने, समाज की पुरानी रीतियों के प्रति ग्रामीणो की आस्था का चित्र उपस्थित करने अथवा गँवई परिवेश का लम्बा-चौड़ा वर्णन कर देने से ही हम किसी उपन्यास को आचलिक नही कह सकते। आचलिक सम्वेदना मे जनता के वास्तविक और व्यापक जीवन से लगाव पैदा होता है। रचना का लोकवादी चेहरा उभरता है। आचलिकता का सही रूप वह नही होता, जो उपन्यासों मे शिथिलता और वर्णनात्मकता ले आये, बल्कि वह होता है, जो जीवन की उस तेज और व्यापक धारा को पहचाने, जो न जाने बाधा-विपदाओं की कितनी ही चट्टानों को तोड़ती-फोड़ती आगे बढ़ती जाती है। आँचलिकता का अर्थ है : लोक-सम्वेदना के गहरे स्तरो से परिचित होना, अंचलों मे जनता की मुक्ति की लड़ाई को अभिव्यक्त करना, ग्रामीण शोषण के पुराने गंडासे की नई धार को पहचानना तथा इन सबके बीच से करोड़ों गाँववासियों के मन मे मौजूदा जीने की उस तीव्र इच्छाधारा को वाणी देना, जो सामन्ती-महाजनी व्यवस्था की मार के बावजूद समुद्री लहरों की भाँति बार-बार गिरती है, पर बार-बार उठ खड़ी होती है, गाँववासियों के जीवन में किसी समुद्र की तरह विशाल चुप्पी है, लेकिन इसके आलोड़न मे एक गहरी दहाड़ भी है। यह दहाड़ अब फैल रही है।

रेणु को बंगाली पात्र प्रिय रहे है, बंगाली जीवन भी। खासतौर से शरणार्थी या प्रवासी बंगालियों का जीवन। कभी इनका अतीत बहुत उज्जवल था। अपने एक उपन्यास 'जलूस' में उन्होने शरणार्थियों की नोबीनगर कालोनी की जटिल आंचलिक मनःस्थिति को चित्रित किया है। जीवन की विवशताएँ उभरती है। साथ ही बहुत सम्वेदनात्मक ढंग से उन्होंने प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार यह ग्रामाचल नगर मे समाता जा रहा है। शरणार्थी अपनी धरती और जीवन—दोनों से बुरी तरह उखड़ गए हैं। लेकिन पता नही क्यों, रेणु को बंगाली परिवारों के सेक्स-काण्डों को उभारने में विशेष मजा मिलता है। 'पल्टू बाबू रोड' भी एक ऐसा ही उपन्यास है। इसमें लट्टू बाबू के परिवार के माध्यम से राजनीति और सेक्स के पेचीदे सम्बन्धों को उन्होंने काफी रस लेकर विश्लेषित किया है। 'फूल बागान' नामक बंगाली बाड़ी में दिन-रात आर्थिक लाभ-नुकसान की बात होती रहती थी। इसी क्रम मे घर की लड़कियाँ उनकी भेंट चढती जा रही थी, जिनका समाज या विभिन्न राजनीतिक दलों मे ऊँचा स्थान है। मुरली मनोहर मेहता जिला कांग्रेस के मंत्री थे। छोगमल जैन घुटा हुआ व्यापारी था। गोधनलाल भी पुराना पैसे वाला था और लोग कहते थे कि वह डकैत भी

था। पुलिस से दिन-रात का पीछा छुड़ाने के लिए वह सोशलिस्ट पार्टी का सदस्य हो गया। अब उसकी काफी इज्जत है। पल्टू बाबू वह कड़ी हैं, जो राजनीति और सेक्स को जोडते है। फूल बागान के राय परिवार की तरफ से उनकी काम-पूजा में कभी कोई कमी नहीं हुई। तीन पीढ़ियाँ उनकी सेवा में लग चुकी है। बदले में उन्होंने भी राय परिवारों को कई कठिन समस्याओं से उबारा है। इस परिवार से कांग्रेस और सोशलिस्ट—दोनों ही पार्टियों से राजनीतिक सम्बन्ध उन्होंने ही दृढ़ करवाए और बदले में आर्थिक लाभ करवाया। बिजली को सरकारी समिति की मेम्बरी भी दिलवायी। रामटहल कहता भी है—'हे हे देखिये। कब की डूबी हुई पीढ़ी। बाबाजी बान्टी निकैल देलौं! हेलिय! फाव मे पुरन का पीढ़ियों ऊपर भ अगेल!!; वह कुएं से पानी खीच रहा था। बैरगाछी कस्बा की नीव उन्होंने ही डाली है और पूरे अचल में उनका दबदबा है। ८० की उमर पार कर गई है, लेकिन उनके मन की लालसा नहीं मिली। अन्तिम वक्त पर राय परिवार पर से नजर हटाकर उन्होंने कुन्तला सहाय पर अपनी कृपा-दृष्टि फेंकी। वह शहर से वकालत पढ़कर आयी है और अब पल्टू बाबू उसे अपने कस्बे की अदालत मे चमकाना चाहते हैं।

पल्टू बाबू की नजरें राय परिवार की ओर से अचानक नहीं फिरी। नजर फिरने के दो कारण हैं—बिजली की समर्पणविमुखता और घण्टा का विद्रोह। बिजली ने एक दिन पल्टू बाबू को धता बता दी थी और घण्टा ने भी पल्टू बाबू को चुनौती दे दी थी। इनकी इतनी हिम्मत! लेकिन पल्टू बाबू ज्यों-ज्यों वृद्ध हो रहे थे उनकी राजनीति और सेक्स-प्रतिभा—दोनों चमक रही थी। घण्टा को भी उनकी चरणधूलि लेनी पड़ी और बिजली ने भी अपनी गलती मान ली। मगर उधर कुन्तला के प्रेम का पानी बढ़ चला था और पल्टू बाबू गृहस्वामिनी, बिजली, छवि, कना, रमा सबको छोड़कर कुन्तला के पास चले गए। उस कुन्तला के प्रेम की चोट खाकर गोधन लाल सोशलिस्ट पार्टी के काम के बहाने सोलह बरस की छवि से अपना काम पूरा करने लगा। बिजली की ओर भी सफलतापूर्वक लपका। कहाँ गया घण्टा का विद्रोह! इसका चचेरा भाई फेला रामकृष्ण मिशन में जाकर संन्यासी बनने लगा। फूल बागान के परिवार की पूरे कस्बे मे बदनामी है। इसके परिवार के एक-एक व्यक्ति की आत्मा टूट चुकी है; बिक चुकी है। परस्पर सम्बन्ध खोखले हो गए हैं और ये पल्टू बाबू की बोयी संस्कृति की विकृतियाँ ढो रहे हैं। सभी एक-दूसरे के स्खलन से परिचित है और चुप है। राजनीति को इनकी नारी-देहें समर्पित हैं। फिर राजनीति भी क्या—ऊपर से जनसंघर्ष का नाटक, भीतर से अपने-अपने स्वार्थ!

'हम साक्षी हैं प्रवासी बंगालियों के इतिहास के क्रमशः ह्रास होने वाले एक चरित्र का यह चल-चित्र? आज से सत्तर-अस्सी साल पहले, इन इलाकों पर बंगालियों का राज था। हाकिम-हुक्काम, डाक्टर, मास्टर-वकील, दुकानदार-व्यवसायी, स्टेशन मास्टर से लेकर डाक-बाबू—सभी बंगाली।...राय परिवार के फूल बागान में ही, ऐसे परिवारों ने उस 'इण्टिग्रिटी' को समाप्त किया। 'पल्टू बाबू रोड' प्रवासी

बंगालियों के उखड़े हुए जीवन का आंचलिक उपन्यास है। बंगाली लड़कियों का राजनीतिक शोषण होता है। इनमे जीवन की चमक-दमक के लिए पैसा कमाने की अंधी भूख होती है। ये अपने ही बीच के सामंती मिजाज वाले पल्टू बाबुओं के लिए शिकार होते हैं। क्यों न खोखले हो जायें ये प्रवासी बंगाली परिवार ! इनके जीवन से रामायण-महाभारत का नामोनिशान मिट चुका है। आपस के सम्बन्ध विकृत हो चुके है। और सबसे बडी बात यह है कि इनका आर्थिक आधार नित्य संकुचित होता जा रहा है। फिर भी इनमे सम्वेदना बची हुई है। छवि की यह आवाज अभी भी शेष है—'उर्ध गगने वाजे मादल, निम्ने-उतला-धरणी तल, 'अरुण-प्रातेर तरुण दल, चल रे-चल रे-चल !'

रेणु का 'पल्टू बाबू रोड' जहाँ कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी की राजनीतिक विकृतियाँ खोलता है, अच्छा जीवन जीने के अभिलाषी लडके-लड़कियों की भयानक घुटन की पहचान करता है, वहाँ यह उस सम्वेदना को भी रेखांकित करता है, जो अभी लोगों के जीवन में बची हुई है। फिर भी इस सम्वेदना को किसी व्यापक राजनीतिक चेतना से न जोड़ पाने के कारण यह आंचलिकता के रूपवादी अधिकार को ही कलात्मक स्तर पर प्रकट कर पाता है। उसका यथार्थबोध गहरे वस्तुवादी आयामों में विकसित नही हो पाता। फिर भी जीवन का जो भी टुकडा सामने दिखाई पड़ता है, वह सच्चा और विश्वसनीय लगता है, क्योंकि रेणु की कलम में एक ताजगी है, साफगोई है, खुलापन है और मन के भावों की पकड़ है। इसलिए कभी-कभी लगता है कि रेणु की कलम में एक चमत्कार है। अगर इस चमत्कारी प्रतिभा के साथ उस राजनीतिक चेतना का थोड़ा और मिश्रण होता, जिसे अपने साथ लेकर वे गाँवों, मैदानो, सड़कों पर सक्रिय थे, तो उनके कथा-साहित्य की ताजगी साफगोई, खुलापन और जनजीवन के गहरे भावो की पकड़ और व्यापक होती। दूर तक मार करती। लेकिन रेणु के आंचलिक बोध का सौन्दर्य एक ही जगह पलत्थी मारकर बैठ जाता है !

□

सामंती सम्बन्धों का भूगोल

नई कहानी के भीतर विभिन्न शक्लों में व्यावसायिकता के हमले होते रहे है। बहुत थोड़े से हिंदी कहानीकार है, जो इनके आगे बिना घुटने टेके संघर्षरत रहे। ज्ञानरंजन उनमे एक हैं। अब यह बात दीगर है कि वे पारिवारिक विघटन के सामंती अनुभवों की सीमा-रेखा लांघ नहीं सके । मानवीय सम्बन्धों के जिस बदलाव को वे रेखांकित करना चाहते है वह हमारी समाज-व्यवस्था में विकसित होते पूंजीवाद का नतीजा है। उन सम्बन्धों को पूर्वरूप में कायम रखने का मोह ज्ञानरंजन की कहानियों में बालसुलभ उत्कण्ठा के रूप में भी सामने आता है। इस वजह से मूल जीवन-समस्याओं तथा इनसे संघर्ष से विमुखता की भावना भी विकसित होती है।' 'क्षणजीवी' की कहानियां 'फ़ेंस के इधर और उधर' (१६६८) की वैचारिक संवेदना और मानवीय यथार्थ तक ही प्रायः सीमित रह गई है, जबकि देश की राजनीतिक परिस्थितियों मे काफी विकास हुआ है।

ज्ञानरंजन की कहानियों का परिवार अक्सर एक ऐसे मोड़ पर खड़ा मिलता है, जहाँ पिता या दादे-दादियाँ अपनी मौत का इन्तजार करते हुए भी अपनी स्थितियों के प्रति बेहद चौकन्ने है। माँ दुलार मे बेबस है। बड़े भाई विवाह के बाद परिवार तोड़ने के प्रति जागरूक हैं। बहन नटखट होती जा रही है। इसे बिगड़ना भी कहा जा सकता है। मंझला अथवा कभी-कभी छोटा भाई निठल्ला, परन्तु ज्यादा सोचने वाला है। कथाकार अपनी स्मृतियो, अनुमान, कल्पना का ताना-बाना आत्मचिंतन से ग्रस्त इसी पात्र के माध्यम मे बुनता है। कभी-कभार ये छोटे-मँझले कामकाजी भी हो गए रहते है। लेकिन ये मूलतः नई पीढ़ी के प्रतीक हैं। सहज रूप से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह परिवार मध्यमवर्गीय है। इसमे आम तौर पर ठोस आर्थिक समस्याएँ उतनी महत्वपूर्ण नहीं है, जितनी कि जोवन-पद्धति या मानवीय सम्बन्ध की समस्याएँ। यह परिवार निश्चित रूप से किसी कुलीन इलाके में होता है, जहाँ घनी बस्तियों की चीख-पुकार, गांव मे होने वाले अन्याय, कारखानो के संघर्ष या महानगरों की भयानक भाग-दौड़ नही है। जहाँ से खेत दिखना है, पर शहर भी दूर नही है। ज्ञानरंजन की अधिकांश कहानियों का सामाजिक भूगोल यही है।

परिवार के इस सामंती ढाँचे के विकास का चित्र अमरूद के पेड़ मे प्रगट होता है। जबकि परिवार मे आधुनिकता का वातावरण मौजूद है और किसी तरह के पिछड़ेपन की गुंजाइश नही है। अमरूद का एक पेड़ इस घर के आँगन से सिर्फ़ इसलिए काट दिया

जाता है कि इसका घर के सामने होना कुछ बूढे पुरनियों द्वारा अशुभ बतलाया जाता है। छोटी बहन मिट्ट और मँझले भाई में इसके प्रति आक्रोश भी मिलता है। जहाँ यह आक्रोश एक अन्धविश्वास के प्रति था, वही उस घर के पारिवारिक विघटन के प्रति भी था, जिसके कारण किसी जमाने में जेल गई माँ के सीने में भी कुढन और भय भर जाते हैं। 'अमरूद का पेड़ मुझमें प्रतीकों का निर्माण किया करता और फिर एक नये संसार की कल्पना मे मै निमग्न हो जाता। मँझले के मन में पेड़ से यह प्यार नये तरह से जीने की एक कोशिश भी थी। लेकिन यह कट जाती है। क्योंकि नये संसार की कल्पना जब तक यथार्थ और संघर्ष पर आधारित नही होगी, यह रोमानी कौतूहल पैदा करके निःशेष हो जायेगी।' शायद माँ की हम सन्तानें उन्हें अशुभ से लड़के की अपनी सामर्थ्य का आश्वासन नही दे सकी थी। इसकी वजह था पेड़ से काल्पनिक लगाव।

मनहूस बगला' में 'शेष होते हुए' तथा 'पिता' में सामंती समाज-व्यवस्था को इसकी वीभत्स परिणति तक पहुँचा दिया गया है। 'वही पतिव्रता पत्नी जिसके तेवरों पर कभी घर महमता रहा होगा, किसी अधफूटी कोठरी मे पड़ी अपनी जर्जरता को ढो रही है।' इस व्यवस्था के युवक अपेक्षाकृत अधिक सफल कामधन्धा करके या तो अलग-अलग रहने लगते है या झूठी दुनिया की अनिवार्यता को सिर पर गम्भीर अभिनय के साथ लादे, अन्दरूनी तौर पर भागे, घबराये और बीमार लोगों के संसार में शामिल हो (शेष होते हुए) जाते है। लेकिन सम्बन्धों के इस टूटने को सामंतवाद को खत्म होने के रूप में प्रतीकीकृत करना तथा सर्वथा नई पूंजीवादी शक्तियों के समाज पर छा जाने की बात अगर ज्ञानरंजन करना चाहते हैं, तो यह एक भ्रम है। सम्बन्धों के बदलने पर भी सामंतवादी शोषण पर कोई फर्क नही पड़ा है। सामंतवादी मूल्यों के अवशेष इस आधुनिक समाज-व्यवस्था में भी बहुत गहराई से मजबूत है। हमारे समाज के कुछ हिस्से सिर्फ़ बाहर से आधुनिक हो रहे है, अन्दर तो वही शोषणमूलक समाज व्यवस्था है, जो सदियों से विकसित होती आ रही है। अतः ज्ञानरंजन ने यह समझने की कोशिश नहीं की कि घर अन्दर ही अन्दर भले खण्डित हो रहा हो, हिस्से बँट गये हों, पर भारतीय *गाँवों में सामंतवादी व्यवस्था, महाजनों का अत्याचार तथा अन्धी सामाजिक जकडनें* नई शक्लों में बढी हैं। इसी कारण ज्ञानरंजन की कहानियो के पात्रों का सामाजिक वर्ग-चरित्र सम्बन्धों की संवेदनात्मक पहचान के आगे दब गया है। कथाकार की क्षमता घरेलू अन्तर्द्वन्द्व के वास्तविक आधारों को समझने की जगह पर इसकी मौन गति को कलात्मक बनाने में खर्च हो जाती है। हो सकता है यह उसकी प्रयोगशीलता का आग्रह हो, जिससे नई कहानी व्यक्तिवादी आधारों पर जुड़ी रही है।

'बंगले के अन्दर गड़ जाने से पता चलता है कि इसमें दादा-बाप-नाती-पोतों या एक पीढी का दूसरी पीढी से सन्नाटे भरा चुप्पा झगडा चल रहा है।'

यह झगडा अगर वर्ग-संघर्ष की चेतना में विकसित नहीं हो सका, तो इसका कारण यही है कि ज्ञानरंजन अभी तक मूलतः नई कहानी के ही कथाकार रहे है तथा अनुभूति की प्रामाणिकता को वे पास-पड़ोस के परिवेश से ग्रहण करते है। लेकिन गहरी

रचनात्मक प्रतिभा होने के बावजूद वे सच्चाइयों को व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे नही पहचानना चाहते। 'मनहूस बंगला' के पूरे रचना-संसार में मनहूसियत वस्तुतः आयरन प्लांट मे काम करते उस बाबू कथनायक में है, जो दार्जिलिंग की सैर पर आया है तथा उस बंगले मे टिकता है। दूसरी यात्रा में वही जाकर किसी प्रकार उस बंजर बँगले के प्रति वह अपनी संवेदना खोल देना चाहता है। अगर कथाकार व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे सोचता तो उसे अनुभव होता कि हमारे समाज में बँगले जर्जर नही हो रहे है, बल्कि भव्य हो रहे हैं।

'गोपनीयता' शीर्षक कहानी में देखा जा सकता है कि अविवाहित जीजी के गर्भपात की घटना से बिखरे हुए घर के सारे लोग कहाँ-कहाँ से आकर इकट्ठे हो जाते है। पूरे घर पर आतंक के चिह्न छोड़ते हुए वे इस समस्या को गम्भीर रूप दे देते हैं अर्थात् परिवार के सारे लोगों में बिखराव के साथ एक आंतरिक जुड़ाव भी है। लेकिन इस कहानी की मूल बात यह है कि बड़े हो रहे बच्चों को भी यह पारिवारिक तनाव प्रभावित करता है। लेकिन पढी-लिखी, अकेली जीवन बिताती कामगार जीजी को गर्भपात के बाद इस तरह निर्जीव और गूँगी बनाकर पेश किया गया है, मानो इस आधुनिक महिला के लिए गर्भपात कोई बहुत बड़ी घटना हो और जिससे सारी अर्जित स्वछन्दता छीनकर उसे पुन पुरानी सामंती बेड़ियों से जकड़ दिया गया हो। उस जीजी मे विद्रोह का कोई भाव नही है।

कहानी का नयापन जब मध्यमवर्गीय संस्कारों तथा मानसिक कल्पना के तनाव में जकडने लगा, तो इसकी अनिवार्य परिणति अकेलेपन, व्यर्थताबोध, भय, मनहूसियत में ही हो सकती थी। कथाकार अपने को बाहरी स्थितियों के दबाव से अलग करना चाहना है और कभी-कभी मानसिक व्याभिचार से भी उसमे ऊब पैदा होती है। लेकिन बदलाव की जुझारू चेतना से अलग रहने के कारण वह अपनी पुरानी स्मृतियों और इन पर आधारित अनुमानो मे ही खोया रहता है। अस्तित्ववादी अन्यायों में उनका क्षयशील बोध कुछ ज्यादा ही जागृत हो जाता है, जब वह मृत्यु और अकेलेपन के संत्रास से बोझिल हो उठता है। 'सम्बन्ध', 'आत्महत्या', 'याद और याद' तथा 'क्षणजीवी' ऐसी ही फैंतासी मिश्रित कहानियां है।

मनहूसियत और भय का अस्तित्ववादी चित्र 'क्षणजीवी' में और गहरा हो गया है। एक बेकार ग्रेजुएट शहर में अपने अवकाश प्राप्त पिता के पेंशन मे मिलने वाले मासिक सौ रुपयों मे से उन तीस रुपयों की प्रतीक्षा करता है, जो उसका पिता उसके क्लर्क बनने की अभिलाषा मे हर माह भेजता है। रुपये मिलने मे काफी दिनो की देर हो गई। पर आश्चर्य की बात है कि भूख के इन खूंखार क्षणों में भी वह सैंडविचों और आइसक्रीम के लिए ललचाता है। सिगरेट पीना नही भूलता। पड़ोस की एक विवाहिता युवती शांति की अँगड़ाइयां देखना चाहता है। सिनेमा के पोस्टर देखता है। वह अतिकल्पनाओं से घिरा रहता है कि उसके पिता के रुपये जब तक मनीआर्डर से नही आ जाते, तब तक लगातार दनादन रायफलें चलती रहे या पता नही कही पिता ही मर गए

हों ! इस क्षयशील कथाचित्र को आगे बढाते हुए ज्ञानरंजन ने अंधकार से जूझने की जगह उसमे धँसने की पतनोन्मुख मानसिकता की अभिव्यक्ति की है—'विस्तृत अंधकार पर अपनी दृष्टि को यान की तरह से मंडराता हूँ, लेकिन रोमावलियों ने ज्यो मुर्दा रहने की कसम खा ली है। शायद मैं जीवन से छूटा हुआ हूँ। लेकिन जिन रुपयों की मुझे प्रतीक्षा है और जिसके लिए मैं हलकान हूँ, उसे पाने के बाद मुझे पूरा विश्वास है कि यह नदी मुझे पुन: रोमांचित करने लगेगी और चुस्त कपडे पहने रेस्त्राँ के स्नाव लोगों के बीच घुल जाऊँगा।' कहानी का अन्त यही हो जाता है। क्षणजीवी बेकार युवक की यह इच्छा कितनी वास्तविक है ?

प्रेम और अकेलेपन के कथाकार ज्ञानरंजन ने व्यंग्य और करुणा के अन्तर्भूत प्रवाह के माध्यम से अपनी कहानियों में जिस रोमांटिक जीवन को अभिव्यक्त किया है, वह हमारे देश मे विकसित होते हुए नव-मध्य वर्ग का जीवन है। इसकी सच्चाइयों को वे बड़े रोचक ढंग से प्रगट करते है। बदलाव की गरम हवाओ से बेखबर काफी कुछ आत्मचिन्तन की मुद्रा में। बाह्य परिस्थितियों के दबाव से अपने पात्रों के मानसिक परिवर्तन को सुनियोजित रूप से रेखांकित करने मे कथाकार माहिर है। उसकी सबसे बड़ी अभिलाषा है कि समाज मे प्रेम का एक उदार वातावरण हो। सामंती पिताओं से पूँजीवादी लडकों की टकराहट को ही प्रगतिशीलता की सीमा समझ लेने वाला कथाकार प्रेम और अकेलेपन के मामलो मे भी निष्क्रिय रोमानीपन का शिकार है। **'दिवास्वप्नी'** में वह अपनी पूर्व प्रेमिका श्रीमती मीरा और मिसेज़ भट्टाचार्य से आन्तरिक लगाव रखता है। लेकिन भौतिक स्तर पर वह बडा छुई-मुई बना रहता है। यहाँ तक कि डेजी के बारे मे पता चलते ही कि वह बाज़ारू है, एक आदर्शवादी प्रेम में वह अकेला हो जाता है। **'कलह'** मे स्वाति का प्रेम भी निष्क्रिय और यूटोपियन भावुकता के रूप मे मिलता है। **'सीमाएँ'** में ही नही **'फॅंस के इधर और उधर'** में भी। ज्ञानरंजन ने फॅंस के आर-पार लगावहीन दो पारिवारिक जिन्दगियो का जो चित्र खीचा है, उसमे भागते हुए आधुनिक जीवन के सम्मुख सामंती चौहद्दियों के भीतर की बेचैनी अभिव्यक्त हुई है। लेकिन यह बेचैनी उस परिवार के हरेक सदस्य में बगलवाले पड़ौसी के आधुनिक रंग-ढंग को लेकर है। पिता को इस बात का बड़ा दर्द है कि बगल वाली लड़की ने सादगीपूर्ण ढग से शादी क्यों की तथा वह ससुराल जाने के समय रो क्यों नही रही है। फिर उन्हें बुलाया तक नहीं !! उनका लडका भी निष्क्रिय भकुआया-सा है। पूँजीवादी कठोरता तथा सामंती संवेदनाओ का ज्ञानरंजन ने निश्चय ही बहुत अच्छा चित्र खीचा है, लेकिन कथाकार की अपनी प्रतिबद्धता किस मे है ? उसका नया परिवर्तनकारी रचना-ससार कहाँ है ?

इस नये कहानी-संग्रह मे भी **'चुप्पियाँ'** एक ऐसी कहानी है, जिसमें रूमानी बेवाकूफी के प्रति तो कथानक सचेन है, पर निष्क्रियता के निराशावाद से वह बुझा-बुझा रहता है। गाँव मे करन कई बार मित्रों के आमने-सामने पडता है। वह उनमें पूरी दिलचस्पी लेना चाहता है। लेकिन नगरीय जीवन के अपने बाबूपन के पाप की वजह से ही उसमे इच्छा रहते हुए भी खुलेपन और तत्परता का अभाव है। इसी पाप का अनु-

भय उसे अन्त मे बदरंग सांप और जोंक की शकल में होने लगता है। क्योंकि जहाँ मिन्नो का सेवापूर्ण स्नेह गाँव के इक्कड-दुक्कड के खेल की तरह निश्छल है, वहीं करन का प्रेम नगरीय कुठाओं से भरा हुआ है। कथाकार का मन ऐसी निश्छलताओं में रमा है। उसके मन मे गाँव तथा पुराने सम्बन्धों से अथाह प्रेम है। लेकिन दुनिया को बदलने वाली ताक़तों को वह जिस प्रकार झुठलाना चाहता है तथा अपने प्रेम को सामंती यथास्थिति-वाद के आयामों में प्रगट करता है—इन जगहों पर ज्ञानरंजन अत्यन्त सीमित अनुभवों के कथाकार प्रमाणित होते हैं। निष्क्रिय रोमानीपन के अथाह निराशावाद में डूबी उनकी कहानियाँ मोहक लगती हुई भी सामाजिक यथार्थवाद से दूर दिखाई पड़ती हैं।

इसका परिणाम घटा कथाकार की भाषा और उसकी मूल क्षयशील चेतना में। **'सम्बन्ध'** में वह सोचता था 'उसके लिए यह उचित ही था कि वह मृत्यु का निर्णय ले लेता। क्योंकि वह निहायत अनिर्णीत ढंग से प्रतीक्षा करते हुए जी रहा था।' वह स्वप्न देखता है। इस 'स्वप्न मे जो भाषा थी वह और कुछ नही मेरे भाई की मृत्यु के लिए एक तर्कपूर्ण विज्ञप्ति सरीखी कोई चीज़ थी।' वह जीवन की कविता भूल जाता है। 'आत्म-हत्या' कहानी मे मन के स्तर पर इस क्षयशील चेतना की काली छायाएँ और गहरी थीं। कथानायक भले आत्महत्या कर नही पाता, लेकिन इसकी कोशिश जिस रोमानी एब्स-डिटी के बोध के साथ चलती है, वह दर्शनीय है! नये कथा-संग्रह मे भी इस ढंग की एक कहानी है—**'याद और याद'**। इसमें अँधेरे के जबडों के बीच कथानक पुनः बीमारियों, लाश और मृत्यु से साक्षात्कार करता है। पश्चिमी शैली में। कुछ-कुछ अकहानी की प्रवृत्तियों को अपनाकर। ये बातें ज्ञानरंजन की प्रगतिशीलता को चुनौती देती है और किसी मनोवैज्ञानिक जटिलता से घिरे होने का साक्ष्य उपस्थित करती है। इन्हीं कुंठाओं की वजह से वर्णन करने तथा कहानी बुनने की कला में अन्य 'स्थापित 'नये कहानीकारों की तरह प्रवीण होने के बावजूद ज्ञानरंजन **'याद और याद'** में ऐसी आरोपित भाषा लिखते हैं—

'बहुत दुबली काया, चिकनाईहीन रहने की अभ्यस्त सोनल अलकें, अन्तराल देकर छूने, प्रभावित करने वाली सुरक आँखें और साँवले नेत्रांत। कैसे भी हँसो, तो गाल मे डिंपल पड़ें, एब्सोल्यूटली नानइम्पीरियस।'

पश्चिमी व्यर्थतावोध तथा आत्महारा प्रवृत्तियों से भिन्न इसी कथाकार ने **'क्षण-जीवी'** मे संकलित दो अच्छी कहानियाँ दी है—**'मृत्यु'** और **'अनुभव'**। 'मृत्यु' में क्षयशील चेतना की जगह गरीब मनुष्य की संघर्षशील जिजीविषा मिलती है। साम-बहादुर जिन्दगी से जूझता है। सर्ववंचित हो जाता है। त्याग और अन्तर्भूत करुणा की प्रतिमूर्ति सामबहादुर। इस मेहनतजीवी की मौत आजादी की जिस आशा और स्वप्नों के बीच होती है, उनमें करोडों भारतीयों की आत्मा धड़कती है। पहाड़ी के एकान्त और अनाकर्षक तिराहे पर उसकी मृत्यु किसी मेहनती इंसान की साथी-भावना के साथ जूझने की सार्थक कथा बन जाती है। 'मैं' अथवा कथाकार दुवारा इस पहाड़ी की यात्रा पर आया रहता है तथा स्मृतियों से उसकी जीवनोन्मुखी मृत्यु-संवेदना से लगाव स्थापित

करता है।

यात्रा का ज्ञानरंजन की कहानियों में बडा महत्व है। अक्सर इसका इस्तेमाल वे काल की ऐतिहासिक दूरी को नापने अथवा चीज़ों को बाहर से देखने के लिए करते हैं। *लेकिन इस वजह से उनकी आत्मीयता घटने की जगह अधिक तार्किक होती है।* 'यात्रा' कहानी में भी एक मृत्यु-प्रसंग है। दम्मोढा की मृत्यु का तार पाकर एक अफसर कारणिक हो उठने के बावजूद हृदय-रुदन मे विश्वास नही करता। जब वह घर की यात्रा पर निकलता है, तो रुदन मे गीले होने की जगह पर दिलचस्प चीजों मे भी मजा लेता है। मसलन आरकेस्ट्रा, शराबखोरी, पारसी औरत के कुत्ते, लिली और गुलाब के फूल, महिला यात्री के हिप्स, समोसे-संतरे इत्यादि। मृत्यु के प्रति बदलती सामाजिक अवधारणा का यह आधुनिक मोड भी नकली, विकृत और नाटकीय लगता है। कथानायक के मन का काले मनोविज्ञान की छायाएँ पीछा नही छोड़तीं। वह सामने वाले यात्री के मरने तथा बच्चे के गिरकर सिर फूट जाने की अस्वाभाविक कल्पना करता है। 'थक जाना' मैंने गौर किया है, मुझे सच्चाई के निकट कर देता है।' यह सब को पराजित नेत्रों से देखने की आदत है। जनजीवन के पुराने मूल्य छिन्न-भिन्न हो गए हों और नए मूल्य स्थापित नही हो पा रहे हों, तो इन नेत्रों को दुख भी बेहूदा और ऊलजलूल लगता है। शोक-प्रसंगो की कोई निर्धारित स्वाभाविकता नही हो सकती। लेकिन इस आधुनिक महात्मा को मृत्यु भी एब्सर्ड लगती है। यह ठीक है कि वह नकली शोक नही करे। *लेकिन करुणा की अन्तर्धारा पर व्यर्थ चिन्ता का उपभोगवादी पहाड़ भी कितना प्रासंगिक है।* कहानियों में सम्बन्धों के बदलाव की यह दिशा कैसी है?

ज्ञानरंजन के पात्र बहुत सीमित परिवेश के है और प्रेमचन्द के पात्रों के विकसित रूप तो कतई नही हैं। इसी कारण कथाकार के अनुभव भी बहुत सीमित हैं और ये धीरे-धीरे 'टाइप' होते गए हैं। लेकिन अब तक के इस आखिरी कहानी-संग्रह की अन्तिम कहानी 'अनुभव' का आखिरी पैराग्राफ़ यह बतलाता है कि अब जाकर तो कथाकार के होश खुले है।

"मैं अपना नाम लेकर अपने को पुकार रहा था—'थू है तुम्हारी ज़िन्दगी को, तुम पत्थर हो गए हो। ये देखो, ये असली शहर है, असली हिन्दुस्तान, इनके लिए तुम्हारा दिल हमेशा क्यों नही रोता है।' फिर मैंने खडे होकर अपने गालों पर तमाचे मारने शुरू कर दिए!"

फुटपाथ पर सोते हुए असंख्य कामगार बच्चों और मेहनती वर्ग के लोगों को देखकर कथाकार को यह अहसास होता है। इससे पहले वह अकेलेपन, व्यर्थता बोध, निष्क्रिय रोमानीपन, कॉफ़ीहाऊस, शराबघर, भावुकता पूर्ण अँधमोहों में डूबा हुआ था। इन सबकी अन्तिम परिणति लायंस क्लब के लोगों के द्वारा एक ब्लू फिल्म के बीभत्स आयोजन मे हिस्सा लेने के रूप में होती है। निश्चित रूप से यह आत्म भर्त्सना और तमाचा सिर्फ कथानायक के गालों अथवा कथाकार की पिछली कथा-परम्परा पर ही नही पड़ा। यह उस हिन्दी कहानी का आत्मधिक्कार है, जिसका अनुभव-संसार व्यव-

सायिकता और अपसंस्कृति के दलदल में धँसता जा रहा था। यह एक नया मोड़ है। भारत की जनता की कहानी अभी अकेले ज्ञानरंजन ही नहीं, बाकी कथाकारों के लिए भी लिखना बाकी है। 'अनुभव' कहानी का अन्त जितना भी नाटकीय हो, निद्रा में पड़े सर्वहारा के सम्मुख पडकर सामंती सम्बन्धों का सारा भूगोल चरमरा जाता है और ज्ञानरंजन जनदिशा पकड़ने का हल्का-सा संकेत दे जाते है।

☐

कविता में जनवादी बदलाव

हिन्दी कविता में नयेपन और प्रगनिशीलता का द्वन्द बार-बार उभरा है। रोमांटिक और अस्तित्ववादी चेतना एक तरफ, यथार्थवादी और प्रगतिशील चेतना दूसरी तरफ। प्रारम्भ मे गद्य के भीतर सामाजिक चेतना अधिक मजबूत रही। इधर कविता में सामाजिकार्थिक चेतना का दबाव अधिक है और गद्य प्राय. इससे खाली है। ६७ के बाद से कविता के आधुनिक काल का जनवादी अन्याय सशक्त रूप से फैलता है। अपनी विसंगतियों तथा सम्भावनाओं के साथ समकालीन कविता में जनता की भावना, उसका श्रम, हल-बैल, मशीन, दफ़्तर, पारिवारिक नियति, लडाई की तैयारियां तथा विविध अनुभवों वाला जीवन उभर कर आया है। जन से कविता में अमूर्त मानव हटा है और जन आया है, इसके भीतर एक भारी परिवर्तन घटित हुआ है।

नई कविता के भीतर मुक्तिबोध ने ऐसा वातावरण उपस्थिति कर दिया था, जिसमें जनजीवन की आशा, आकांक्षा और संघर्षों का महत्व बढ़ गया था। मुक्तिबोध की कविताएँ नेहरू युग की सामाजिक जटिलता, पाखण्ड, मानसिक तनाव तथा विषमता-पूर्ण जीवन की भयानकता उपस्थित करती हैं। ब्रह्मराक्षस, दिमागी गुहा अंधकार के ओरांग-उटाग, लकड़ी के रावण, चाँदनी, अंडरग्राउंड बावड़ी, काव्यात्मन फणिधर, शबदी, लाल मशाल, खण्ड स्वप्नो की अन्तर्कथा, शापभ्रष्ट अजीगर्त, परम अभिव्यक्ति के रहस्यमय व्यक्ति इत्यादि प्रतीकों के माध्यम से उन्होने जीवन के विविध रूपों का चित्र उपस्थित किया। इनमें नफ़रत, दहशत, भर्त्सना, व्यंग्य, प्रेम, आत्मपहचान संशोधन तथा जनक्रान्ति की तैयारियों के अनगिनत रूप है। मुक्तिबोध ने शोषण और भ्रष्टाचार पर आधारित पदनोन्मुख भारतीय सम्यता का सच्चा चित्र उपस्थित किया। मनुष्य के जीने की तीखी कोशिशों को वाणी दी। उन्होने फड़फड़ाते हुए, कुछ खलबली-सी पैदा करते हुए ऐसे प्रतीकात्मक और मिथकीय बिंबों को उभारा, जिन्होंने नई आलोचना के मानों को भी प्रभावित किया।

मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर-शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य
उसकी वेदना का स्रोत
संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूं

कवि पूर्ण निष्कर्षों तक पहुँचना चाहता है। यह रहस्यमय व्यक्ति—आलोक-स्नात —उसकी परम अभिव्यक्ति तक पहुँचने की कोशिश है। ब्रह्मराक्षस कवि के सांस्कृतिक अचेतन का मिथक है। ओरांग-उटांग पुनर्रचित नग्न सत्य है, जिसे कवि अपने गुरु ब्रह्मराक्षस के माध्यम से पाना चाहता है। यह सत्य कटु है—ओरांग-उटांग की देह के बालों की भाँति दुर्गन्ध से भरा। यह 'हरी घास' सा सुकोमल नहीं है। सत्य की खोज ही परम अभिव्यक्ति तक पहुँचा सकती है। ब्रह्मराक्षस हाथ के पंजे से अपनी देह घिसता है, बाँह-छाती-मुँह छपाछप साफ करता है। अपने तन की मलीनता धोता है। यह समूचा व्यापार सांस्कृतिक अचेतन के द्वन्द्व का है। इसकी अहमियत है तथा इसे टालकर हम वर्तमान के जीवन-यथार्थ को पकड़ नहीं सकते। काव्यात्मन फणिधर समाज में परिवर्तन लाता है और बरगद की सी गहरी जड़ता को तोड़ता है। इस बरगद की पीठ पर साटने के लिए कविता को कवि पोस्टर का रूप देना चाहता है। विद्रोह और इसके दमन का चित्र खींचते हुए कवि 'कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई' का बिम्ब खड़ा करता है। उसका सारा कार्य जनता के खुशहाल भविष्य के लिए है, इसलिए वह 'अरुण कमल' का प्रतीक चुनता है। मुक्तिबोध ने नई कविता का सत्यसंघर्ष यथार्थवादी सूद पर झेला है। उनकी कविताओं को समझने के लिए हमें उनकी मिथक और प्रतीक-पद्धति को समझना होगा। अन्यथा रामविलास शर्मा जैसे आलोचक भी मुक्तिबोध के बारे में यही कहते रहेंगे—'मुक्तिबोध बाहर की दुनिया से जितना मार खाते हैं, उतना ही उनका जादू-प्रेमी, भावुक और भोला मन रहस्यवाद की तरफ तेजी से भागता है।' यह मानना पड़ेगा कि मुक्तिबोध के पास जैसी जनदृष्टि है, वैसी जनभाषा नहीं है। उनकी अपनी आलोचना की सभी माँगों को उनकी अपनी कविता ही पूरी नहीं करती, लेकिन इससे उनकी कविताओं का महत्व इसलिए कम नहीं होता, क्योंकि इनके पीछे वास्तविक अनुभूति का संसार है।

दूसरी ओर शमशेर की कविताओं का रूपतन्त्र काफी बारीक और गूढ़ रहता आया है। अपने को प्रगतिशील मानते हुए भी इस कवि ने धुन्धभरे बिम्बों तथा प्रकृति-चित्रों की रचना कर सामाजिक क्रान्ति की प्रक्रिया से लोगों को भटकाने की कोशिश की है। शमशेर के ही सानेट का एक अंश है —शमशेर फन में/कुछ भी तो नया नहीं है/सब गाया हुआ है/पहले ही करुण मौनतम एकांत के क्षण में/जो सत्य मेरे पास है, मुरझाया हुआ है।/—इसमें सन्देह नहीं कि कई प्रगतिशील आलोचकों ने शमशेर को अतिरिक्त रूप से लगातार उठाया। पर वे कविता रूपवादी पुनरुत्थान के प्रति जितने जागरूक रहे, कुछ राजनीतिक नारे भी उन्होंने उतनी ही सफलता से उभारे। लेकिन जन-जीवन की विकासशील सामाजिक चेतना से वे लगभग उदासीन रहे। ऐसी इक्का-दुक्का रचनाएँ उन्होंने लिखीं, ताकि उनके कवि का चेहरा प्रगतिशील बना रहे। पर इनमें उनका मन रमा नहीं क्योंकि इनकी मूलवृत्ति प्रकृति और प्रेम के बिम्बों में डूबी हुई थी। वे कविता सूँतते हैं तथा बिम्बों को भाषा पर बेल-बूटों की भाँति काढ़ते हैं। फिर यह माद्दा भी रखते हैं कि यह कविता जनमानस के स्थान से निकले।

अवाम को 'राजनीतिक जादूगरियों' मे सजग करने की भंगिमा से शमशेर ने उपदेश शैली के द्वारा अलादीन का चिराग कविता का प्रारम्भ किया है—

> लेकिन जिनके ऊपरी आवरण के अन्दर
> अपार सौन्दर्य कर्म और कर्मठता का है
> और जिसकी नींवें बहुत गहरी और पुरानी हैं
> और जो दरअसल पूरी धरती के
> वासियों को/एक साथ/बाँधे हुए है : वहाँ
> तुम्हारी कला, तुम्हारे शब्दों का जादू,
> वही, एक गहरे तेल स्रोत का
> चिराग, एक अलादीन का नही, हजारों अलादीनों का,
> और एक शहरेजादी नही, करोड़ों शहरेजादियों का
> हुस्न, और खुलशीसेम सिर्फ एक गार का नही
> लाखों गारों के खजानों को लिये हुए है :
> वही जमो।

मुक्तिबोध ने लिखा था—'हम व्यक्तिवाद के दण्डकारण्य से बाहर निकल पड़े है। जिन-जिन स्थानों पर मनुष्य अपनी हित रक्षा मे लीन है, वहाँ-वहाँ हमारे हित लगे हुए हैं। हमारे काव्य का चरित्रनायक आज स्वयं मूर्तिमान यथार्थ ही हो।···हम स्वगत भाषण और एकालाप से हटकर वार्तालाप की ओर जाएँ, निस्संगता से हटकर संघर्ष में योग दें।' शमशेर की इस कविता में एकालाप से हटकर वार्तालाप की भूमिका मिलती है तथा अलादीन का मिथक अपने तमाम सामंती परिवेश-संस्कारों से मुक्त होकर उभरा है। लेकिन इसमें जनजीवन के ठोस सन्दर्भ कहाँ है ? सच्ची वास्तविकता की नीवें बहुत गहरी और पुरानी होती हैं, लेकिन इनके विकास के आधार कविता में कहाँ प्राप्त होते हैं ? यह चिराग उपलब्धि की सामाजिकता की ओर इशारा करता है, लेकिन इसे प्राप्त करने का वह संघर्षशील प्रयत्न कविता मे कहाँ झलकता है ? कवि उपदेशात्मक विश्वास पैदा करके चुप हो जाना चाहता है।

पुराने कवियों में त्रिलोचन तथा केदारनाथ सिंह ऐसे कवि है, जिनमें नई सूझ-बूझ बराबर अपनी करवटें बदलती रही है। प्रकृति, समाज और कला में इन्होंने नया जनवादी रिश्ता कायम किया है। प्रकृति की तमाम वस्तुएँ और कला के नये रूप जहाँ सामाजिक चेतना के मध्य घुल गये हों, केदारनाथ सिंह की कविताओं की पहचान वही होती है। उनकी इधर की कविताओं में जीवन के ठोस सन्दर्भों के साथ बिम्बों की प्रकृत सामाजिकता विकसित हुई है। जंगल की ओर लकड़ी काटने के लिए अपने कन्धे पर कुल्हाड़ी रखकर बढते आदमी के रूप में कवि 'सूर्य' को देखता है। एक बिम्ब के भीतर कई बिम्बों का समूह पैदा करने वाले केदार 'रोटी' शीर्षक कविता में कहते हैं—

मैंने जब भी उसे तोड़ा है
मुझे हर बार वह पहले से ज्यादा स्वादिष्ट लगी है
पहले से ज्यादा गोल/और खूबसूरत
पहले से ज्यादा सुर्ख और पकी हुई
आप विश्वास करें/मैं कविता नहीं कर रहा
सिर्फ आग की ओर इशारा कर रहा हूँ।

ये नयी कविताएँ यह विश्वास दिलाती है कि प्रतीकों, बिम्बों के माध्यम से अगर ये गहरी और ईमानदार अनुभूति मे निर्मित हो, तो कविता में सामाजिक बदलाव का स्वर मिल सकता है। यह थोथे क्रान्तिकारी नारों से अधिक असरदार होना है। 'सूर्यास्त' मे सूरज का बिम्ब नये रूप मे देखें—

मैंने सूरज को देखा
मैंने एक और लम्बी और सफेद दाढ़ी देखी
जिसे सूरज लगाये हुए था।

केदारनाथ सिंह ने रूप पर ज्यादा गहरा काम करके भाव-सौन्दर्य को उभारने का प्रयास किया है। पर त्रिलोचन की कविताओं की अर्जित साधारणता सोच के मूल केन्द्र में मनुष्य को स्थापित करके विकसित हुई है। 'पहाड और हरे-भरे झाड' से कवि का जीवन-संगीत जुडा हुआ है, पर मनुष्य ही है उसके तमाम चिन्तन का केन्द्र। इसकी विश्वात्मकता का चित्र है—

आगे एक है मनुष्य
फिर दूसरा मनुष्य
फिर तीसरा मनुष्य
इन्हें घेरे और बांधे हुए
दुनिया के मनुष्य
इनको छोड़ मेरा कौन
स्वाभिमान सुनेगा।

त्रिलोचन अपने सानेट मे अपने बटोरे हुए अनुभवों को बातचीत की भाषा में उभारते हैं, जिसके साथ गहरी प्रासंगिकता भी रहती है। बहुत साधारण बातें। बहुत सहज ढंग। त्रिलोचन के साथ नागार्जुन की कविता की तुरन्त याद आती है, लेकिन नागार्जुन में सम्प्रेषणीयता अधिक गहरी है, त्रिलोचन मे यह साधारण। इस साधारणता को पाने में भी कला का श्रम लगता है। भाषा के साथ रचनात्मक मेल-जोल गहराना पडता है। युग की प्रासंगिकता को त्रिलोचन सपाटबयानी की बिम्ब योजना से पकड़ते हैं। कवि अपने कुछ सानेट में नवरोमानी तथा कुछ मे यथार्थ का तीक्ष्ण बोध लेकर चलता है। इनके पूरे सानेट को तोडकर नहीं रखा जा सकता।

जब आदमी कविता करता है, तो वह जिन्दगी को धुधला करके इससे एक खूबसूरत दूरी पैदा करना चाहता है अथवा इससे एक वास्तविक लगाव बनाना ? लोकमुक्ति चाहते हुए जूझना, व्यक्ति की संवेदनाओं से घरेलू रिश्ता बनाना, नए अनुभवों की पीड़ा से गुजरना और व्यवस्था के तमाम हमलो को एक कवितामोर्चा बनाकर नाकाम करना—क्या चाहता है कवि ? पूरा कवि-कर्म इसी बुनियाद पर अपना चरित्र बनाता है, कई आदमी इसलिए कवि बुनते हैं कि जिन्दगी का चेहरा और बुझ जाये। वे शब्दो से जिन्दगी को खदेड़ देते है। रघुवीर सहाय ने कविता को आदमी की जिंदगी के लिए और सिर्फ इसी के मूल्यों के साथ स्वीकार किया है। हँसी किसी मौके पर सिर्फ हँसी कभी नही रहती। स्वतंत्र हँसी महानगर की लूट-खसोट वाली व्यवस्था मे छिन गई है। अब इस हँसी के साथ विवशता है। या हँसी किसी गहरे संकट को अनसुना करके इसकी खाल के भीतर सुरक्षित रह जाने की कोई शैली है ? 'हँसो, हँसो खूब हँसो' में भारतीय परिवेश के आदमी की तकलीफ़ और विवशता को गहरे रंग के साथ उभारा गया है— 'बेहतर है जब कोई बात करो, तब हंसो / ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे / और ऐसे मौकों पर हंसो जो कि अनिवार्य हों / जैसे गरीब पर किसी ताकतवर की मार / जहाँ कोई *कुछ नहीं कर सकता / उस गरीब के सिवाय / और वह भी अक्सर हँसता है।'* हँसी की अभिव्यक्ति कवि ने नई संवेदना के साथ की है। 'कितना अकेला हूँ इस समाज में जहाँ मरता है एक और मतदाता' के रघुवीर सहाय जनता और राजनीति के नये संबंधों को परिवेश की मूल्यगत संक्रमणशीलता के परिप्रेक्ष्य मे उभारते है—

> क्योंकि आज भाषा ही एक मेरी मुश्किल नही रही
> एक मेरी मुश्किल है जनता
> जिससे मुझे नफरत है सच्ची और निस्संग
> जिस पर कि मेरा क्रोध बार-बार न्योछावर होता है।

प्रतीकात्मक स्तर पर इस कविता को समझने के लिए संघर्षरत जनता की नई जटिलताओं को समझना होगा, जो नई कविता की 'व्यक्ति' की जटिलताओं से अलग है। रघुवीर सहाय का कवि दुनिया की तकलीफों तथा इसकी पेचीदगियों से साधारण आदमी की तरह घबरा भी जाता है। उसे देशभक्त कवि, सिनेमाघर, लड़कियो की खुशामद-सारी चीजें उबाने लगती है। वह ईश्वर से प्रार्थना करता है कि वह उसे छील-छील कर उसमे इतनी बेचैनी भर दे कि—

> मैं इसी तरह निर्वसन सड़क से गुजर जाऊँ।

इस नग्न सच्चाई के साथ कविता मे आदमी, लोग, जनता को पाने का सवाल है। नई कविता का मानव आज 'लोग' हो गया है। राजनीति को भोगती जनता आज की भाषा की सबसे बड़ी समस्या है। इससे कविता की प्रतीकात्मकता में अंतर पडा है। अब कविता का एक ऐसा चरित्र विकसित हो रहा है, जिसमे जनता की पूरी साझेदारी रहे। जनता का भी क्या मतलब है ? जनता कहने से जो सामाजिक सच्चाई उभरती है,

वह कवि की दृष्टि पर निर्भर करती है। नहीं तो जनता कोई अमूर्त शब्द नहीं है।

कहानी की अपेक्षा आज की कविता पर बातचीत करने में खतरे अधिक हैं। कविता पर जितना कहा जाता है, उससे अधिक कहने की गुंजाइश हमेशा बाकी रहती है। इसलिए आज की कविता की आलोचना एक प्रक्रिया के रूप में चलती है। हम देखेंगे कि राजनीतिक मतवाद के स्तर पर कई समकालीन कवियों के बीच आपस में लड़ाई-झगड़ा हो, तो भी उन अनुभवों के मिजाज के स्तर पर, जिन्हें लेकर ये कविता-रचना मे संलग्न होते है, गहरी समानता है। जब बहस कविता पर हो रही हो, तो उस ईमानदारी और तत्परता की समीक्षा भी लाजिमी हो जाती है कि किसी कवि ने सड़क तथा सार्वजनिक मामलों से अपना सरोकार किस रूप में स्थापित किया है। वह वास्तविक जनसंघर्ष मे शामिल है कि नहीं। कविता के भीतर से छद्म क्रान्तिकारिता भी उभर सकती है, लेकिन इसका समूचा कोहरा तब छँट जाता है, जब कविता से सड़क के सक्रिय रिश्ते की बात आती है। कविता या तो चुप हो जायगी या वह साधारण लोगों के बीच बोलेगी, जूझेगी, मार खायेगी, अपमानित होगी। गोलियों से भूनी जाकर भी इसकी आवाज हर जुल्म से ऊँची होगी। क़ैद होकर भी यह अधिक मुक्त हो जायेगी। इसलिए कविता पर बातचीत करने से अधिक जोखिम का काम है—कविता की रचना करना।

विजेंद्र ने 'कठफूला बांस' मे लोक-स्थितियों की गहरी परख की है। कृषक के शोषण को मूल आधार बनाकर हिंदी में कविताएँ कम लिखी गई। जबकि जनवादी अनुभव-लोक से जुडने के लिए कृषक संवेदना से जुड़ना बहुत आवश्यक है। हमारे समाज मे अर्द्ध-सामंतवादी शोषण का जो चक्र भयानक रूप से स्थापित है, उसके खिलाफ़ विजेन्द्र की कविता खड़ी होती है। कविता मे विवरणों तथा वर्णनों की प्रचुरता है, फिर भी यह पाठक को संवेदित करती है। गाँवों के पुराने मिथकीय विश्वासों को खंडित करती हुई कविता अब नये विवेक के साथ उभरती है—

इसी जगह जख-जखिनी पड़े मिले / यही नोह खुदा / यही का भवन झीकता / यही कालीदह सड़ रहा / यही रमण रेती में लुक्क चली / यही गोबरधन धचक गया। अब कोई रास नहीं / यह चीरहरण नहीं / आखें खोलो / नया विवेक जन्मता है—कविता से।—बड़ी खौफनाक शक्लें किये खडी हैं झाड़ियां / इसी जगह बानासुर पिटे / इसी ठौर खांडव वन जला / अब केवल राख है / कोई चिन्गारी नहीं।

विगत दिनों संस्कृत और हिन्दी साहित्य पर एक आरोप यह उभर कर आया कि इनमे चरितनायक प्रायः द्विज रहे है तथा ये समाज के दलित लाछित वर्ग की भावनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते। सामंती मिथकों के माध्यम से काव्य में सामाजिक शोषण का काव्य ही अधिक लिखा गया है। वाल्मीकि से लेकर कालिदास या तुलसीदास से लेकर प्रसाद तथा अद्यतन कवियों ने भी उच्च-वर्ण तथा वर्ग के चरितनायकों को ही आधुनिक सन्दर्भों में वाणी दी है। फलतः वास्तविक जनसाहित्य नहीं उभर पाया है। इस आरोप मे यह सच्चाई जरूर है कि राजतंत्र तथा सामंतवाद की व्यवस्था वाले

हमारे देश में जिस तरह का सहित्य-सृजन हुआ, उसमें कला-दर्शनगत जितनी गंभीरता रही हो, पर यह सबके हित का साहित्य नही था। हो भी नही सकता था, क्योंकि सामंतवादी समाज व्यवस्था में स्वाभाविक रूप से सामती मूल्यों और शुद्धतावादी कला की प्रधानता होती है। दूसरी बात यह है कि साहित्यकार-कलाकार अक्सर उच्च-वर्ग से अथवा द्विज-समाज से आये। ये दलितो-पीड़ितों की भावनाओं को अपनी वर्ग-सीमाओं तथा उदारता के भीतर ही प्रकट करते थे। धर्म और कला में सामंती मूल्यों की प्रधानता इसी वजह से थी। लेकिन इसी कारण किसी साहित्य का अध्ययन वर्जित नही हो जाता, क्योंकि इसके भीतर भी सामाजिक विकास का द्वन्द्वात्मक इतिहास प्रकट होता है। दूसरी ओर तं। साहित्य ने अपने युग को जो चुनौतिया दी, इन्हे हम किस प्रकार भूल सकते हैं ? आधुनिक हिन्दी साहित्य मे समाज के दलित-उपेक्षित वर्ग की तरफ नये सिरे से ध्यान गया है। दलित-शोषित वर्ग की भारतीय जनता ही अब जीवन-मूल्यों मे व्यापकतर परिवर्तन की आधार है। सामाजिक संघर्ष के विकास के फलस्वरूप जीवन-दृष्टि भी बदली है।

नागार्जुन की 'हरिजन-गाथा' मे दलित जीवन की भावनाओं की व्यंग्यपूर्ण तथा प्रखर अभिव्यक्ति हुई है। सैकड़ों वर्षो से इनके खिलाफ़ प्रबल वर्ग की साजिश चलती आई है तथा लोग सहानुभूति में घड़ियाली आंसू बहाकर रह जाते हैं। इधर हमारे मुल्क की सामाजिक व्यवस्था में यह अंतर्विरोध तीव्र हुआ है और इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कवि ने इस कविता मे इस सच का उद्‌घाटन करने का प्रयास किया है। सन्दर्भ उस घटना का है, जिसमें तेरह हरिजन जिन्दा जला दिये गए थे। लेकिन इसे अपूर्व बतलाकर कवि अपने को किसी राजनीतिक प्रचारवाद का शिकार बना लेता है—

ऐसा तो कभी नही हुआ था कि
एक नही, दो नही, तीन नही
तेरह के तेरह अभागे
अकिंचन मनुपुत्र
जिन्दा झोंक दिये गये हों
प्रचंड अग्नि की विकराल लपटों में
साधन-संपन्न ऊंची जातियों वाले
सौ-सौ मनुपुत्रों द्वारा।

'कालीदास' जैसी कविताओं से 'हरिजन-गाथा' तक नागार्जुन ने कविता को सामाजिक जनवादी बदलाव से संयुक्त रखने की बराबर चेष्टा की है। धीरे-धीरे इनकी कविता का स्वर प्रचारवादी होता गया है और संवेदना का स्थान 'नारा' ने ले लिया है, पर कविता को जनवादी व्यक्तित्व प्रदान करने मे नागार्जुन का योगदान इस आधार पर स्वीकार करना चाहिए कि इस कवि ने कविता को उथले अर्थ मे ही सही, एक दृष्टि-संपन्न और संघर्षशील व्यक्तित्व प्रदान किया है। इसका नारा भी कुछ हद तक एक

भोगा हुआ नारा था, हवा में आधारहीन उछला हुआ नारा नहीं। इससे कविता में एक चरमराहट आई है। जनकविता के लिए यह एक प्रभावकारी बात होती, अगर इसमें हल्कापन तथा ढुलमुलपन नहीं आया होता। 'इंदुजी इंदुजी क्या हुआ आपको' या 'ओ' काली काली महाकाली महाकाली 'ओ' मार मार मार बार न जाये खाली' जैसी सतही कविताएँ कवि को मदारी बना देती है। कविता को तमाशा।

विष्णुचंद्र शर्मा की कई कविताओं मे कविता को उपरोक्त प्रकार से ही जनवादी व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। लेकिन यह कवि अपेक्षाकृत अधिक गंभीर है और भाषा का इस्तेमाल सधे हुए हाथो से करता है। उसने भाषा को बहुत संभव है कोई नया रूप नही दिया हो, लेकिन इसे दैनन्दिन की मानवीय तकलीफ़ से जोड़ने की चेष्टा की है और इसके भीतर विद्रोह के सूत्रों को भी इकट्ठा किया है। वैसे कहीं-कहीं यह कवि नागार्जुन की भंगिमा अपनाता है। लेकिन वह अपने विद्रोह के स्वर मे कहता है—

फोडकर फेंक दो अपना चेहरा
एक बार
कटी-फटी सनदों, अभिनंदनो और चेहरों की
इस कूडागाड़ी का
अकेला मैं सारथी नही हूं।

न उसकी कूडागाड़ी किसी के आंगन का तुलसी का बिरवा है और न वह अपने आंगन को मछली-बाजार की तरह संसद के व्यर्थ शोरगुल मे तब्दील करना चाहता है। 'जानवर-तंत्र' में विभिन्न पशु-पक्षियों के माध्यम से समकालीन राजनीति का नये मुहावरों के साथ भंडाफोड़ किया है। कैसे शासन और जीवन मे जानवर-तंत्र प्रवेश करता जा रहा है, इसका एक मिथकीय चित्र इस प्रकार है—

बोला उल्लू। बडे-बडे देशो ने लिख रखे है झूठे पक्के ऊलतंत्र
के गाने
गीध तुम्हारा तीस साल का गीधतंत्र है बड़े-बड़े देशों का अपना
मीठा, कड़वा, तीखा, खट्टा मेरा ऊलतंत्र है
नमक-मिर्च का भल्ला तेरा गीधतंत्र है
मैं हूं दिन का वैरी आधे घर का
तू है आधी रात सफर की
हम दोनों का प्रजातंत्र है कड़वा इन्द्रायण का ही फल।

सर्वेश्वर की कविताएँ व्यक्तिगत स्वाधीनता, रूपतंत्रवाद, काव्यात्मक अहं तथा अंतर्विरोधपूर्ण रोमानीपन इन चार तत्त्वों को मजबूती से लेकर चलती हैं। लेकिन जैसे-जैसे हम कवि की अगली कविता की ओर बढ़ते जाते हैं, उनमें सामाजिक बदलाव का आग्रह गहरा होता हुआ पाते हैं। इस रचनात्मक विकास के संदर्भ मे ही सर्वेश्वर के काव्य की पहचान होनी चाहिए। 'कुआनो नदी' तथा 'जंगल का दर्द' में ये नई कविता तथा जनकविता के फॅग पर खड़े हो जाते हैं। 'कुआनो नदी' के आंचलिक परिवेश के

माध्यम से कवि ने एक उपेक्षित-अपमानित गांव की आत्मकथा उठायी है। इस नदी के किनारे तथा इससे सटे शहर में तमाम तरह के सामाजिक अपराध होते हैं। लेकिन कवि मानता है कि हर अँधेरा खुद रोशनी को जन्म देता है तथा अंधेरे से निकल पड़ो, तो अंधेरा नही रह जाता। लेकिन खतरे का निशान जब सामने है, 'कुआनो नदी' तैयारी की कविता है या मौन की ? 'कुआनो नदी' प्रतिरोध और दमन का एक सामूहिक बिंब लेकर उपस्थित होती है—

> अब हम मुजस्सिम असंतोष हैं
> पारा किसी चुटकी मे नही आता
> तुम अभी फैसला नही ले पा रहे हो
> मैं ले चुका हूं, जाता हूं
> पर याद रखो
> फैसले पर न पहुचा हुआ आदमी
> फैसले पर पहुंचे हुए आदमी से
> ज्यादा खतरनाक होता है।

सामाजिक संदर्भो वाले बिंबों के इस्तेमाल से सर्वेश्वर की कविता में एक प्रखरता पैदा होती है। कवि गंवई चित्र भी खीचता है। लेकिन 'जंगल का दर्द,' कुआनो नदी' की संभावनाओंको धूमिल कर देता है 'काला तेंदुआ', 'कुत्ते', 'भेड़िया', 'आग', 'भूख' में जनचेतना की अभिव्यक्ति मिलती है। लेकिन कई कविताएँ ठीक-ठीक रोमानी भी नही है' फिर भी सर्वेश्वर की कविताओं का विकास निरंतर सामाजिक चेतना की ओर हो रहा है। कवि ने साधारण-जन के करीब जाने की अपनी दृष्टि विकसित की है—

> तुम धूल हो
> पैरों से रौंदी हुई धूल
> बेचैन हवाओ के साथ उठो,
> आधी बन
> उनकी आंखों मे पड़ो
> जिनके पैरो के नीचे हो।

धूमिल ने कविता में हिंसा उछाली है तथा कविता में शहरी संस्कारों का परिचय दिया है, पर कविता को जनवादी व्यक्तित्व देने के लिए धूमिल ने पुरानी परंपरा को ही नही तोड़ा, कविता को 'गंवार आदमी का वक्तव्य' भी बनाया। इसे लोक-संवेदना के भीतर से स्वीकार किया। मुक्तिबोध ने कविता में राजनीतिक और मानवीय जीवन की विडंबनाओं को जहां तक पहुंचाया था, धूमिल समेत अनेक जनकवियों ने बदलती हुई राजनीति के संदर्भ में आदमी की ऊब, यातना, निराशा, खिजिआहट, भाग-दौड़, नफ़रत तथा शोषणमूलक परिस्थितियों की जटिलताओं को नई कलाभावना मे अभिव्यक्त किया है। धूमिल की कविता ने आजादी, गरीबी हटाओ, जनता तथा समाज की प्रगति के नाम पर चल रहे बर्बर तथा भारी दहशत उत्पन्न करने वाले

प्रहसनों की चीड़फाड़ की। वैसे घूमिल की कविताओं में विद्रोह की चेतना ही सर्वोपरि है, क्रान्ति की नही। और यह अकेले आदमी का विद्रोह नहीं होकर, आदमी का अकेला विद्रोह है। विद्रोह के साथ ईमानदार अकेलापन है—

> नहीं अपना कोई हमदर्द
> यहां नहीं है
> मैंने एक-एक को
> परख लिया है
> मैंने हरेक को आवाज दी है
> हरेक का दरवाजा खटखटाया है,
> मगर बेकार···
> मैंने जिसकी पूंछ उठायी है
> उसी को मादा पाया है।

एक गद्दीनशीन औरत के सामने भारतीय दरिद्र की व्यथा क्या रुख अख्तियार करती है, सवाल यही है। जनतंत्र की खंखड़ राजनीतिक स्थितियों का चित्रण इस कवि ने व्यंग्यपूर्ण शैली में किया है। वह अकाल और दुख का करुण बिंब उपस्थित करता है। दुनिया को बदलने का उसमें गहरा माद्दा है। वह लालटेन की लौ तेज कर इसे पेड़ पर गड़ी हुई कील पर टांग देने के लिए कहता है। कविता गांवों में उजाला करने के लिए है, तो उसकी भाषा मे शहरी मध्यमवर्गीय संस्कार घूमिल ने क्यों पैदा किए? लेकिन यही पेट कभी मुक्तिबोध का वटवृक्ष था। यह उस संस्कृति की तरह था, जिसकी जड़ें जमीन के भीतर गड़ी हुई है, लेकिन अपनी आदिम गंदगी में यह जड़ और यथास्थितिवादी है। धूमिल का तंत्रबोध उस जन को बेहतर जीवन देने के लिए है, जो अपनी गरीबी-भूख की आदतों के आगे लाचार है।

'लेखक और आलोचक' नाम की अपनी किताब में जार्ज लूकाच ने जिन्दगी के साथ-साथ साहित्य के आत्मजगत और वस्तुजगत की ठोस समग्रता की बात की है। आगे बतलाया है कि 'रोजमर्रा' की चीजों को साहित्य में लेना बहुधा व्यक्तिगत आग्रह लेकर चलता है और यथार्थ का बोध नही कराता। समय और वर्तमान की महान् चुनौतियों से सामना करते हुए मनुष्य की सफलता एवं विफलता के सन्दर्भ मे 'क्या और कैसे की एकता का सवाल ही प्रधान रूप मे रहना चाहिए।' लूकाच का यह कथन सही है कि रचना मे क्या और कैसे की एकता स्थापित होनी चाहिए। लेकिन रोजमर्रा की चीजों से जन-यथार्थ का सरोकार नही मानना बहुत बड़ी भ्रान्ति है। रोज-रोज की चीजें यूं ही सामने नही आती। उनके पीछे ऐतिहासिक ताकतें रहती हैं तथा किसी बड़ी व्यवस्था, घटना, सामाजिक चुनौती से अपना संबंध रखती है। अपनी स्थानीयता, तात्कालिक बातों तथा अत्यंत सामान्य चीजों को भी जीवन के यथार्थ के रूप में पकड़ना आसान काम नही है। यूं ही बेरोकटोक उपेक्षित गुजरते हुए सामान्य जिन्दगी के यथार्थ तथा जिन्दगी के सामान्य यथार्थों को भी रचनात्मकता की गहरी संगति एवं युग की

ऐतिहासिक प्रासंगिकता में रखकर कविता मे अपनाया जा सकता है। यह रच-नात्मकता की कमी है, अगर ये चीजें कविता की भूमि पर भी मामूली एवं निरी वैयक्तिक बनकर रह जाती है और इनके माध्यम से गहरी जनभावना की अभिव्यक्ति नही हो पाती। आज की कविता के सामने रोजमर्रा की चीजों को चुनने की स्वतन्त्रता है, बशर्ते ये चीजें रचनाकार ने ईमानदारी से कविता के भीतर ली हों। यह ईमानदारी 'स्वतंत्रता की सामाजिक प्रतिवद्धता की भूमि पर विकास' से मिलती है। आज युग अगर विरोध का दर्शन लेकर खड़ा हुआ है, तो इतने तीखेपन से भाषा को एक मजबूत हथि-यार इसीलिए बना सका है कि इसके दिमाग में आदमी देश-दुनिया का छोटा-मोटा ही सही, एक नक्शा जरूर है, जो उसे खडा होने के लिए जमीन देता है। इसके समीप आलोचना को आत्मीय ढंग से आना होगा।

दूधनाथ सिंह के कविता-संग्रह 'एक और भी आदमी है' में जानवरों की एक नई भीड़ मिलती है। इधर कविता मे जानवर खूब आने लगे है। यह इस बात की ओर संकेत है कि समाज मे अमानवीय स्थितियां तेजी से बढ रही है। अब जानवरों का आदिम वनैलापन हमारी संस्कृति का वस्त्र बनता जा रहा है। इस संग्रह की कविताओं मे दूध-नाथसिंह का त्रासद, सामाजिक स्थितियों के प्रति क्रोध स्वाभाविक रूप में उभरा है। लेकिन कहीं-कहीं व्यक्तिगत आग्रह अथवा अकविता की छायायें प्रवल हो गई हैं। 'तैमूरलंग' के माध्यम से कवि ने उस दुर्दम अत्याचारी की अपंग निरंकुशता की कथा उठायी है, जो नये नगरों, नई सभ्यताओं की खोज मे निकल गया। पर तैमूरलंग एक विजेता नहीं, अब एक हारती हुई व्यवस्था है। 'कालिदास' में आतंकपूर्ण मौन की स्थिति और परम्परा से प्रतिरोध की भावना अभिव्यंजित हुई है—

मौन के विराट अश्वत्थ से जो
मुझे ले गये—वाक् और अर्थ
के समुच्चय बोध तक—वे
मेरे गुरुजन नहीं थे
अपने ही जर्जर, अय्याश वाग्जाल से पराजित
स्तंभित। मदांध
नंगे। विरुप। विक्षिप्त। भयाक्रांत।
वे दिशाहारा थे।

कवि के लिए युवा-खुशबू ही एक आस्था है। युद्ध के निरर्थक इंतजार की जगह वह महाबलिपुरम का विशालकाय अजानबाहु देखकर जानना चाहता है—'कहां है टूटकर बरसता हुआ घनघोर संघर्ष ?' आक्रमणों से घिर जाने के कारण कवि की स्थिति कभी-कभी दयनीय-सी हो जाती है। लेकिन यह संबंधों के नकलीपन और संस्कृति की कुरुपताओं पर भारी बेचैनी प्रगट करता है। दूधनाथ सिंह की कविताओं मे इतिहास और काव्य के पुरुष ही मिथक के ढाचे में अभिव्यक्त हुए हैं। फंतासी के माध्यम से कवि अपने आंतरिक विक्षोभ को शासन व्यवस्था की श्रृंखलाओं के खिलाफ

है। कविताओं मे बुनावट तथा बिंबों का फैलाव इतना ज्यादा है कि संवेदनात्मक अनुभव कई स्थलों पर दब गए है। कविता पर कारीगरी का यह आरोपण 'सुरंग से लौटते हुए, में भी है। लेकिन कवि संघर्षरत इंमान की भावनाओं से जूझने के लिए तैयार है—

लेकिन एक और भी आदमी है
जो चला जाता है
इतिहास की काली चट्टान के भीतर खौलता हुआ शांत
कोई चाहे तो उसकी काली चमडी के भीतर
चकमक पत्थर की तरह चमकती हड्डियों से
बच्चों को गिनती सिखा सकता है
कोई अगर चाहे तो उसके चेहरे मे
हिन्दुस्तान का नक्शा
बडी आसानी से पकड़ सकता है।

कुछ ऐसे कवि है, जो अकविता के दौर के है। लेकिन इन्होंने परिस्थितियों के बदलाव को स्वीकार करते हुए अपनी रचनाओं को नई जनोन्मुख दिशा में मोड़ने की कोशिश की तथा अपने विद्रोह को एक राजनीतिक आधार दिया। सकलदीप सिंह उनमें एक हैं। अपनी एक कविता में पूजीवादी-साम्राज्यवादी शत्रुओं को रेखांकित करते हुए वे कहते है—'*मेरा दुश्मन वह बाजार है। बाजार की ऊंची आवाज है। हथियारों की सनसनाहट है।*'

अनुभव से विचारों को अलग करके लिखी जाने वाली कविताओं की भाषा यथार्थ का स्वच्छंदतावादी आयाम प्रस्तुत करती है। इसे हम रोमांटिक यथार्थ भी कह सकते है। यथार्थ के स्थान पर तब यूटोपिया ही प्रधान हो जाता है। दूसरी ओर विचारधारा के साथ अगर वास्तविक जन-अनुभव नही हैं, तो कविता की रचना-प्रक्रिया मे संप्रेषण की समस्या नही होती। विचारों के काव्यानुवाद की समस्या होती है। *विचार कहे अथवा समझा दिए जा सकते हैं, कविता कही अथवा समझाई नही जा सकती।* इसका अनुभव किया जाता है। इससे संवेदित हुआ जाता है। लेकिन हर रचना कही गहरे मे एक विचार भी होता है। ऐसी कविताओं मे संप्रेषण की समस्या भाषा की समस्या के रूप मे उठती है। काव्यभाषा के लिए अगर आज जनभाषा की मांग बढ़ी है, तो इसीलिए कि कवि समाज के अनुभवों के साथ जुड़े। इसके नये विश्वासों को व्यक्त करे।

क्रांति और कविता सगी बहनें हैं, मगर ये दो चीजें हैं। जनकविता जनक्रांति के लिए संघर्षों तथा इनके बीच अर्जित हो रहे व्यापक अनुभवों का सिर्फ आईना नही होती, वह एक हथियार भी होता है। अज्ञेय ने अपनी कविता मे जो चेहरा तैयार किया था, उसमे वैभवपूर्ण प्रकृति अधिक है, मुक्तिबोध की कविताओं में अवचेतन अधिक है, आज की कविताओं मे जनता का संघर्ष अधिक शामिल है। देश और जनता की हालत को बदलने के लिए लड़ाई जरूरी है, यह बहुत से लोग मानते होंगे। पर अभी भी कविता

की दृष्टि से इस लड़ाई को अछूत समझने वाले लोग भी कम नहीं हैं।

लीलाधर जगूड़ी ने सत्ता की मदान्धता तथा कुर्सी के कुचक्र की पहचान बनाते हुए कुर्सी के आसपास सुलगते लावे के साथ कविता की भाषा को खडा करने की जरूरत महसूस की है। लेकिन राजनीति तब साफ होती है जब वह अपनी जड़ों के लिए जनता की माटी से खुराक लेती है। पुन: उस माटी को वह संस्कारती भी है। इसे खराब होने से बचाती है। लीलाधर जगूड़ी की कविता जानती है कि यह पृथ्वी उनकी है, जो इसे खोदते है, पेड लगाते हैं और इसे टूटने से बचाते हैं। इसे संवारते हैं। वस्तुत: आठवें दशक की कविता देश में शासन के जालिम अत्याचारों तथा व्यवस्था की मजबूत साजिशों के खिलाफ पूरी ताकत से खड़ी होनेवाली कविता है। पिछले तीसाधिक सालों से इस व्यवस्था तथा शासन व्यवस्था ने अपने को निरंकुश कर लिया है, साथ ही जनता पर अनगिनत जुल्म किए है। कविता इन सब मामलों में कहीं वैचारिक भटकावों मे बंधी, और कहीं जनता की विचारात्मक संवेदना से जुड़कर खुला हस्तक्षेप बनकर विकसित हुई है। इस सिरे से उस सिरे तक लड़ती सम्पूर्ण जनता की भावनाओं को इसने प्रतिबिम्बित किया है। कवि ने 'बलदेव खटिक' के माध्यम से उसी साधारण मनुष्य को ऊपर उठाया, जो एक विचार तथा लड़ाई के विकास के क्रम में कौओं पर गोली चलाता है और पागलपन में फरार हो जाता है। इस कविता के माध्यम से कवि ने समकालीन व्यवस्था को बेनकाब कर दिया है। लीलाधर जगूड़ी ने इस परिप्रेक्ष्य मे भाषा के लोकवादी संस्कारों के साथ कला के बदलते हुए मिजाज की भी पहचान की है। पेड़ के एक सार्थक प्रतीक के माध्यम से जनता के संग्रामी व्यक्तित्व का चित्र खीचते हुए कवि ने इस बात का पूरा घ्यान रखा है कि कविता के बिम्बात्मक ढांचे में जिन्दगी की भाषा ही लहलहाए—

> अपने सारे शरीर को कारखाने की तरह संभाले हुए
> टहनियो को बन्दूक की तरह ताने हुए
> उसने अपनी जड़ों को फौजी कतारों की तरह बंटकर
> मिट्टी की तबियत पर मोर्चा बांध दिया है
> आओ और मुझे सिर ऊंचा किए हुए
> उससे ज्यादा आत्मनिर्भर कोई आदमी बताओ
> जो अपनी जड़ें फैलाकर
> मिट्टी को खराब होने से बचा रहा हो।

कविता मे प्रकृति को अस्वीकारने की प्रवृत्ति इधर की कविताओं में मिल रही थी। पुराने कवियों के लिए प्रकृति बहुत प्रिय थी। लेकिन लीलाधर जगूड़ी का 'पेड़' हो, मलयज की 'रात' अथवा 'सुबह', कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह का 'सूर्य', ध्रुवदेव मिश्र पाषाण की 'गांव की बहती हवा', आलोक धन्वा का 'जंगल', 'पंचदेव की 'चिड़ियों की चहक भरी सुबह,' केसरी या 'चिरपरिचित सूर्य', श्रीराम तिवारी का 'पेड़,' देवेन्द्र कुमार का 'गांव', रवीन्द्र भारती की 'जमीन' अथवा शिवमंगल सिद्धान्तकर की 'मिट्टी'-इनमें प्रकृति कविता को

चबाती नही। यह कविता को एक जुझारू-आत्मनिर्भर व्यक्तित्व देती है। प्रकृति आदमी को पलायनधर्मी भी बनाती है तथा दूसरी ओर संघर्ष की प्रेरणा देती हुई आदमी की तमाम कुंठाओं-पराजयों को खोल देती है। उसे विजय की ओर बढ़ाती है। अब सवाल यह है कि कविता का प्रकृति के साथ सलूक कैसा है। निश्चय ही जनकविता मे यह सलूक बदला है। प्रकृति मार्मिक होने की जगह, योद्धा के रूप में उभरी है।

प्रकृति से जनवादी कवि के सलूक के बदलने तथा इसे हेय समझने की जगह पर इससे एक जनवादी रिश्ता कायम करने का मतलब है मनुष्य की अपराजेय अपरिमित शक्ति को अभिव्यक्ति देना। इसके स्नेह और राग के संसार को वर्ग-एकता की जमीन पर पहचानना। विभिन्न जकड़नों से मुक्त और विस्तृत होना। प्रकृति के किसी भी उपादान को हम लें तथा विश्लेपित करें कि विभिन्न कवि ने, मान लें,'बादल' को किन-किन भाव-रूपों में चित्रित किया है, तो हम मानवीय सोच के इतिहासों का पलटना भी देख सकते है। 'मेघदूत' में कालिदास ने लिखा 'भर्तुमित्रं प्रियमविधवे विद्धि माम्बुवाहं तत्संदेशैर्हृदय निहितैरागतं त्वत्समीपम्।' मधुर घोर गर्जन के साथ यक्ष के विरह का संदेश लेकर नाटकीय भावनात्मकता प्रगट करने वाला यह मेघ सामंती अनुभवों का प्रतीक है। 'किसी अश्रुमय घन का हूँ कन' मे महादेवी की अंतर्भूत करुणा। 'क्रीड़ा कौतुक करते छा अनंत उर मे नि:शंक' मे विप्लव-भय के घोष से भरे हुए पंत के शिक्षणीय आध्यात्मिक बिंब। 'जब सावन घन सघन बरसते' मे प्रसाद के अतीतोन्मुखी सौन्दर्य चेतना के बादल। तथा 'जीर्ण बाहु है जीर्ण शरीर। तुझे बुलाता कृपक अधीर। ऐ विप्लव के वीर' में जीवन की सार्थकता लिए हुए निराला का क्रांतिकारी राग। बादलों के इन भिन्न प्रयोगों से मनोदशा की भिन्नता भी परिलक्षित होती है। नई कविता के कई कवियों ने नव-रोमानी तेवरों के साथ बादल का विबात्मक चित्र उपस्थित किया है।

'वसन्त के बादल' मे शिवमंगल सिद्धांतकर ने हजारों-हजार साल के सीखचों को तोडते हुए बिजली उगलने वाले बादल को अपनी लम्बी कविता मे अभिव्यक्त किया है। बादल मनुष्य की जीवनी शक्ति मे भी आगे बढ़कर संघर्ष शक्ति में रूपातरित हो जाते है—

सत्य ही वसंत के बादल जब बजते है
जादू की छड़ी लसक जाती है
सापों का सुंदर वन कालीदह दग्ध हो पड़ता है

राजनैतिक संघर्ष के नक्सलवादी संदर्भ मे कवि ने इसे बंगाल की खाड़ी से उठाकर हिमालय भेज दिया है। शब्द तक कविता हमेशा अधूरी होती है। शिवमंगल सिद्धातकर ने शोषण और जुल्म से लडती जनशक्ति की पहचान कविता की भाषा मे की तथा इसे लड़ाई की एक खोज के रूप मे विकसित की। 'आग के अक्षर' की कवितायें गांवों-खेत-शहर-कारखानो की जिन्दगी से जुड़कर लिखी गई है। कविता के भीतर से संकल्पी आखें झांकती हैं। एक चुनौती, एक संकट, एक दहाड़, एक करुणा, एक बिंब, एक उत्तेजना के साथ। प्रतीकों का सामाजिक संसार तथा विभीषण, नादिरशाह,

हातिमताई, पुण्डरीक, चाणक्य, हथौड़ा, भीष्मपितामह इत्यादि के द्वारा कवि आज की स्थितियों को ठोस ढंग से समझना चाहता है। वह हथियार बन्द लड़ाई की माँग करता है, जो भुखमरी तथा गरीबों के खिलाफ देश में भभक उठी थी। संघर्ष में अपने प्राण त्याग देने वाले शहीदों के मन में किसी व्यक्ति से कम देश-प्रेम नहीं था, पर जब तक जनता के मन में हिंसा की लड़ाई के प्रति आस्था उत्पन्न नहीं होती, कविता में इसकी बातें करना अनावश्यक है। यह गमले में क्रांति बोना है। हिंसा बोलने की चीज नहीं, करने की चीज है। उसी तरह अहिंसा भी। पिछले तीस सालों से गांधी और अहिंसा के नाम पर हजारों युवकों के कत्लेआम हुए। शासन ने जुल्म ढाहे, तो उनके ऊपर जो लुटेरों, मुनाफाखोरों, शोषकों और भ्रष्टाचारियों के खिलाफ आवाज उठाते थे। '६७ से परिवर्तन की जो संयुक्त प्रक्रिया शुरू हुई है, उनमें आंदोलन के लिए हिंसा अथवा शांति-पूर्ण आंदोलन में किसी का चुनाव करना है, तो यह चुनाव जनता करेगी। कवि को प्रतिरोध की किसी निर्धारित भूमिका के स्थान पर इनकी यथार्थवादी संयुक्त भूमिका की सीमाओं और संभावनाओं की पहचान करनी चाहिए, ताकि जनता की व्यापक भावनाओं को अभिव्यक्ति मिले।

नजरुल की कुछ पंक्तियां थी—जब उत्पीडित मनुष्यों की चीखोपुकार आकाश-पाताल में नहीं गूंजेगी, अत्याचारी का खड्ग इस युद्धक्षेत्र में टूट जाएगा, यह विद्रोही उसी दिन थकेगा उसी दिन होगा शांत ! जनवादी साहित्यकार का संघर्ष इतना लम्बा है। उपल ने अपने चित्रों के माध्यम से साधारण जन की पीड़ा की संवेदनशील अभिव्यक्ति की है। कहीं-कहीं इनकी कविता चुप होकर भी बहुत कुछ कह जाती है। इसके भीतर एक तीखा स्वर फूटता है। भयानक अमानवीयता के बीच उदित होती तानाशाही शक्तियों को रेखांकित करते हुए कवि ने काली के प्रतीक के द्वारा कहा है—'शायद फिर कोई सिर-फिरा सिर उठा रहा है। जो सृष्टि को पैरों तले कुचलना चाहता है। उसके गर्भ को खंडित करना चाहता है। माँ के चरण उसी ओर बढे हैं। तलवार उसी पर उठी है।' यह शक्ति का वैसा ही उद्बोधन है, जैसा निराला ने व्यापक काव्यभूमि पर किया था। तानाशाही शक्तियों के विरुद्ध आवाज उठाती जनता की भावनाओं को सुवास सिन्हा ने पहचानने की कोशिश की है—'अपना नंगापनछिपाने के लिए। मुझे पहना दिया गया। आपातस्थिति का बेढंगा जामा। उनके नगे नाच में मैं कहीं रुकावट न बनू। मेरे पैरों में डाल दी गई बीस सूत्री घुंघरू…।' कवि ने प्रत्यक्ष राजनैतिक चुनौतियों से बचने के स्थान पर उन्हें स्वीकार करने का प्रयत्न किया है। उसमें इतनी प्रखरता और संवेदनशीलता है। स्वप्निल शर्मा की 'तनी हुई मुट्ठिया' भी जन संघर्ष की भावनाओं की खुली अभिव्यक्ति करती है। ये कविताएं लोकतांत्रिक भावनाओं को मजबूत करती है।

कविता में पिछले दशक से तेजी से बदलाव घटित हो रहे है। रूप और वस्तु दोनों स्तरों पर। सम्बन्धों की एक नई संवेदना बन रही है, जबकि पहले सम्बन्ध-विच्छिन्नता ही आधुनिक थी। चन्द्रकान्त देवताले का 'बच्चा', राजकुमार गौतम की

'मां', बंशी माहेश्वरी की 'पाठशाला के छात्र', राजेश जोशी की 'एक बातचीत वचपन की,' श्रीराम वर्मा की 'बच्चों के लिए एक गीत' मे सम्बन्धों का एक नया जनवादी धरातल फूटा है।

कई कवि अपनी कविताओं को नई कविता के सौन्दर्यबोध से मुक्त नही कर पाये है, लेकिन एक कसमसाहट मिलती है। मलयज के कविता-संग्रह 'जख्म पर धूल' के गहरे प्रतीकात्मक अनुभवो के पीछे एक बौद्धिक उद्वेलन ही नही है, यह बौद्धिकता अपने समस्त तेवरों मे सौन्दर्यपूर्ण घनिष्ठता से संयुक्त है। मानवीय जीवन के यथार्थ को सामाजिक संवेदना के साथ स्वीकार करते हुए कवि नई कविता की भावविह्वलता तथा अनावश्यक सौन्दर्य से मुक्त होना चाहता है तथा तमाम कटुताओं को हंसी और व्यंग्य के साथ स्वीकार करना चाहता है। सभी लोगों के साथ मुक्ति की भावना लेकर अस्तित्व के तमाम संघर्षों को यथार्थन्वेषिणी चेतना के मध्य अपनाता है। ग्रामांचल के आदि प्रतीकों तथा आद्यबिम्बों के माध्यम से भाषा के भीतर मलयज ने अपनी कविता को सिलसिलेवार तरीके से खोलने की कोशिश की है। इसमें एक सहज आत्मीय संपृक्ति मिलती है। हिन्दी साहित्य मे साधारण जन की दधीचि हड्डियों को इन्द्रासन बचाने का हथियार बना लिया जाता है। आज का रचनाकार जन-संघर्ष से अपने सरोकारों को नये रूप मे समझने की चेष्टा कर रहा है और वह नया वर्गमित्र भी नही बनाता। मलयज ने बहुत सचेत होकर 'मामूलीराम' को उठाया—

> जमीन कही नही है
> जमीन के नक्शे मे बारूद की
> बंजर उंगलियां बो रही है
> आराम कुर्सिया ढो रही हैं
> और कही पीछे है, दूर पर
> गिरे तिनके सा मामूलीराम
> अपनी भाषा में अनाथ
> अपना नंगापन खोकर।

ज्यादातर कविताओं में दो या तीन पंक्तियां ही ऐसी होती हैं, जिनसे मन जुड़ता है। बाकी कविता इन पंक्तियों पर पहुंचने की तैयारी बनकर रह जाती है। अथवा शब्दों की खूबसूरत कसरत। पर गलत कसरत से शरीर पर खराब असर ही पड़ता है। जब निराला अथवा मुक्तिबोध की कविताओं पर हम सोचते है तो यह स्पष्ट जानते है कि इनकी कविता से दो-तीन पंक्तियां नही निकाली जा सकती। इनकी पूरी कविता कविता होती है, जब कि इधर सैकड़ों ऐसी कविताएं छप रही हैं जिनमे से कविता चुनना पड़ता है। इन्ही कारणों से कविता की साहित्यिक जगत मे तो ख्याति है, पर जनसंसार में किसी को इससे मतलब नही। इस टूटे रिश्ते को जनवादी कविता जोड़ सकती है। जनवादी कविता विभिन्न कालो तथा दौरों में लिखी जाती रही है, अतः यह कोई सर्वथा नही परंपरा नई है। लगभग '६७ से ही चलती आयी नई विद्रोही

साहित्य धारा ने बदलती हुई परिस्थितियों के बीच अपने को नये स्तर पर विकसित किया था। सन् '७५ के बाद उत्तरसदी के इस पूरे काल मे साहित्य के सन्दर्भ, विचार, कला के मिजाज, जीवन अनुभव की प्र.न ताओं, यथार्थ की जुझारू खोज तथा पकड़, भाषा की रणनीति, सामाजिकार्थिक ... राजनीतिक चेतना के कारण कविता के चरित्र में तेजी से लोकवादी बदलाव आय। है। हर हालत में जनता की लड़ाई तेज हुई है। उपरोक्त बातों का हिन्दी कविता की जलवायु पर काफी असर पड़ा है। यह समूची उत्तरसदी कलावादी दायरें तथा विचारों की जड़ता, भटकाव तथा बिखराव से मुक्त जनसाहित्य की संभावनाओं को लेकर शुरू हुई। किसी विचार के जड़ व्याकरण से मुक्त होने का अर्थ विचार से हीन होना नही, बल्कि किसी भी विचारधारा का लोकवादी तथा रचात्मक संघर्ष का राष्ट्रीय रूप पकड़ना है।

आज कविता अगर सड़क और पगडंडियों पर उतरी है तो कुछ सोच-समझकर। इसने अपनी सर्वाधिक पैनी भाषा का इस्तेमाल किया है। कविता पहले से कुछ अधिक कविता बनी है। इसे जन-संलग्नता, सक्रिय विरोध, एवं सार्वजनिक मामलों मे नया अर्थ मिला है। कविता का अर्थ, जिम्मेदारी और सन्दर्भ बदला है। इसके विरोध के दर्शन को व्यापक जन-पक्षधरता मिली है।

☐

चिन्तन की कुछ दिशाएं

हिन्दी साहित्य में चिन्तन की दशा बहुत खराब है। इसमें भाववादी दृष्टिकोण अथवा लफ्फाजी की मात्रा प्रचुर है। यही कारण है कि हमारे यहां कला और समाज को लेकर गहरा सोच बहुत कम मिलता है। लोग टिप्पणयां लिखते है या परस्पर एक-दूसरे पर समीक्षाएं। कुछ में चिन्तन नहीं, चिन्तन की मुद्राएं भर होती हैं। यह वैचारिक कंगालीपन बहुत घातक है। यह महज तारीफ की बात नही है, लेकिन बाहर के देशों मे जीवन के एक-एक विषय को लेकर बहुत गहरा विश्लेषण देखने को मिलता है। समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थतत्व, मानवशास्त्र, इतिहास, दर्शन आदि की गहरी खोजों को साहित्य मे समेटा गया है। वहां अनुभवों का दायरा बढा है। ठीक है कि हम एक अर्द्ध-विकसित देश मे रहते है। इसके बावजूद, लगता है, कुछ ज्यादा तेजी के शिकार है। चीजें फुर्ती से लिख लेते है। चीजें छप भी जाती है। चर्चाएं भी खरीद लेते है। लेकिन इतने सब के बावजूद पाठक दृष्टिकोण के किसी व्यापक आयाम से जुड़ा महसूस नही करता। यह कमजोरी हम सबके भीतर है। विषय पर ज्ञान अर्जित करके, परिश्रम और गहरी रचना-दृष्टि से हम काम नही करते, जबकि हमारा साहित्य और हमारा समाज अब नया जन-वादी विश्लेषण मांगता है।

हिन्दी का बहुत सारा आधुनिक साहित्य अब हम लोगों के जीवन का साथ नही दे पा रहा है और पीछे छूटता जा रहा है। जबकि पिछले दशकों के साहित्य ने सबसे अधिक दावा किया था कि यह शाश्वत मूल्यों पर टिका हुआ है। इसमें सिर्फ आज की अभिव्यक्ति नही है, बल्कि भविष्य के निर्माण की भी धारणाएं है। इस शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों से ही साहित्य मानव-जीवन की कई दार्शनिक दिशाएं तय करता रहा है। नई व्याख्याएं हो रही हैं। नये भटकाव आ रहे है। अंतर्विरोधों से नये तरह से सलटा भी जा रहा है। लेकिन हमारे पीछे ऐसे बहुत कम साहित्यकार है, जिन्होने साहित्य के जनवादी परम्परा के विकास में गहरा काम किया है। हिन्दी में कम पन्ने नही छपे। ऐसा भी नही है कि लेखकों में रचनाशक्ति का अभाव है। लेकिन इस राष्ट्रभाषा मे कोई लेखक जितनी जल्दी पुराना पड़ जाता है, शायद दूसरी भारतीय भाषाओं मे नही अथवा कई दूसरे देशों में नही। यह किसी भी साहित्यधारा, आन्दोलन, वाद अथवा चिन्तन की जनजीवन के वास्तविक संघर्षों से गहरी विमुखता का ज्वलंत सबूत है।

हम यहां सारी नही, चिन्तन की कुछ दिशाओं की समीक्षा करेंगे।

जैनेन्द्र साहित्यकार से मुनि तक

जैनेन्द्र कुमार के रचनाकार के भीतर उनका विचारक अपना साम्राज्य निरन्तर फैलाता गया। इसकी एक परिणति आज हम देख रहे हैं कि जैन धर्मावलंबियों में उनके विचारों के प्रति आकर्षण बढ़ा है और वे जैनेन्द्र को जैन साहित्य का ही एक आधुनिक अंग मानते हैं। जैनेन्द्र ने भी साहित्य का स्थान धर्म के भीतर स्थापित किया है और वे स्वीकारते हैं कि 'मूलभूत धर्म को तो साहित्य पोषण ही देता है।' अब सवाल है इस हालत में साहित्य के भीतर जैनेन्द्र की कोई स्थिति बनती है या नही। इसमें संदेह नहीं कि पहले धर्म और साहित्य एक थे, पर आज के युग मे साहित्य को परम्परागत धार्मिक चेतना से तोड़ कर एक व्यापक मानवीय जमीन देने की बराबर कोशिश रही है। *वैसे धर्म भी व्यापक मानवीयता की बात करता है, पर यह उसका प्रचार-कौशल है।* जैनेन्द्र के पुराने उपन्यासो 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'विवर्त' तथा कुछ कहानियों को छोड़ दें, तो जैनेन्द्र अपने धर्म से बहुत आक्रान्त होते गये है और वस्तुतः उन्होने धार्मिक साहित्य ही लिखा है। थोड़ा चतुर होने के कारण इसमे उन्होंने साहित्य का आवरण मोटा कर दिया है, लेकिन अन्ततः वे जैन धर्म के आधुनिक प्रचारतन्त्र के अंग हैं।

कथा-साहित्य मे त्रिकोणात्मक—चतुष्कोणात्मक प्रेम-प्रसंगों का उत्थापन करके भी जैनेन्द्र 'स्याद्वाद', 'आत्मदान', 'अहेतुवाद,' 'शब्दातीत सत्य,' 'परम प्रेमास्पद,' 'महा प्राणवान' इत्यादि की जैन विचारमालाओ से बंधे रहे है। जब वे पत्नी के साथ प्रेमिका की बात करते है, तो किसी भ्रम मे नहीं पड़ना चाहिए। उनका घर-बाहर दोनों का प्रेम आध्यात्मिक अन्योक्तियों पर टिका हुआ है, इसका कोई भौतिक आधार नही है। अतः साहित्य मे जैनेन्द्र की स्थिति भी 'स्याद्वाद' की तरह है—है, नही है, हो कर भी नही है, नही हो कर भी है, है तो नही है, नही है तो है।

'**जैनेन्द्र के विचार**' चालीस वर्षों के बाद इसके सम्पादक प्रभाकर माचवे के नये वक्तव्य के साथ छप कर पुनः आया, जिसमें उन्होंने बार-बार अतीत की अपनी स्वर्णिम प्रतिभा का स्मरण करते हुए बतलाया है, '**जैनेन्द्र के विचार**' आज मेरी दृष्टि में उतनी ही वैष्णव आस्था की, अनेकान्त दर्शन-भरी मूल्यवान पुस्तक है।' जैन-मुनियों की प्रश्नोत्तर और सूत्र-शैली में साहित्य, आलोचना-जीवन, संस्कृति और दर्शन पर जैनेन्द्र के विचारों का यह संकलन अन्ततः इस धारणा को प्रमाणित करता है कि जैनेन्द्र गूढ नहीं, बिल्कुल स्पष्ट हैं, अगर जैन दर्शन के विकास की दृष्टि से इन्हें पढ़ा जाये। ये विचार हमारे जीवन की वास्तविक सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से इतने तटस्थ हो कर बने है कि अनैतिक उपायों का सहारा लेने वालों के लिए ये रामबाण कवच हैं। क्या यह किसी से छुपा है कि धार्मिक मठ आज गंदी राजनीति और शोषण के प्रामाणिक अड्डे बने बने हुए हैं—हिन्दू और जैन अड्डे भी। जहाँ तक गांधीवादी होने का सवाल है, जैनेन्द्र ने जवाहरलाल नेहरू और विनोबा की तरह इसके अनर्थों को ही अपनाया है। अपने संस्मरणों के माध्यम से वह प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ, प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, महादेवी वर्मा जैसे साहित्यकारों से अपने सम्पर्कों का बहुत रोचक इतिहास प्रस्तुत करते है, पर अपने

को जैनेन्द्रीयता के सफेद वस्त्र से ढक कर इतने सुरक्षित रखते हैं कि दूसरे विचारों का कोई भला कीटाणु भी उनके भीतर प्रवेश नहीं कर सके और वे सारे जगत मे छा जायें।

पर यह हुआ नही। जैनेन्द्र ने नये साहित्यकारों पर बहुत जर्जर हमले किये, प्रतिवाद मे तीखे प्रहारों को ग्रहण नही करके बौखलाने की अपनी परम्परा भी बनाई। राजनीतिक प्रसंगों मे तो वे बहुत ढुलमुल रहे और साहित्यिक जगत से उन्होंने नाता प्रायः तोड़ ही लिया है। अब जैन सभाओं में जाते हैं। साहित्यकार से मुनि तक की उनकी इस यात्रा में दर्शन और संस्कृति का कितना विकास हुआ, यह तो नही पता, लेकिन लेखनी का धनी एक साहित्यकार चुक कर कभी का समाप्त हो चुका है, भले ही उसकी कलम लीक कर रही हो। प्रगतिवाद के राजनीतिक प्रचारवाद से नाक-भौं सिकोड़ने वाले किस प्रकार धार्मिक प्रचारतन्त्र का हिस्सा बन जाते है, इसका एक नमूना जैनेन्द्र खुद है। 'काम, प्रेम और परिवार,' 'समय और हम' और 'इतस्ततः' में उनका दार्शनिक रूप जितना गम्भीर होता गया है, उनकी धार्मिक साम्प्रदायिकता भी उतनी ही सजग होती गयी है। क्या इनमें व्यक्त दर्शन को अपनाने जैसी सामाजिक-आर्थिक हालत भारत की विशाल जनता की है ? विशिष्ट वर्ग के लोग इसे अवश्य महत्व देंगे, प्रश्नोत्तर करेंगे और अपने व्यभिचारों-दुराचारों को इस दर्शन की वाणी में नहला-धुला कर पुनः उनके मोर्चों पर तैनात कर देंगे।

'विशाल भारत' में बहुत पहले 'कस्मै देवाय' का सवाल उठा कर जवाब दिया गया था—'जनता जनार्दनाय'। जनता से भी स्पष्ट अभिप्राय था—वे, जो अपने पसीने के बल पर रोटी खाते है, यानी किसान-मजदूर। इनकी अपेक्षा मध्यवित्त लोग जनता नहीं हैं। सम्पन्न धनी वर्ग तो बिलकुल नही है—ये है महाजन। प्रेमचन्द के प्रशंसक जैनेन्द्र जनता से अधिक निकट पाते हैं जनार्दन को। 'क्योंकि जनता में पशु-पक्षी कहाँ हैं, वनस्पति कहाँ है, यह आकाश-तारे कहाँ है।' भटकाने का इससे चालाक तरीका हमारे संस्कृति के ठेकेदार के पास और क्या है ? वे कला कला के लिए नही मान कर 'कला परमात्मा के लिए' मानते है और इसके साथ अपनी रचनाओं में तमाम महाजनी-सामन्ती मूल्यो के साथ प्रगट हो जाते है। ये बुद्धि, तर्क, कुशलता के विरोधी नही हैं, जैसा ये अक्सर कहते है, बल्कि अपने दर्शन के साहित्यिक अर्थ के लिए बराबर सचेत प्रयोग करते है। और जैनेन्द्र ने कुछ भी अनजाने अथवा अचानक नहीं किया है। एक बातचीत पर गौर करें—

प्रेमचंद—यह आहे, यह कराहे। यह दुख और दर्द, यह दरिद्रता यह भूख और यह···

जैनेन्द्र—आहो और कराहों से ऊपर उठो। उधर देखो ईश्वर की ओर।

काल चिन्तन के बहाने

काल क्या है ? यह एक भारी-भरकम सवाल है। पर इसे समझने के लिए जाल रचने की जरूरत नही है। काल के लक्षण हैं मानवीय सत्य, सांस्कृतिक यथार्थ और

सामाजिकार्थिक सम्बन्ध। इन्ही के माध्यम से हम काल को पहचान सकते है। इसकी अवधारणाओं को खुलासा कर सकते हैं। इसके विभिन्न आयामों तथा इनके परस्पर द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों की समीक्षा कर सकते है। काल का कोई भी स्वरूप ऐसा नहीं होता, जो सामाजिक चिन्तन तथा इसके परिणामों से स्वतन्त्र हो। साहित्य भी जन-समाज की समूची रचनात्मक संस्कृति की उपज होता है। अज्ञेय भी स्वीकार करते हैं कि 'यह संस्कृति के उस समय के विश्व-दर्शन को प्रतिबिम्बित करता है और साथ ही उस जाति के उस 'समय के आत्मदर्शन' को।' फिर काल के किसी कालातीत और शाश्वत रूप में शोषण अत्याचार की अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं वाली भारतीय जाति के आत्मदर्शन, आत्मानुभवों और आत्मयथार्थों को अभिव्यक्ति कैसे मिलेगी ? विश्व-दर्शन को भी विश्व का होने के पहले कृषक श्रेणी अथवा उस गड़रिये का होना जरूरी है अज्ञेय जिससे अप्रभावित गुजर जाते है। परन्तु अज्ञेय ने शाश्वत काल के कुछ ऐसे खण्डो की कल्पना की, जो स्थिर और जड़वत हो गये हों। मसलन, जंजीर से बंधे कुत्ते और इसके साथ शहरी को देखनेवाले गँवई गड़रिये की अद्भुत अनुभूति जैसी या किसी बच्ची के बार-बार एक ही कहानी एक ही तरह से सुनने के आग्रह जैसी अथवा १८५७ विद्रोह के कुछ सिपाहियों द्वारा अपनी उमर की ढलान के समय मिट्टी की तोपें बनाकर अपने प्रच्छन्न अवसादों को ढकने के लिए मिथ्या आत्मसन्तोष ग्रहण करने जैसी। काल के कुछ ऐसे ही निर्मल, शिशुवत और भ्रमित नव-रोमानी संसारों की मनचाही स्थिरता की कल्पना अज्ञेय करते हैं। वे साहित्य में काल को अनुभूतिगत, विशिष्ट, निजी, व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक काल बतलाते हैं। काल का यह मानव-विरोधी चिन्तन है। कार्म तथा कार्य से पहले कारण के सिद्धान्त को स्वीकार करके भी अज्ञेय यह नही मानना चाहते कि क्यों एक देश में एक आदमी दूसरों की भेड़ें हांकता है और दूसरा आदमी अपनी कार। एक बच्ची सोते समय कहानियां सुनना चाहती है और लाखों दूसरी बच्चियो को कहानियां क्या, मां के सूखे स्तन, कादा-पानी और माड़ में गुजारा करना पड़ता है। और आजादी की आगामी लड़ाइयाँ मिट्टी की तोपों के बल पर नही लड़ी जानेवाली हैं। शायद अब अज्ञेय की दृष्टि जहां अटककर ठहर जाती है, उसके बाद ही काल का मानवीय, जनवादी अथवा यथार्थचिन्तन शुरू होता है। वैसे अज्ञेय जितने रचनात्मक रहे, अगर 'सम्पन्नतर अभ्यंतर जीवन की अर्हता' में न फंसकर वे भारतीय मनुष्यों के दुख-दर्दों-संघर्षों का साहित्य लिखते, तो आज महान कलाकार होते।

अज्ञेय का 'संवत्सर' काल चिन्तन के बहाने उनकी अपनी रचनात्मक कृतियों के हक में प्रस्तुत की गई आलोचनात्मक सफाई है। इससे उनकी विद्वता प्रमाणित होती है। उनके अन्य निबन्ध संग्रहों से इसका महत्त्व कुछ अलग ढंग का इसलिए है कि इसमे अज्ञेय के विकासमूलक तथा ह्रासमान—दोनों चरित्रों के लक्षण स्पष्ट हो जाते हैं। अज्ञेय का विकासमूलक दृष्टिकोण वहां 'पर उभरता है, जहां वे पश्चिमी औद्योगिक यान्त्रिकी के सन्दर्भ में मनुष्य की और डिब्बाबन्द मांस की तुलना एक जिस के रूप मे

करते हैं, वर्तमान आधुनिकता को एक पतन के रूप में देखते हैं, इतिहासवाद की अन्धी गलियों से इनकार करते है। काल सम्बन्धी विचारों और अवधारणाओं के ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखते हैं। पर जीवन के संवेदनात्मक पहलुओं से उदासीन न रहते हुए भी समाज की मुक्ति के दृष्टिकोण से वे काल का वर्ग संघर्ष वाला आयाम स्वीकार नही करते। उनका मानना है कि 'अलग-अलग वर्ग के लोग काल के अलग-अलग आयाम मे रहते है। इसके लिए क्या किया जा सकता है कि किसी भी घटना का कोई वृत्तान्त सबको समान रूप मे सच्चा जान पड़े ?' अर्थात अज्ञेय सामन्त, गड़रिया, व्यापारी, किसान, मरा हुआ बारहसिंगा—एक साथ सबकी अनुभूतियों के साथी हैं। भ्रान्ति यही है कि जो उन्होंने अपनी निरंकुश सत्ता में अनुभूत किया, उसके अलावा वे काल अथवा सत्य का कोई अन्य अस्तित्व मानना नही चाहते। वे नही स्वीकार कर सकते कि विशिष्ट सामाजिकार्थिक परिस्थिति से वशीभूत होकर ये जैसी अनुभूतियां करते हैं, वे कभी भी व्यापक मानव समाज की अनुभूतियां नही हैं।

काल की प्रतीति मे प्रासंगिकता का सवाल आता है। काल को पहचानने के क्रम मे अज्ञेय सनातन और शाश्वत (तथा स्थिर भी) की जो धुरी तैयार करते हैं, इससे आध्यात्मिक अवधारणाओं तथा ऊहापोहों को पूरा अवकाश मिलेगा। यह अज्ञेय ने भी अस्वीकार नही किया है। काल के विकास की दिशा होती है। यह दिग्विहीन इसलिए नहीं है कि जड़ नही है। अर्थव्यवस्था और जननीति ही इसकी दिशा तय करती है। हमारा विरोध इतिहासवाद या अतीत के वृत्तान्तवाद से हो सकता है, पर इतिहास की द्वन्द्वात्मक चेतना और भविष्य की जनाकांक्षाओं से हमारा पथ प्रशस्त होता है। इतिहासवादी अथवा सांस्कृतिक होना वस्तुतः गुलाम होना है। लेकिन इसी संस्कृति के भीतर हमे तय करना होगा कि काल की गति में हम उत्पीडकों और विश्वासघातियों के पक्षधर है या शोषितों और संग्रामियो के। अब भी हम समाज में देखते है, ज्यादातर घरों मे किसी बुरी अवस्था अथवा दुर्घटना पर काल को कोसा जाता है। 'हाय रे काल,' अथवा 'महाकाल को यही मंजूर था'—ऐसी बातें सुनने को मिलती है। अतः भले ही काल किसी को विशाल अट्टालिका, महाप्रांगण, नदी अथवा सरोवर लगे, ज्यादातर जनो को यह भयानक विपक्ष लगता है। इसका क्रूर रूप ही समाज में इसलिए प्रचलित है कि अभी तक काल पूंजीपतियों, सामन्तो, राजाओं और नेताओ के पंजों में ही जकड़ा हुआ है। ये जब गरीबों के चाबुक से जनता को मारते है, तो वह ऊपर ताक कर 'समय' और 'काल' को दोष देती है, क्योंकि ये सहस्रों वर्षों से उनके अधीन हैं। काल की वास्तविक मुक्ति का सवाल इसकी प्रासंगिकता और जनसंघर्ष की चेतना में जुड़ा हुआ है।

अज्ञेय ने 'संवत्सर' मे अपनी रचनाओ का बाकायदा उदाहरण लेकर यह बतलाने की कोशिश की है कि उनके लिए काल का निजी होना तथा उसे शाश्वतता के स्थिर आयाम मे पकड़ना क्यों जरूरी था। क्योंकि उनका 'मैं' ही भोक्ता और प्रधान है। लेकिन रचनाकार का अनुभव अगर बहुत-से लोगो की जानकारी मे बाहर

का हो, तो यह किसी जाति के आत्मदर्शन की ओर किस प्रकार बढेगा ? अज्ञेय में यह आकांक्षा भी है कि उनका लेखन 'अधिक से अधिक कोटियों के पाठकों और श्रोताओं को यथार्थ की प्रतीति करा सके।' पर यदि उनके इन लेखो को कलकत्ता विश्व-विद्यालय के हिन्दी विभाग के कार्यक्रम मे लोग मुंह बाये सुनते रहे, तो यह किस पक्ष की कमजोरी है ? अज्ञेय अगर निर्जीपन को ही तूल देंगे, तो उन्हे पाठक क्यों 'मिलने चाहिए ?

भाषा का सामाजिक तंत्र

भाषाविज्ञान की समस्याओं को अक्सर सामाजिक विकास के संदर्भो से काट कर देखा जाता है। हमारे विश्वविद्यालयों में भाषाविज्ञान की जो दुरूह और निरर्थक पढाई होती है, उसकी आधारशिला अमरीकी और अंग्रेजी पद्धति रही है। विभिन्न भाषा-परिवारों का इतिहास प्रस्तुत कर ध्वनि और शब्द-रूपों का ऐतिहासिक विवरण सजाने की आदत है। इसी कारण हमारे यहा भाषाविज्ञान पर जो अधिकतर सोच हुए है, वे देश के सामाजिक तथा बहुजातीय राष्ट्रीयता के सदर्भो से कटे होने के कारण पूंजीवादी अवधारणाओ को ही व्यक्त करते हैं। सुनीति कुमार चाटुर्ज्या जैसे लोग भाषा को भारतीय समाज की आर्थिक विशेषताओ से काट देने के कारण अंग्रेजी साम्राज्यवाद के पक्षधर हो जाते है। दूसरी ओर उदयनारायण तिवारी जैसे भाषा वैज्ञानिक भोजपुरी को हिन्दी से स्वतंत्र भाषा के रूप मे स्वीकार करते है, क्योंकि जातीय भाषा के विकास तथा प्रसार की प्रक्रिया उनकी समझ में नही आती। दोनों तरह के वैचारिक निष्कर्ष हिन्दी के लिए ही नही, अपितु देश के राष्ट्रीय लोकतंत्र तथा रोटी की आजादी के लिए भी घातक हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा की पुस्तक **'भाषा और समाज'** भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की भ्रांतियां काफी हद तक दूर करती है। थोड़े परिवर्द्धन-संशोधन के साथ पुस्तक का यह दूसरा संस्करण सतरह वर्षो के बाद प्रकाशित हुआ है, पर इसकी स्थापनाएं वैसी ही टटकी है। भाषाविज्ञान को गणित की तर्कपद्धति से समझनेवाले जड़ पंडित इसे शायद ही भाषा विज्ञान की पुस्तक मानने के लिए तैयार हों।

भाषा को सामाजिक विकास के दर्शन की केंद्रीय समस्या बना कर आज के युग में काफी विचार किया गया है। आदिम समाज मे जो शब्द-समूह हम भाषा के रूप में पाते है, इनसे मानवीय जीवन की एक मंजिल का भी ज्ञान होता है। उस आदिम भाषा से तथा किसी जाति के सामाजिक मनोविज्ञान तथा आर्थिक सम्बन्धों को भी जान सकते है। संस्कृत भाषा जहां, यह बतलाती है कि इसके शब्द, वाक्यतंत्र और ध्वनितंत्र का रूप किन भारोपीय स्रोतो से विकसित हुआ, वही इसके व्यापार, वाणिज्य, धार्मिक जीवन, आर्थिक संघर्ष, देवशास्त्रीय मनस्तत्व, राजनीति और सामान्य जन-जीवन के यथार्थों का क्या स्वरूप था।

भाषा मे ऐतिहासिक विकास का मतलब होता है, सामाजिक तंत्र में बदलाव।

भाषा के अर्थस्तरों पर हम जितनी गहराई में जायेंगे, हमारे सामने उन सामाजि. अंतर्विरोधों तथा राजनीतिक सम्बन्धों के रूप भी स्पष्ट होते चलेंगे, जिनकी वजह से भाषा के बाह्य तंत्र पर भी फर्क आते हैं। अत: ध्वनियों तथा शब्द-रूप में परिवर्तन के विवरण को जानना ही भाषावैज्ञानिक के लिए जरूरी नहीं हैं, इसके मूल कारणों का पता लगाना भी आवश्यक है। इसके लिए मानवीय अध्ययन की एक समग्र रचनात्मक दृष्टि प्रयोजनीय है। इसी अभाव के कारण न पाणिनि के व्याकरण का पुनर्मूल्यांकन हो सका और न ब्लूमफील्ड तथा चोम्स्की विवरणात्मक भाषाविज्ञान और परिणामी व्याकरण शास्त्र की सीमा तोड़ सके। रामविलास शर्मा ने इस सीमा को यांत्रिक भौतिकवाद का नतीजा बतलाया है तथा कहा है कि हम द्वन्द्वात्मक विश्लेषण पद्धति अपनाकर मार्क्सवादी दृष्टि से अपने देश के भाषावैज्ञानिक रिक्थ का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। समाजी भाषाविज्ञान की जगह उन्होंने भाषाविज्ञान और समाजशास्त्र के मिले-जुले रूप की कल्पना भाषा के समाजशास्त्र के अंतर्गत की।

भाषाओं की ध्वनि-प्रकृति की उदाहरण सहित विवेचना करते हुए आलोचक ने निष्कर्ष निकाला है कि 'जो भाषाएँ भारत-यूरोपीय परिवार के अंतर्गत गिनी जाती हैं, उनमें कोई भी ऐसी नहीं है, जिसमें भिन्न ध्वनि-प्रकृतिवाली भाषाओं या भाषा-परिवारों के तत्वों का मिश्रण नहीं हुआ।' हर भाषा की ध्वनि-प्रकृति की अपनी विशेषताएं होती हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी में किसी शब्द को षडज, गंधार या मध्यम स्वर में बोलने से चीनी भाषा की तरह उसका अर्थ नहीं बदल जाता। भारोपीय तथा आर्य-द्रविड़ जनों में भी जो ध्वनि-समानताएं मिलती है, इनसे उनके प्राचीन सामाजिक रिश्तों तथा बुनियादी एकताओं का पता चल सकता है। द्रविड़ भाषा के साथ आर्य भाषा के रिश्तों पर गहराई से सोचने की जरूरत महसूस की जानी चाहिए। भाषा की भाव-प्रकृति तथा मूल शब्द-भंडारों पर रामविलास शर्मा ने बहुत सावधानीपूर्वक अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं तथा सुनीति कुमार चाटुर्ज्या की कई मान्यताओं का खंडन किया है।

हिन्दी-उर्दू एकता तथा इसकी निजी गरिमा की प्रतिष्ठा आलोचक ने बड़े तार्किक ढंग से की है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने के साथ अपने तर्क के पीछे उन्होंने राष्ट्रभाषा का भाषावैज्ञानिक विकास भी दिखलाया है। साम्यवादी दल तथा बहुत-से मार्क्सवादियों को रामविलास अपने भाषा संबंधी विचारों के कारण अप्रिय लगे हैं। वस्तुत: जातीय एकता का गठन तब तक अधूरा है, जब तक बुनियादी सामाजिकार्थिक बदलाव में अंग्रेजी साम्राज्यवाद को हटाकर भारतीय भाषाओं की वास्तविक प्रतिष्ठा नहीं होती। खड़ी बोली हिन्दी के खुद अपने सामने भी यह खतरा है कि हिन्दी भाषी प्रदेशों में जैसा इसका चेहरा है, यह करोड़ों गरीबों के लिए आज अंग्रेजी सामंती और पूंजीवादी तौर-तरीकों को ढोनेवाली बनती जा रही है। खड़ी बोली हिन्दी को देश के लोकजीवन की वनस्पति से जुड़ने के लिए कीमत चुकानी पड़ सकती है। अगर लोक-समाज की उपेक्षा हुई तो इसके बतौर पिछड़ा समाज अपनी मुक्ति के लिए बोलियों को माध्यम बनायेगा और इनका विकास करेगा। फिर खड़ी बोली हिन्दी महज किताबी

और अधिकारी वर्ग की भाषा बन कर ही रह जायेगी।

दर्य जिज्ञासा

ाशास्त्र में रस की तरह सौन्दर्य पर न केवल काफी चर्चा हुई है, बल्कि इसे आलोचना का प्रतिमान भी बनाया गया है। संस्कृत तथा पश्चिमी भाषाओं र्यों ने, जो कलावादी-स्वरूपवादी मान्यताओं के कट्टर समर्थक रहे हैं, काव्य-शोभा, सौन्दर्य, रीति, चमत्कार, रमणीयता, कमनीयता, ध्वनि, अलंकार, चारुता, फूहड़ता, सौन्दर्य, वक्रोक्ति इत्यादि शब्दों के आधार पर राजसी, सामंती तथा पूंजीवादी कलादर्शनों को अभिव्यक्त किया है। भामह, दण्डी उद्भट, रुद्रट, वामन, कुंतक, पंडित-राज जगन्नाथ के साथ-साथ आधुनिक पश्चिम के टामस मुनरो, वेल, शेपिरो, हर्बर्ट रीड, सार्त्र, मरलो पोंटी, विटगेंस्टाइन जैसे आलोचकों का भी नाम लिया जा सकता है, जो कलात्मक सौन्दर्य, सौन्दर्यवादी कल्पना और शिल्प की बात करते हैं। सामान्यतः यह समझा जाता है कि सौन्दर्य रूप तथा शिल्प का दर्शन है और यथार्थ विषयवस्तु का। आखिरकार सौन्दर्यहीन यथार्थ और यथार्थहीन रूप क्या होता है? यह किस प्रकार साहित्य पर बुरा असर डालता है? आज रचनाकार शिल्प और विषयवस्तु को अलग-अलग समस्याओं के रूप मे नहीं देखता। अतः सौन्दर्यशास्त्र की सफलता इसमें निहित है कि यह स्पष्ट किया जाये कि लेखक रचनात्मक धरातल पर सौन्दर्य के सवालों से किस विन्दु और आधार पर सामना करता है। और दूसरे सवालों के साथ सौन्दर्य के सवाल भी अलग से क्यों जरूरी हैं? अथवा क्या यह रचना का एकमात्र सवाल है?

'अयातो सौन्दर्य जिज्ञासा' में रमेश कुन्तल मेघ अपने गहरे अध्ययन से ललित तथा उपयोगितावादी कलाओं के संदर्भ में सौन्दर्य के आधार पर निर्मित कलाशास्त्र से परिचय कराते हैं। गहरे और सामूहिक वैचारिक मंथन से लिखी गयी हिन्दी की यह महत्वपूर्ण पुस्तक एक बहुत बड़े अभाव को पूरा करती है। इसमें उन्होंने सौन्दर्य की समस्याओं पर विभिन्न पहलुओं से सोचा है। आलोचक ने सौन्दर्यशास्त्र की दुनिया में बज रहे प्रायः सभी प्रश्नों को काफी गहराई से उठाया है। पर भाषा मे अत्यधिक पंडिताई की वजह से मेघ सदा से न केवल दुर्बोध रहे हैं, बल्कि जानबूझ कर अनुवाद की भाषा का भी अहसास करा देते हैं। इस गड़बड़ी की एक वजह यह है कि पुस्तक में पूरा विवेचन सैद्धांतिक रह गया है तथा हिन्दी लेखन के संदर्भ में सौन्दर्यशास्त्र की व्यवहारिकता खुल नही पायी है। जब तक आलोचना--चिन्तन का व्यवहार नहीं होता, इसका पूरा चरित्र खुलासा नही हो पाता। चित्रों तथा वस्तुकलाओं की व्याख्या तो इस पुस्तक में कई जगहों पर मिलती है, शायद सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं के ज्यादा अनुरूप रहने के कारण, लेकिन आधुनिक लेखन, खास तौर पर आज की रचनाओं की मेघ द्वारा सौन्दर्यतात्विक दृष्टि से समीक्षा नहीं कर पाने के कारण अनजाने ही यह प्रमाणित होता है कि आज के लेखक के सामने बुनियादी रूप से कुछ दूसरी ही रचनात्मक समस्याएं रहती है। अथवा दूसरे रूप में रहती हैं। सौन्दर्य अथवा रस की दृष्टि से वह रचना मे

काम नहीं करता। सौन्दर्य किसी भी विचारधारा का बुनियादी सवाल भी नहीं है। अब सौन्दर्य को ही हम इतना सूक्ष्म तथा विराट बना दें कि किसी उपन्यासकार-नाटककार की रचना की समस्या को सौन्दर्य की समस्या के रूप में देखने लगें, तो इनकी आलोचना का जो एक परिचित चेहरा हमारे सामने उपस्थित है, वह सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से मूल्यांकन करने पर इतना बदल जायेगा कि विश्वविद्यालय के प्राध्यापक-कक्षों में ही इसकी शिनाख्त सम्भव हो सकेगी।

सौन्दर्य क्या है? वस्तुगत है कि आत्मगत? और क्यों है? रमेश कुंतल मेघ ने अपने कथानुसार ही इसकी कुछ धुंधली सीमाएं घेरने की चेष्टा करते हुए बतलाया है कि 'यह एक 'रूप' अथवा एक 'विशुद्ध रूप' या एक विचार अथवा एक सामाजिक धारणा है। साराश यह है कि सौन्दर्य एक गुणात्मक मूल्य है, एक प्रकृत मूल्य।' इसे वस्तुगत तथा आत्मगत-परस्पर दोनों धरातलों से जोड़ते हुए विचारक का कहना है कि सौन्दर्य वस्तुगत होते हुए भी इसमें सौन्दर्यशंसक व्यक्ति की सृजनात्मक भूमिका का महत्व रहता है। अर्थात सौन्दर्य एक ऐसा गुण है, जिसका सामाजिक चरित्र होता है। यह सामाजिक जीवन तथा ऐतिहासिक दशा की उपज है। चूंकि यह एक रूप है, अतः आकृति की वजह से संतुलन ताल (रिद्म), डिजाइन, तारतम्यात्मक संगठन, साहचर्य अथवा सामंजस्य के कौशल से सौन्दर्य उत्पन्न होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य भी सामाजिक उपज है। सौन्दर्यतात्विक वृत्तिमूलक प्रत्यक्षीकरण विलक्षण होता है। सौन्दर्यतात्विक भावना मूलतः रुचि प्रधान तथा आस्वाद्य होगी। सृजनात्मक मस्तिष्क को आत्मविमोही मानते हुए मेघ ने सौन्दर्य बोध को एक विशिष्ट मानसिक वृत्ति तथा प्रतीकात्मक कार्य माना है। अभिव्यंजना, नये अर्थ में अभिव्यक्ति को नतीजा नहीं मान कर विशेषण मानना भी अनुभव को रूपवादी घेरे में बांधना है। इसी वजह से मेघ कांट के सिद्धांतों तक पहुँचते हुए व्यावहारिक—कर्मपरक लौकिक अनुभवों से ज्ञानपरक अलौकिक अनुभवों को अधिक सौन्दर्यवान तथा प्रकृत्या मानते हैं। आज काव्य-व्यापार भी दूसरे सांसारिक मामलों के साथ जन-जीवन के निरंतर संघर्ष और भाग-दौड़ के बीच चलता है और यह कोई एकांत का अलौकिक व्यापार नहीं है, जैसा कि पहले था। कोई प्रतीक सौन्दर्यवान हो सकता है, कोई विचार सुन्दर हो सकता है, कोई भग्नवस्तु भी, अगर इसमें जीवन का कोई अर्थ हो तो, सुन्दर हो सकती है। लेकिन सौन्दर्य के अपने स्वतः का प्रतीक अथवा बिम्ब कहाँ से उभरेगा?

बीसवीं सदी में रूप और वस्तु के आधार पर सौन्दर्य को भौतिक धरातल देने के बावजूद सौन्दर्य कलावादियों तथा खास तरह से व्याकरणात्मक रूपवाद के भीतर काम करने वालों के अलावा अन्य कोई भी मूल्य, अवधारणा तथा अभिप्रेरणा के स्तर पर काम नहीं कर सका। विभिन्न विचारधाराओं तथा दर्शनों के कन्धों पर खड़े होकर ही इसे अपनी एक आश्रित पहचान बनानी पड़ी। मसलन, मनोविश्लेषण, पावलोवी मनोविज्ञान तथा मस्तक के वैज्ञानिक अध्ययन ने सौन्दर्य के अन्वेषण को जटिल और तथ्यात्मक बनाया, तो समाजशास्त्र ने सौन्दर्य को सामाजिक अवधारणाओं से जोड़ते

हुए सौन्दर्यतात्विक वृत्ति का सामाजिक अतर्प्रक्रियाओं के ऐतिहासिक विकास के साथ मूल्याकन किया। दर्शन की केन्द्रीय समस्या के रूप मे मानवतावाद तथा अस्तित्ववाद के धरातल पर सौन्दर्य नये जीवन मूल्यों, स्वतंत्रता, चिन्ता, सत्रास, यातना, मृत्यु तथा व्यर्थताबोध के भीतर उभरा। मार्क्सवादियों ने इस लोचदार तथा अनन्त अर्थो तक पहुँचाने वाले पद को समाजवादी यथार्थ, आलोचनात्मक यथार्थ, प्रतिरूप प्रतिफलन, समग्रता, श्रम उत्पादन की भौतिक शक्तियों का विकास इत्यादि पदों के साथ जोडा तथा इसे कला क्षेत्र में अपने चिन्तन के मुताबिक विकसित किया। इस तरह सम्पूर्ण पश्चिम जगत मे कला की मार्ग निर्देशिका के रूप में सौन्दर्य का एक आश्रित (सापेक्ष नहीं) और आरोपित शास्त्र खड़ा हो गया। इसने एक साथ प्रकृति, सामाजिक अनुभव, समाज, जनजीवन, कलाकार, आशंसक, संप्रेषणीयता, साधारणीकरण, व्यक्ति, कल्पना, यथार्थ, अवचेतन, प्रतीक, सृजनप्रक्रिया, शैली, शिल्प तथा विषयवस्तु—सबसे गोतिया-दमाद जैसा रिश्ता जोड़ दिया। अर्थात सबमें सौन्दर्य बोधानुभव मिलता है, लेकिन रचनाकार के बोधानुभव तथा विचारधारा का सौन्दर्यवान होना क्यों जरूरी है? कलात्मक होने से ही अगर सौन्दर्यतत्व युक्त होने का विचार प्रकट हो जाता है, तो सौन्दर्य के अलग शास्त्र की कला और जीवन के लिए क्या उपयोगिता है? कला के अलावा जीवन मे कैसे सौन्दर्य का अनुभव किया जाता है? क्या संघर्ष मे लगी राजनीतिकार्थिक चेतना का भी कोई नियत सौन्दर्यशास्त्र होता है? सामान्यतः चित्र, नृत्य और संगीत का मूल्यांकन सौन्दर्यशास्त्र जिस बेहतरी से कर सकता है, क्या लेखक की समस्याओं से भी यह निबट सकता है?

रघुवीर सहाय का लिखना

हिन्दी में वैचारिक लेखन काफी दरिद्र रहा है, खास तौर से रचनात्मक धरातल पर। नतीजतन अकादमीय तरह के विचार सामने आये। मार्क्सवादी विचारधारा के भी भारतीय सन्दर्भों में रचनात्मक और क्रांतिकारी रूपांतर की जगह विभिन्न तरह से विचारानुवाद ही प्रस्तुत किए गए। और जो मार्क्सवादी नहीं रहे, लेकिन रचना के क्षेत्र मे काम करते रहे, उन्होंने विचार करने के नाम पर कालातीत सत्य, मानवीय, स्वतंत्रता, कलात्मक अनुभववाद, नया मनुष्य, मानव चेतना, परंपरागत कर्मवाद, भक्ति के संशोधन-वादी रूप में 'स्वानुभूति' की ईमानदारी इत्यादि उन भ्रमोत्पादक सन्दर्भो को ही उजागर किया, जो भारतीय ईश्वरवादी-सामंती मूल्यों के आधुनिक अवशेष थे। भारतीय सन्दर्भ में किसी जनदर्शन अथवा जनवादी विचारों के लिए तैयारी का अभाव तथा वास्तविक सामाजिक बदल की लड़ाई मे व्यापक भटकाव का ही परिणाम था कि वैचारिक क्षेत्रों में हमारे यहाँ अकादमीय, विचारानुवादधर्मी अथवा मानव-चिंतन के बहाने निजी भ्रमों का संसार रचा गया।

रघुवीर सहाय की पुस्तक 'लिखने का कारण' में लेखों का संकलन ऐसे किया गया है, जैसे ये स्फुट विचार हों। जहाँ-जहाँ संपादकीयों, पुस्तकों की भूमिकाओं, दो-चार

शब्दों, डायरियों तथा इण्टरव्यू से लिए हुए विविध विषयों पर विविध तरह के विचार हैं, जो बार-बार कथन में दोहराव का अहसास कराने के साथ-साथ एक बात की ओर बड़ा ही अशुभ संकेत करते हैं कि हिंदी लेखकों में आखिर किसी एक पुस्तक में एक अथवा थोडे-से विषयों को लेकर ही ठोस, बारीक और रचनात्मक ढंग से काम करने का उत्साह क्यों नही है ?

लेखन का चरित्र बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि उसके लिखने के पीछे तर्क क्या है ? नयी कविता मे कुछ ऐसे तर्क निर्मित हो रहे थे, जो छायावाद से बहुत भिन्न दिखाई तो पड़ते थे, पर मौलिक रूप में वे ऐसे थे नही। नयी कविता की अनुभूति तथा अन्वेषणप्रियता ने छायावाद की कुछ दार्शनिक और शिल्पगत सीमाएं अवश्य तोडीं, लेकिन बुनियादी रूप से नई कविता कोई विद्रोही कविता धारा नहीं थी। रघुवीर सहाय ने ये सीमाएं कुछ ज्यादा प्रयोगधर्मिता से तोडी, लेकिन मानववाद की भित्ति पर बने नव स्वच्छन्दतावादी तर्कों मे उन्होंने थोडी उदारता भर बरती है, यह उनके इस कथन से सिद्ध है '(कवि की) जिम्मेदारी एक व्यापक मानवीय शिव को निरन्तर आत्मसात करते रहने की है : उस शिव का कोई प्रतिमान नही है—वह शाश्वत है—कवि को स्वयं एक विशिष्ट मानव बन कर अपने रचनात्मक कार्यों के लिए एक पद्धति और प्रमाण निश्चित करना है। इस नई जिम्मेदारी का सामाजिकता से कोई विरोध नही है—केवल वह किसी विशेष सामाजिक बोध के अधीन नहीं है।' (पृष्ठ ३३) इन पंक्तियों मे छायावाद मरा नही है और सामाजिकता जीवित नही हो पाई है। मानवतावादी दर्शन समाज के शक्तिवान वर्ग का दया-दर्शन रहा है, नही तो हिन्दुस्तान के करोड़ों भूखों के लिए मानवतावादी बनने की कहाँ सम्भावना है ?

लिखने का कवि-तर्क और भी गड़बड करता है, जब यह रचना के लिए वर्तमान से मुक्त होकर कालातीत प्रयोजन स्वीकार करता है अथवा समाज में ऐसा कोई वर्ग स्वीकार नही करता, जो किसी को दबा नहीं पाता, बल्कि खुद दबा रहता है। रघुवीर सहाय सिर्फ अनुभूति की ईमानदारी चाहते हैं, इसलिए खयाली पुलाव पकाते खुद अपनी आत्मा को इतने ऊँचे धरातल पर ले जाते हैं, जहाँ उन्हें संघर्षरत जनता भेड़ या भीड दिखाई देती है। वे मन-ही-मन महान बन जाते हैं तथा इससे सद्घृणा करने लगते है। उनके अनुभव के कलात्मक क्षणों का स्रोत उनकी निजी आत्मा का ऊर्ध्वारोहण है—*सामाजिक यथार्थ को गोली की तरह छेद कर निकल जाते* हुए यही सौन्दर्य के स्तर पर प्रयोग का संघर्ष होता है और परिणाम होता है—शिल्प। रघुवीर सहाय कहते हैं कि कवि सृजनात्मक शक्तियों के परिणाम के रूप में मिले शिल्प में संघर्ष करने को मुक्त है। कवि की यह शिल्पवादी दृष्टि पूरी पुस्तक मे छायी हुई है। वे कहते है कि लेखक के पास सिवाय शिल्प के और है ही क्या, जिससे वह विविध मुठभेडों में मुकाबला कर सके।' वे मन और कर्तव्य में ईमानदार होना जरूरी नही मानते। नयी कविता का तर्क और व्यवस्था को नये शिल्प से सुरक्षित करने के लिए बना है।

अनुभूति निहायत जरूरी है, पर विचारधारा और जनसंघर्ष की ...

सौन्दर्य का प्रयोग भी जनजीवन के संघर्ष के स्तर पर होता है। नयी कविताओं ने समाज और जन को मानव जैसे अमूर्त शब्द के माध्यम से देखा एक आध्यात्मिक स्तर पर, और गड़बड़ी की। कर्मक्षेत्र से ऊपर उठकर रचना क्षेत्र नही बनता। बल्कि इसी समाज में जी कर, मेहनत कर अखंडित जनता के भीतर छिपी बदल की भूख और छटपटाहट को अन्वेषित करने तथा रचनाकार के रूप मे अपनी पूरी हिस्सेदारी कबूल करने के जोखिम के साथ ही आज कोई रचना क्षेत्र मे उतर सकता है।

रघुवीर सहाय कर्म और वास्तविकता के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण को नही मानते, ऐसी बात नही, पर वे इसे या तो अक्सर भूल जाते है अथवा अन्तर्विरोध पैदा कर लेते है। अपने जीने को लेखक इतना महान और दिव्य क्यो मानता है? जीवन और कला की निरंकुश स्वतन्त्रता क्यों चाहता है? क्या भीड़ उसकी सद्घृणा से सुधर जायेगी। सुधारना क्यों? बदल का संघर्ष क्यों नहीं? वस्तुत: रघुवीर सहाय एक विशिष्ट तरह के विचारानुवादधर्मी सोच से मुक्त होने के लिए इस धार्मिक समाज के सामंती मूल्यों के ही *आधुनिक अवशेषों से बंधे रह जाते है, समाज के भीतर जनजीवन* के प्रतिरोधी स्तरों की खोज नही कर पाते। अत: पुरानी पड़ गयी नयी कविता का तर्क बनाने के लिए उनका सारा लिखना अन्ततः विभिन्न कोणो से विचारानुवादधर्मी सोच को फलने-फूलने का पूरा मौका देता है। वे नही बता पाते कि नया जीवन, नया उद्देश्य, नया मनुष्य में आखिरकार नये का सार्वजनिक और लोकवादी तर्क क्या है?

नये मानों की आलोचना

सामाजिक यथार्थ के विकास तथा जनसंघर्ष की चुनौतियां आलोचना के मान-मूल्यों मे भी ध्वनित होती हैं। परन्तु पिछले वर्षों में आलोचक और जनता के बीच जैसा तलाक रहा, उसकी प्रतिध्वनि आलोचना और रचना के बीच भी सुनी गयी। व्यक्तिगत सम्बन्धों और गुटबाजी का कुछ इस तरह जोर रहा कि हिन्दी मे आलोचना का कोई समय, वास्तविक और संघर्षशील व्यक्तित्व नही बन सका। हमारे यहां भी पश्चिम की 'नव्य समीक्षा' का उधारी माल हजम करके साहित्य-शिक्षा के विश्वविद्यालयी लक्ष्यो को पूरा किया गया अथवा आपसी आत्मतोष के लिए आलोचना की मिली कव्वालियां गायी गयी। अत: प्रधान खतरे दो तरफ से उठे। पहला कलावादी और नव-कलावादी मान्यताओं की ओर से जिन्होंने रचना की निरंकुशता का ऐसा बीज रोपा कि भाषा का व्यक्ति-वैशिष्ट्य ही जाग्रत हो पाया तथा अनुभूति की प्रामाणिकता, निजी मानवतावाद भोगा हुआ यथार्थ, दिशाहीन अस्वीकार, संत्रास, आत्मान्वेषण, प्रकृतिवाद और आत्म-परायापन के बांझ वृक्ष खड़े हो गये। दूसरा खतरा उन नव-प्रगतिवादी धारणाओं की ओर से आया, जिनको लेकर लेखकों ने मार्क्सवादी विचारधारा का अपनी-अपनी नव-मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षाओं की सीढ़ी के रूप में इस्तेमाल किया।

आलोचना कर्म की पुनर्प्रतिष्ठा के मार्ग में कर्णसिंह चौहान ने 'आलोचना के नए मान' में उपर्युक्त अति और अनेक की राजनीतिक धुरियों पर विचार किया है। पुस्तक

सौन्दर्य का प्रयोग भी जनजीवन के संघर्ष के स्तर पर होता है। नयी कविताओं ने समाज और जन को मानव जैसे अमूर्त शब्द के माध्यम से देखा एक आध्यात्मिक स्तर पर, और गड़बड़ी की। कर्मक्षेत्र से ऊपर उठकर रचना क्षेत्र नहीं बनता। बल्कि इसी समाज में जी कर, मेहनत कर अखंडित जनता के भीतर छिपी बदल की भूख और छटपटाहट को अन्वेषित करने तथा रचनाकार के रूप में अपनी पूरी हिस्सेदारी कबूल करने के जोखिम के साथ ही आज कोई रचना क्षेत्र मे उभर सकता है।

रघुवीर सहाय कर्म और वास्तविकता के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण को नही मानते, ऐसी बात नही, पर वे इसे या तो अक्सर भूल जाते हैं अथवा अन्तर्विरोध पैदा कर लेते हैं। अपने जीने को लेखक इतना महान और दिव्य क्यों मानता है? जीवन और कला की निरंकुश स्वतन्त्रता क्यों चाहता है? क्या भीड उसकी सद्घृणा से सुधर जायेगी। सुधारना क्यों? बदल का संघर्ष क्यों नहीं? वस्तुत रघुवीर सहाय एक विशिष्ट तरह के विचारानुवादधर्मी सोच से मुक्त होने के लिए इस धार्मिक समाज के सामंती मूल्यों के ही आधुनिक अवशेषों मे बंधे रह जाते है, समाज के भीतर जनजीवन के प्रतिरोधी स्तरों की खोज नही कर पाते। अत: पुरानी पड़ गयी नयी कविता का तर्क बनाने के लिए उनका सारा लिखना अन्ततः विभिन्न कोणों से विचारानुवादधर्मी सोच को फलने-फूलने का पूरा मौका देता है। वे नही बता पाते कि नया जीवन, नया उद्देश्य, नया मनुष्य मे आखिरकार नये का सार्वजनिक और लोकवादी तर्क क्या है?

नये मानों की आलोचना

सामाजिक यथार्थ के विकास तथा जनसंघर्ष की चुनौतियां आलोचना के मान-मूल्यों मे भी ध्वनित होती हैं। परन्तु पिछले वर्षों में आलोचक और जनता के बीच जैसा तलाक रहा, उसकी प्रतिध्वनि आलोचना और रचना के बीच भी सुनी गयी। व्यक्तिगत सम्बन्धो और गुटबाजी का कुछ इस तरह जोर रहा कि हिन्दी मे आलोचना का कोई समग्र, वास्तविक और संघर्षशील व्यक्तित्व नही बन सका। हमारे यहां भी पश्चिम की 'नव्य समीक्षा' का उधारी माल हजम करके साहित्य-शिक्षा के विश्वविद्यालयी लक्ष्यों को पूरा किया गया अथवा आपसी आत्मतोष के लिए आलोचना की मिली कव्वालियां गायी गयीं। अत: प्रधान खतरे दो तरफ से उठे। पहला कलावादी और नव-कलावादी मान्यताओं की ओर से जिन्होने रचना की निरंकुशता का ऐसा बीज रोपा कि भाषा का व्यक्ति-वैशिष्ट्य ही जाग्रत हो पाया तथा अनुभूति की प्रामाणिकता, निजी मानवतावाद भोगा हुआ यथार्थ, दिशाहीन अस्वीकार, संत्रास, आत्मान्वेषण, प्रकृतिवाद और आत्म-परायापन के बाभ वृक्ष खड़े हो गये। दूसरा खतरा उन नव-प्रगतिवादी धारणाओं की ओर से आया, जिनको लेकर लेखकों ने मार्क्सवादी विचारधारा का अपनी-अपनी नव-मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षाओं की सीढ़ी के रूप मे इस्तेमाल किया।

आलोचना कर्म की पुनर्प्रतिष्ठा के मार्ग में वर्णसिंह चौहान ने 'आलोचना के नए मान' में उपर्युक्त अति और अनेक की राजनीतिक धुरियों पर विचार किया है। पुस्तक

का शीर्षक यह भ्रम उत्पन्न करता है कि इसमें नामवर सिंह के 'नये प्रतिमान' की तर्ज पर ही 'नये मान' की स्थापना की गयी होगी, पर पूरी पुस्तक में ठीक इसके विपरीत आलोचक के आक्रमण के प्रधान केन्द्र ये नए प्रतिमान ही रहे हैं, जो पश्चिमी नव्य समीक्षा, सांस्कृतिक आचार्यों की परम्पराओं, कलावादी मान्यताओं और मार्क्सवादी विचारधारा की खिचड़ी से बने थे। नये प्रतिमान के अन्तर्विरोधों की समीक्षा के साथ अलोचक ने जहाँ प्रयोगवादी परम्परा के विशुद्ध साहित्यिक मूल्यों के भीतर उभरे आत्मकेन्द्रित व्यक्तिवाद और रुग्ण अस्तित्ववादी राजनीति को रेखांकित किया, वहीं प्रगतिवादी परम्परा के विशुद्ध राजनीतिक मूल्यों के भीतर पनपे विकृतीकरण और यांत्रिकीकरण की भी निर्भीकतापूर्वक आलोचना की। वस्तुतः नयी आलोचना के नये प्रतिमान में प्रगतिशीलों और गैर प्रगतिशीलों के बीच अवसरवादी समझौते क्रांतिकारी जनवादी चेतना से आत्मसुरक्षा के लिए हुए, जिनका प्रधान लक्ष्य था, पूंजीवादी-सामंती मूल्यों के आधुनिक अवशेषों का अपने मध्यवर्गीय संस्कारों के साथ वहन करना। कर्णसिंह चौहान के शब्दों में 'अज्ञेय से शब्द की जिस सृजनात्मकता का पुनरुद्धार हुआ, नामवर सिंह आदि ने जिसे प्रतिमान की ऊँचाइयों तक उठाकर परिवेशगत प्रासंगिकता प्रदान की, अशोक वाजपेयी, श्रीकांत वर्मा आदि ने जिस पर अपनी मुहर लगा दी, मूल्यांकन के उस प्रतिमान को अभी अपनी तार्किक परिणतियों तक पहुँचना बाकी था।' यही राजनीतिक स्तर पर नयी कांग्रेस तथा इसके प्रगतिवादी वर्ग मित्रों के फासिस्ट मसूबों की उर्वर साहित्यिक पृष्ठभूमि थी। हम साफ देखते हैं कि इनकी आलोचनात्मक परिणतियों के रूप में शैलीवैज्ञानिक और सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना अथवा अधूरा भाषाशास्त्रीय विवेचन उसी परम्परा के अन्तर्गत है, जिसकी नींव 'नव्य समीक्षा' के पश्चिमी विचारकों तथा कुछ रूसी रूपतन्त्रवादियों ने डाली थी और जिसे पद्धति के रूप में जनवादी धारा के खिलाफ अपने तमाम भ्रष्टाचारों के साथ हमारे साहित्य में स्थापित किया जा रहा है।

कर्णसिंह चौहान का कहना है कि 'आज समीक्षा के नाम पर जो अपढ़ता पनप रही है, वह इसलिए कि अलोचना के विकसित वैज्ञानिक मान नहीं हैं।···यह खेद का, क्रोध का, अप्रतिष्ठा का विषय हो सकता है, पर वस्तुस्थिति यही है।' इस सहज स्वीकार के बाद उन कोशिशों का मार्ग खुलता है, जो साहित्य और जनता की जमीन में गड़ कर संयुक्त रूप से वास्तविक प्रगतिशील और रचनात्मक जनवादी मान-मूल्यों को विकसित कर सकती हैं। आलोचक और जनता के बीच तलाक की स्थिति को खत्म कर सकती है। आलोचना को पुनः सम्भव करते हुए रचना और जनसंघर्ष में अपनी वाजिब हिस्सेदारी निभा सकती है। अभी तक हमारी असफलता, बिखराव अथवा भटकाव का सबसे बड़ा कारण यह रहा है कि भारतीय क्रांति की परिस्थितियों का हमारा सामाजिक-राजनीतिक विश्लेषण ही अधूरा है, पर हम पूर्ण और सर्वज्ञानी होने का दंभ भरते हैं। अब आलोचनात्मक यथार्थवाद तथा समाजवादी यथार्थवाद के एक अन्य अनुभववादी मेल के नाम पर समीक्षक का रचनात्मक और जनवादी दायित्वों से पलायन नहीं चलना

चाहिए। जनकविता की भी एक कला होती है। अतः हमारा लक्ष्य कला मे भागना नही है, अपितु कलावाद का विरोध करना है। आलोचक की स्पष्ट मान्यता है कि 'आलोचनात्मक यथार्थवादी दृष्टि के प्रति अत्यन्त सहानुभूति और बहस का रवैया जरूरी है, 'कम्युनिस्ट एरोगेंस' से दिया गया कोई भी निर्णय इस एकता को खंडित करेगा।'

पुस्तक में आलोचक की कुछ सीमाएँ भी मुखर मिलती हैं। अतिशय अनुसंधानपरक दृष्टि होने के कारण लेखक अतिरिक्त स्पष्टता के मोह में बहुत अनावश्यक भटक गया है। रामविलास शर्मा और मुक्तिबोध निश्चित रूप मे हमें अन्य दूसरों से ज्यादा निकट इसीलिए लगते हैं, कि वे भूले नही कि वे साहित्यकार है। दोनों ने इसका परिणाम भी भोगा। लेकिन हमें मुक्तिबोध की काव्य-मीमांसा की पहचान करनी होगी, साथ ही रामविलास शर्मा से यह अपनी मांग कायम रखनी होगी कि समकालीन साहित्य के प्रति वे अपना रवैया बदलें। कर्णसिंह चौहान की आलोचना प्रगतिशील परम्पराओं की जनवादी भूमिका पर उतरने की चेष्टा करती है। यह आरोप गलत है कि इसमें किसी तरह का दूसरा अतिवाद अथवा पार्टी-निर्देश है। मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने दुनिया के रचनात्मक साहित्य का गहरा अध्ययन किया था, पर भारत में किसी भी राजनीतिक पार्टी ने कम्युनिस्ट पार्टियों के भी शीर्ष नेताओं ने अपने देश के साहित्य को छुआ तक नही, तो वे निर्देश क्या देंगे ? अब यह लेखकों की ही विडम्बना है कि कभी किसी नेता ने उनकी पीठ पर चलते-चलते हाथ रख दिया, तो वे कलम पर अपनी अँगुलियों तक उस हाथ का दबाव महसूस करने लग जाते है अथवा लेखकों की आपसी लड़ाई में पार्टी के मिथ्या आतंक का इस्तेमाल करते हैं, पर जन संग्राम से दूर रहते है। कर्णसिंह ने नामवर सिंह की भ्रष्ट आलोचना-मूर्ति खंडित की, ठीक किया। पर न तो नामवर सिंह अकेले अपराधी हैं और न प्रगतिशीलता तथा रचनात्मक और क्रांतिकारी जनवाद कुछ सीमित रचनाकारों तक ठहरा हुआ है।

जन और जनवाद

साहित्य मे जन और जनवाद की बहस तेज हो गयी है। यह अचानक तेज नही हुई। विगत दशक (१९६७-७७) की साहित्यिक उथलपुथल तथा जनसंघर्षों में तीव्रता के फलस्वरूप हमारे साहित्य में नयी परिस्थितियां पैदा हुईं। नये साहित्य के बाद अब जन कविता, जन कहानी, जन नाटक, जन उपन्यास तथा जनवादी आलोचना इत्यादि का नया युग शुरू हुआ। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के इस कथन से सहमत होना लाजिमी है कि 'केवल पार्टी का ही चश्मा लगाने मे जन साहित्य पहचान मे नही आयेगा।' लेकिन जन साहित्य और जनवादी साहित्य में कोई लड़ाई पैदा करना अर्थहीन और घातक है। इससे सुविधावादियों को ही मौका मिलेगा।

गैर प्रगतिवादी शिविर मे रचना के स्तर पर शोषण और दमन को प्रखरता से अभिव्यक्त करने वाले सर्वेश्वर अकेले कवि है, लेकिन क्या उन्होंने सोचा है कि वह अकेले क्यों रह गये ? प्रयोगशील और नयी कविता की यात्रा मे तो उनके साथ बहुत

सारे समानधर्मी कवि थे। नयी कविता के बहुत से लोग समाजवादी विचारधारा से प्रभावित तथा डा० लोहिया के प्रशंसक होकर भी साहित्य के स्तर पर उनके सपनों से दूर रोमानीपन और काव्यात्मक अहं के घेरे मे बन्द रहे। संगठन विरोधी भी बन गये। दूसरी ओर मार्क्स का नाम जप कर भी कई प्रगतिवादी लेखक मजदूर किसानों के यथार्थ वादी संघर्ष की चेतना से दूर हट गये।

हिन्दी मे प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद (१६३६) जनता के साहित्य का आंदोलन कई स्तरों पर गुजरा तमाम विघटन और भटकाव के बावजूद प्रगतिशीलता और जनवाद की एक वास्तविक धारा निरंतर विकसित होती रही। हालांकि इस प्रक्रिया मे बहुत से लेखको की अजीब भूमिका रही, लेकिन नयी कविता नयी कहानी, नव-प्रगतिवादी धारा के भीतर सामाजिक चेतना की परिवर्तनकारी शक्तियाँ भी काम कर रही थी। इन्ही शक्तियों ने विकसित होकर आज श्रीमती तानाशाही के पुनरागमन तथा पूंजीवादी शासन व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में जन-साहित्य या जनवादी साहित्य का व्यापक रूप ग्रहण कर लिया है।

सर्वेश्वर का कहना है 'जन साहित्य ज्यादा सार्थक शब्द है। वह बिना वादी हुए भी लिखा जा सकता है। वादी होना भी एक आग्रह मे बंधना और दुराग्रही होना है। जनवादी कहना उस दुराग्रह के लिए रास्ता खोलना ही नही, उसका स्वागत करना है। अत: *जनकविता जन साहित्य ज्यादा उचित शब्द है, बजाय जनवादी कविता और जनवादी साहित्य के*···सब जनवाद की अपनी-अपनी व्याख्या करते हैं और करेंगे। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र मे यह झगड़ा न छेडा जाये, तो ज्यादा अच्छा है। कम से कम वामपंथी *विचारधारा का साहित्य एक मोर्चे के तहत हो*।' *इस कथन से सर्वप्रथम ये* सवाल पैदा होते है आखिरकार जनसाहित्य को सार्थक शब्द घोषित करने की जरूरत क्यों पडी? वामपंथी विचारधारा से सर्वेश्वर का क्या अभिप्राय है? इसके साहित्य को *किस मोर्चे के तहत किन लक्ष्यों के लिए वह एक करना चाहते हैं?* साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र मे राजनीतिक लड़ाई न छेड़ने से सुविधावादी शक्तियों के अलावा और कौन मजबूत होगा?

साहित्य और संस्कृति से *अर्थव्यवस्था* और राजनीति को दूर रखने का भ्रम अंततः कलावादी निष्कर्षों तक ही ले जाता है। यह गहरी चुनौतियों के वक्त का मौन बन जाता है। अतः साहित्य के भीतर *जनता की आशा तथा संघर्षों की अभिव्यक्ति तभी* होगी, जब हम समाज के अंतर्द्वन्द्वों तथा राजनीति के अन्तर्विरोधों को तीव्र करने की दिशा में काम करेंगे।

निम्न वर्ग के और पिछडे लोग जन है। मध्यवर्ग के वे लोग ही जन हैं, जो उत्तरोत्तर, नवकुबेर, पदलोभी तथा शौकीन बनने की होड़ से अलग है। बाकी सभी महाजन हैं। गाँवों मे 'जन' वैसे भी मजदूरी करने वाले लोगों के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आज साहित्य में 'व्यक्ति' और 'मानव' की जगह 'जन' और 'जनता' जैसे शब्द महत्वपूर्ण हो गये हैं। अब मानवतावाद की जगह जनवाद का आया है। मानवतावाद के 'वाद'

से तो नयी कविता वालों को परहेज नहीं था ! वादी होने के लिए कुछ सच्चे आग्रह निरन्तर खोजने पड़ते हैं । जनवादी होने का अर्थ निम्नवर्ग तथा दलितों के मुक्ति-दृष्टिकोण से जुड़ना है । वादी होने का अनिवार्य अर्थ यह नहीं होता कि वह पार्टी को माने । लेकिन यह जरूर होता है कि वह न केवल एक विचारधारा को मानने—इसका एक संगठित विकास करने की दिशा में सचेष्ट हो बल्कि किसी संगठन अथवा संयुक्त मोर्चे से किसी न किसी स्तर पर जुड़ा रहे । स्वतंत्रता का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि हम अकेले हों ।

जन और जनवाद में कोई बुनियादी फर्क नहीं है । जन साहित्य या जनवादी साहित्य दोनों का एक ही मतलब होता है—जनता का साहित्य । दोनों को अंग्रेज़ी में 'पीपुल्स लिटरेचर' ही कहेंगे । जनता के हाथ जनता का साहित्य । अब जनवाद में कुछ स्वार्थी तत्त्व मार्क्सवादी विचारधारा का व्यक्तिगत संस्करण घुसेड़ रहे हों, तो इसकी प्रतिक्रियास्वरूप जनवाद शब्द से ही एतराज प्रकट करना गलत है । पूंजीवादी शक्तियों की यह सनातनी चाल है कि ये एक नकली क्रांतिकारी फौज हमेशा बना कर रखती हैं तथा तमाम प्रगतिशील और समाजवादी शब्दों-कार्रवाइयों को भ्रष्ट करने की भरसक कोशिश करती हैं । इसी तरह जनवाद को कलावाद का संशोधित मोर्चा बनाने के लिए जन से वाद को अलग करना भी स्वीकार नहीं किया जा सकता । अतः जन और जनवाद में एक व्यापक अंतर्सहमति तथा परस्पर निर्भरता है । जनवादी दृष्टि के बिना जीवन का समग्र चित्र देखा नहीं जा सकता । समग्रदृष्टि अपने आप में कुछ नहीं होती । हाँ, जनवादी दृष्टि की समग्रता की मांग की जानी चाहिए । और यह समग्रता भारतीय जनता के वास्तविक इतिहास, संस्कृति का वैज्ञानिक विश्लेषण करके तथा आगामी दिनों की इसकी गौरवपूर्ण भूमिका से जुड़कर ही पायी जा सकती है । जनवाद उस विचारधारा के प्रति भी एक दृष्टिकोण है, जिसे कोई साहित्यकार या विचारक राष्ट्रीय स्तर पर अधिक प्रासंगिक भूमिका के लिए तैयार करता है । तमाम परम्परागत भटकाव और जड़ता को तोड़ता है । यह अपने आप में कोई दर्शन नहीं, बल्कि एक वैचारिक दृष्टिकोण तथा आधार है, जहाँ तानाशाही-पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ रचना और जनसंघर्ष में संयुक्त ताकत से कार्रवाई करने की भूमिका बनती है । अगर मार्क्सवादी साहित्य ही जनवादी साहित्य है, तो 'जनवाद' शब्द की अलग से जरूरत क्यों पड़ी ? लेकिन जनवादी दृष्टिकोण के विकास में मार्क्सवाद की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है, इसे स्वीकार करना चाहिए ।

संघर्षरत प्रगतिशील धाराओं के संयुक्त क्रांतिकारी उभार का नाम ही जनवाद है । यह समग्र रूप में प्रभावकारी तब होगा, जब हम सर्वएकतावाद की महात्माओं जैसी बात भूलकर जनवादी एकता तथा इसकी शक्तियों के ऐसे राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे की बात करेंगे । जो तानाशाही शक्तियों से लड़ने के साथ-साथ वर्ग जागरूकता और वर्ग-संघर्ष को तेज करने की साहित्यिक-राजनीतिक दिशा बना दे । भारतीय क्रांति में जनवाद, संयुक्त क्रांतिकारी संघर्ष तथा लोकशाही—ये तीन प्रयोगशील आधार होंगे ।

सारे समानधर्मी कवि थे। नयी कविता के बहुत से लोग समाजवादी विचारधारा से प्रभावित तथा डा० लोहिया के प्रशंसक होकर भी साहित्य के स्तर पर उनके सपनों से दूर रोमानीपन और काव्यात्मक अहं के घेरे मे बन्द रहे। संगठन विरोधी भी बन गये। दूसरी ओर मार्क्स का नाम जप कर भी कई प्रगतिवादी लेखक मजदूर किसानों के यथार्थवादी संघर्ष की चेतना से दूर हट गये।

हिन्दी मे प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के बाद (१९३६) जनता के साहित्य का आंदोलन कई स्तरों पर गुजरा तमाम विघटन और भटकाव के बावजूद प्रगतिशीलता और जनवाद की एक वास्तविक धारा निरंतर विकसित होती रही। हालांकि इस प्रक्रिया मे बहुत से लेखकों की अजीब भूमिका रही, लेकिन नयी कविता नयी कहानी, नव-प्रगतिवादी धारा के भीतर सामाजिक चेतना की परिवर्तनकारी शक्तियाँ भी काम कर रही थी। इन्ही शक्तियों ने विकसित होकर आज श्रीमती तानाशाही के पुनरागमन तथा पूंजीवादी शासन व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में जन-साहित्य या जनवादी साहित्य का व्यापक रूप ग्रहण कर लिया है।

सर्वेश्वर का कहना है 'जन साहित्य ज्यादा सार्थक शब्द है। वह बिना वादी हुए भी लिखा जा सकता है। वादी होना भी एक आग्रह में बंधना और दुराग्रही होना है। जनवादी कहना उस दुराग्रह के लिए रास्ता खोलना ही नही, उसका स्वागत करना है। अतः जनकविता जन साहित्य ज्यादा उचित शब्द है, बजाय जनवादी कविता और जनवादी साहित्य के···सब जनवाद की अपनी-अपनी व्याख्या करते हैं और करेंगे। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र मे यह झगड़ा न छेडा जाये, तो ज्यादा अच्छा है। कम से कम वामपंथी विचारधारा का साहित्य एक मोर्चे के तहत हो।' इस कथन से सर्वप्रथम ये सवाल पैदा होते है आखिरकार जनसाहित्य को सार्थक शब्द घोषित करने की जरूरत क्यों पडी? वामपंथी विचारधारा से सर्वेश्वर का क्या अभिप्राय है? इसके साहित्य को किस मोर्चे के तहत किन लक्ष्यों के लिए वह एक करना चाहते हैं? साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में राजनीतिक लड़ाई न छेड़ने से सुविधावादी शक्तियों के अलावा और कौन मजबूत होगा?

साहित्य और संस्कृति से अर्थव्यवस्था और राजनीति को दूर रखने का भ्रम अंततः कलावादी निष्कर्षों तक ही ले जाता है। यह गहरी चुनौतियों के वक्त का मौन बन जाता है। अतः साहित्य के भीतर जनता की आशा तथा संघर्षों की अभिव्यक्ति तभी होगी, जब हम समाज के अंतर्द्वन्द्वों तथा राजनीति के अन्तर्विरोधों को तीव्र करने की दिशा में काम करेंगे।

निम्न वर्ग के और पिछड़े लोग जन है। मध्यवर्ग के वे लोग ही जन हैं, जो उत्तरोत्तर, नवकुबेर, पदलोभी तथा शौकीन बनने की होड़ से अलग हैं। बाकी सभी महाजन हैं। गाँवों मे 'जन' वैसे भी मजदूरी करने वाले लोगों के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। आज साहित्य मे 'व्यक्ति' और 'मानव' की जगह 'जन' और 'जनता' जैसे शब्द महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। अब मानवतावाद की जगह जनवाद आ गया है। मानवतावाद के 'वाद'

लघु पत्रिकाएँ : जनोन्मुखता का सवाल

लघु पत्रिकाओं के सन्दर्भ में फिर बहस होनी चाहिए। हर स्थान पर होनी चाहिए। कुछ बातों पर निरन्तर चर्चा होती रही है। इन चर्चाओं और बहसों से कुछ चीजें बहुत साफ ढँग से उभरी है। व्यावसायिक पत्रिकाएँ अपने मालिक की रीति-नीति के अनुसार चलती हैं। ये पूँजीवादी आदर्शों की वकालत करती हैं और अपसंस्कृति को बढावा देती है। नये रचनाकारों को हतोत्साहित करना इनका धर्म रहता है। जिस प्रकार उद्योगपति बेरोजगारो को ठेंगा दिखाता है तथा अपने श्रमिकों का शोषण करता है, व्यावसायिक पत्रिकाओं के मालिक सम्पादकों को अपनी तलवारों की मूठ बनाकर नये लेखको को अस्वीकारते है तथा अपने कर्मचारियों तथा मसिजीवियों का शोषण करते है। व्यावसायिक पत्रिकाओं के दफ्तर मे अक्सर देखा जा सकता है कि मालिक का पक्ष लेकर सम्पादक किस प्रकार अपने अधीनस्थ पत्रकारों पर अत्याचर करता है और लेखको के प्रति व्यावसायिक निर्ममता बरतता है। रचनाओं को मन-मुताबिक काट-छाँट देता है। तथा ऐसे लेखन को प्रोत्साहन देता है, जो उसके मालिक का बैंक बैलेंस बढा सके और जन-सग्राम को सास्कृतिक स्तर पर ध्वस्त भी कर सके। इनी-गिनी व्यावसायिक पत्रिकाओ मे ही थोड़ी-बहुत गणतांत्रिक तहजीब बची है, अन्यथा सारी पत्रिकाएँ तानाशाहीपूर्ण आचरण करती है।

व्यावसायिक पत्रिकाओं के इस विपावत ढाँचे के खिलाफ ही लघु-पत्रिकाओं ने विद्रोह किया था। नये रचनाकारों ने आवाज बुलन्द की थी 'सरस्वती', 'हंस', 'चाँद', 'मतवाला', 'इन्दु', 'रगीला', 'रूपाभ', 'कृति', 'प्रतीक' 'नई कविता', 'हिमालय', 'कल्पना', पत्रिकाएँ अतीत मे निकल चुकी थी। इनका उद्देश्य व्यावसायिक न होकर सार्थक साहित्य का प्रकाशन था। समाज मे कला का विकास करना था। नये रचनाकारों को अभिव्यक्ति के अवसर देना तथा साहित्यिक आंदोलनों को मुखर करना था। इनके सम्पादक आमतौर पर वे होते थे, जो साहित्य रचना में संलग्न हो। सन साठ के के बाद लघु पत्रिकाओं का एक ऐसा उभार आया, जो पहले से व्यापक था। अधिक क्रुद्ध और विध्वंसक भी। 'माध्यम', 'उत्कर्ष', 'लहर', 'वातायन', 'नागफनी', 'रूपाबरा', 'समवेत', 'कृति परिचय', 'युयुत्सा', 'सन्दर्भ', 'हस्ताक्षर', 'दर्पण', 'तनाव' 'बासंती', 'सम्बोधन', 'समीक्षा', 'अकविता', 'शताब्दी' 'क ख ग', 'सलीब', 'अप्रस्तुत', 'अक्षर', 'अप्रस्तुत', 'शब्द', 'अर्थ', 'बिम्ब', ऐसी ढेरो लघु पत्रिकाएँ थी। 'कल्पना' जैसी दो एक पत्रिका पहले से निकल रही थी। इन्होने व्यावसायिक पत्रिकाओं को जबर्दस्त चुनौती

'आवेग', 'जमीन', 'गोन', 'प्रतिमान', 'सम्भावना', 'साहित्य निर्झर', 'दीर्घा', 'सम्प्रेषण', 'उत्तरगाथा', 'अभिव्यंजना', 'इबारत', 'तत्काल', 'प्रतिबद्ध कविता', 'समझ', 'हिरावल', 'इसलिए', 'इस बार' 'उन्नयन', 'गवाह', 'मंच', 'युवा', 'सिर्फ', 'हथियार' आदि पत्रिकाएँ विभिन्न स्तरों पर निकलीं। इससे लोकतान्त्रिक चेतना को बढ़ावा मिला। कुछ पत्रिकाओं में इस चेतना से भटकाव भी हुआ, लेकिन ये पुनः संभल गई। लेकिन इधर जनपत्रिकाओं में पुनः एक उतार आ गया है तथा बहुत-सी पत्रिकाएँ बन्द होती जा रही हैं।

जनता की साहित्यिक पत्रिका या जनवादी पत्रिका के उपरोक्त आदर्श रूप पर आज कौन सी पत्रिकाएँ चल रही हैं और कौन-सी नहीं—इस पर हम अभी नहीं जाते हैं। इतना अवश्य कहेंगे कि लघु पत्रिकाओं की गुटबन्दी और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा हिन्दी की कई जनवादी पत्रिकाओं में भी प्रवेश कर गई है। जब राजनीति के स्तर पर जनवाद और वामपंथ की चेतना सुविधावाद, अवसरवाद, संकीर्णता तथा भटकाव की शिकार हो जाती है तो साहित्य में भी इसके अत्यन्त वीभत्स रूप देखने को मिलते हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं को कभी भी गन्दी संसदीय राजनीति के समीकरणों पर नहीं चलना चाहिए, बल्कि हमेशा संघर्षशील जनवर्ग के पक्ष में खड़ा होना चाहिए। सच को सच, गलत को गलत कहना अच्छे साहित्य का प्रधान गुण है। लेकिन कई लोग यथार्थ स्थिति से कतरा कर चलने में अभ्यस्त हो जाते हैं। कई जनवादी पत्रिकाओं में दादागीरी और महंती चल रही है, छुआछूत बरता जा रहा है, व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द को बढ़ावा दिया जा रहा है, तो ये सभी इस बात के संकेत हैं कि हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाओं में अभी भी जनवादी आंदोलन अपने वास्तविक रूप में उभर नहीं पाया है तथा इनमें साहित्येतर चीजों को अधिक महत्व देने के साथ लघु पत्रिकाओं के ही कई दोषों को राजनैतिक आवरण डालकर अपना लिया गया है। फलतः साहित्यिक रचनाकारों पर जिस तरह के अत्याचार व्यावसायिक पत्रिकाओं की ओर से होते हैं, वैसे ही कई जनवादी पत्रिकाओं के मठमुल्ले सम्पादकों की ओर से भी होते हैं। चूंकि ये संपादक भी छोटे व्यावसायिक घरानों के चाटुकार होते है, अतः पत्रिका निकालने के लिए पूंजी जुटाने के धूर्ततापूर्ण कौशल और साहित्यिक तीर्थयात्राओं के कारण ये जनवादी रचनाओं के न्यायाधीश बन जाते हैं। जो इनकी चमचागीरी करते है, उन्हें ये छापते है, अन्यथा बाकी को तरह-तरह के झूठे आरोप लगाकर खारिज कर देते है। किसी व्यावसायिक पत्रिका के सम्पादक से कम दम्भ इन छद्म जनवादी सम्पादकों में नहीं होता। तथा ये कम भ्रष्ट नहीं होते। जिस प्रकार लघु पत्रिका के नाम पर कई सम्पादकों ने अपना छोटा-मोटा व्यवसाय भी चलाया और विज्ञापनों से आमदनी की, कुछ जनवादी पत्रिकाओं के नाम पर वैसे ही लघु उद्योग चल रहे हैं। इन पत्रिकाओं के कुछ सम्पादकों का लक्ष्य सरकारी और औद्योगिक क्षेत्र में विज्ञापन-दाताओं तथा जन-सम्पर्क अधिकारियों से सम्पर्क बनाना तथा नाम और धन कमाना रहता है। ये व्यवस्था के मूल्यों के पक्षधर होते हैं और क्रांतिकारी या साहित्य-प्रेमी बनने का भी ढोंग करते है। ऐसी पत्रि-

लघु पत्रिकाओं के लेखकों में कुछ बिखराव आया था, लेकिन सातवें दशक के उत्तरार्द्ध से इन लेखकों ने अपनी इस कमजोरी का थोड़ा-बहुत अनुभव कर लिया कि लघु पत्रिकाओं की मूलभूत विफलता यह थी कि इनके पास पाठक वर्ग का अभाव था। उधर व्यावसायिक पत्रिकाओं का क्षेत्र महिलाओं, बच्चों, परिवारों, युवकों के बीच बढ़ता जा रहा था और इधर लघु-पत्रिकाओं के उतने ही पाठक थे जितने इनके रचनाकार। अब सवाल यह है कि इनके पाठक कैसे मिल सकते हैं?

साहित्य को जीवित रखना हो, तो जनता में साहित्यिक रुचि को जीवित रखना पड़ेगा। साथ ही साहित्य को जनसंघर्ष में हिस्सेदारी ग्रहण करनी पड़ेगी। न केवल इसकी समस्याओं से जुड़ना होगा, बल्कि रचनाकारों को इनके बीच रहकर काम करना होगा सिर्फ लिखने की मेज से बँधे रहने पर पाठक नहीं मिल सकते। जिस रूप (फार्म) मे जनता रचनाकारों की बात समझ सकती है, उस रूप का नया कलात्मक विकास करना चाहिए। इसके लिए 'लोकरूपो' को मांजना तथा इन्हें अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपर्युक्त बनाना होगा। हम अपनी बातें विशिष्ट-शास्त्रीय ढँग से कहने के स्थान पर, जनता की भाषा में कहेंगे, तभी पाठक हमारी बातें समझेंगे और पत्रिकाएँ खरीदेंगे। लेखकों को अपनी कोई खास बात कहनी हो, तो व्यक्तिगत चिट्ठियों के माध्यम से कह सकते है। इसके लिए किसी साहित्यिक विधा को बिगाड़ कर उन्हें क्या मिलेगा। बात अगर अपनी हो तो उसमे दूसरो के लिए भी कुछ हो। तभी रचना की पीडा सार्थक होती है।

लघु कथाओं का आदोलन खत्म नही किया जा सका और इसके गर्भ से जन-पत्रिका या जनवादी पत्रिका की एक नई धारा निकली। इसने न केवल वैज्ञानिक ढँग से वैचारिक चेतना के विकास पर बल दिया, बल्कि संगठित रूप से साहित्यिक कार्यों को आगे बढाने के महत्व को समझने की कोशिश की। इस संगठन मे एक विचारधारा के अनुशासन के स्थान पर कई तरह के विचार के लेखकों का संयुक्त मोर्चा रहता है। इसमें ऐसे रचनाकार भी होते है, जो किसी विचारधारा के नजदीक नही आए रहते या आलोचनात्मक रुख रखते है, पर जिनकी आस्था लोकतन्त्र एवं शोपित वर्ग के मुक्ति-संघर्ष मे रहती है। फिर भी ऐसी साहित्यिक पत्रिकाओं का उद्देश्य राजनैतिक दलों का फोरम बनना नही, बल्कि विविध विधाओं वाले साहित्य को बिना किसी पक्षपात या गुटबन्दी के प्रस्तुत करना है, जनता की आशा, आकांक्षा तथा संघर्षो को अभिव्यक्त करना है, जनवादी और वामपंथी चेतना का यथार्थवादी विकास करना है। आज देखा जाता है पत्रिकाओं मे कविता की भरमार होती है, परस्पर मिली जुली चर्चाओ की भी। जबकि कहानी नाटक, विचार, उपन्यास-अंश अथवा रचनात्मक गद्य की अन्य विधाओं का आभाव मिलता है। यह आधुनिक हिन्दी की गरीबी का द्योतक है।

जनवादी पत्रिकाओ मे 'आमुख', 'उत्तरार्द्ध', 'पहल', 'पश्यन्ती', 'क्यो', 'कथा', 'ओर', 'आवाम', 'मित्र', 'कंक', सर्वनाम', 'भंगिमा', 'बोध', 'बहस', 'युग परिबोध', 'आवाज', 'पुरुष', 'आईना', 'बीजपत्र', 'रक्तबीज', 'यथार्थ', 'दस्तावेज', 'कथन',

'आवेग', 'जमीन', 'सोच', 'प्रतिमान', 'सम्भावना', 'साहित्य निर्झर', 'दीर्घा', 'सम्प्रेषण', 'उत्तरगाथा', 'अभिव्यंजना', 'इबारत', 'तत्काल', 'प्रतिबद्ध कविता', 'समक्ष', 'हिरावल', 'इसलिए', 'इस बार' 'उत्तरदानी', 'नवाह', 'मंच', 'युवा', 'सिर्फ', 'हथियार' आदि पत्रिकाएँ विभिन्न स्तरों पर निकली। इससे लोकतान्त्रिक चेतना को बढ़ावा मिला। कुछ पत्रिकाओं में इस चेतना से भटकाव भी हुआ, लेकिन ये पुनः संभल गईं। लेकिन इधर जनपत्रिकाओं में पुन: एक उतार आ गया है तथा बहुत-सी पत्रिकाएँ बन्द होती जा रही है।

जनता की साहित्यिक पत्रिका या जनवादी पत्रिका के उपरोक्त आदर्श रूप पर आज कौन सी पत्रिकाएँ चल रही हैं और कौन-सी नहीं—इस पर हम अभी नहीं जाते हैं। इतना अवश्य कहेंगे कि लघु पत्रिकाओं की गुटबन्दी और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा हिन्दी की कई जनवादी पत्रिकाओं में भी प्रवेश कर गई है। जब राजनीति के स्तर पर जनवाद और वामपंथ की चेतना सुविधावाद, अवसरवाद, संकीर्णता तथा भटकाव की शिकार हो जाती है तो साहित्य मे भी इसके अत्यन्त वीभत्स रूप देखने को मिलते है। साहित्यिक पत्रिकाओं को कभी भी गन्दी संसदीय राजनीति के समीकरणों पर नहीं चलना चाहिए, बल्कि हमेशा संघर्षशील जनवर्ग के पक्ष मे खड़ा होना चाहिए। सच को सच, गलत को गलत कहना अच्छे साहित्य का प्रधान गुण है। लेकिन कई लोग यथार्थ स्थिति से कतरा कर चलने में अभ्यस्त हो जाते है। कई जनवादी पत्रिकाओं में दादागीरी और महंती चल रही है, छुआछूत बरता जा रहा है, व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द को बढ़ावा दिया जा रहा है, तो ये सभी इस बात के संकेत हैं कि हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाओं में अभी भी जनवादी आंदोलन अपने वास्तविक रूप मे उभर नहीं पाया है तथा इनमे साहित्येतर चीजों को अधिक महत्व देने के साथ लघु पत्रिकाओं के ही कई दोषों को राजनैतिक आवरण डालकर अपना लिया गया है। फलत: साहित्यिक रचनाकारों पर जिस तरह के अत्याचार व्यावसायिक पत्रिकाओं की ओर से होते है, वैसे ही कई जनवादी पत्रिकाओं के कठमुल्ले सम्पादकों की ओर से भी होते है। चूँकि ये संपादक भी छोटे व्यावसायिक घरानों के चाटुकार होते है, अत: पत्रिका निकालने के लिए पूंजी जुटाने के धूर्ततापूर्ण कौशल और साहित्यिक तीर्थयात्राओं के कारण ये जनवादी रचनाओं के न्यायाधीश बन जाते है। जो इनकी चमचागीरी करते हैं, उन्हें ये छापते है, अन्यथा बाकी को तरह-तरह के झूठे आरोप लगाकर खारिज कर देते है। किसी व्यावसायिक पत्रिका के सम्पादक से कम दम्भ इन छद्म जनवादी सम्पादकों मे नहीं होता। तथा ये कम भ्रष्ट नहीं होते। जिस प्रकार लघु पत्रिका के नाम पर कई सम्पादकों ने अपना छोटा-मोटा व्यवसाय भी चलाया और विज्ञापनों से आमदनी की, कुछ जनवादी पत्रिकाओं के नाम पर वैसे ही लघु उद्योग चल रहे है। इन पत्रिकाओं के कुछ सम्पादकों का लक्ष्य सरकारी और औद्योगिक क्षेत्र में विज्ञापन-दाताओं तथा जन-सम्पर्क अधिकारियों से सम्पर्क बनाना तथा नाम और धन कमाना रहता है। ये व्यवस्था के मूल्यों के पक्षधर होते हैं और क्रांतिकारी या साहित्य-प्रेमी बनने का भी ढोंग करते हैं। ऐसी पत्रि-

काओं को लघु या जनवादी पत्रिका नहीं कहा जा सकता।

जनवादी पत्रिकाओं के अलावा कई ऐसी साहित्यिक पत्रिकाएँ भी हैं, जो व्यावसायिक क्षेत्रों से निकलती है 'आलोचना', 'नई कहानियाँ', 'कहानी', 'नया प्रतीक' ऐसी ही पत्रिकाएँ थी। सरकारी क्षेत्रों से निकलने वाली साहित्यिक पत्रिकाओं में 'पूर्वग्रह', 'साक्षात्कार' वगैरह है। व्यापक अर्थों में इन पत्रिकाओं के योगदान को झुठलाया नही जा सकता लेकिन यह साहित्यकारो के जनवादी आन्दोलन की विफलता है कि अभी तक हमारी दस नियमित पत्रिकाएँ भी नही निकल पा रही। इससे अधिक लज्जाजनक बात और क्या है कि अभी हिन्दी मे एक भी मासिक साहित्यिक पत्रिका नही है। जहाँ लोकतांत्रिक पद्धित से बहस की जा सके, ऐसी बहुत कम पत्रिकाएँ हैं। कई पत्रिकाएँ तो कुछ इने-गिने रचनाकारो की रखैल बनकर रह जाती है। 'अणिमा' और 'कहानीकार' जैसी पत्रिकाओं के उदाहरण हैं, जो प्रारम्भ तो लघु पत्रिकाओं के रूप में हुई थी, लेकिन धीरे-धीरे व्यावसायिक पत्रिका बन गईं। अतः स्पष्ट कर लेना चाहिए कि लघु पत्रिका, जनवादी पत्रिका, व्यावसायिक पत्रिका, रखैल पत्रिका के बीच हम सीमा रेखा किस प्रकार और किस आधार पर खीचेंगे। सरकारी साहित्यिक पत्रिकाओं को किस रूप में लेंगे ? व्यावसायिक पुस्तक-प्रकाशनों से हमारा क्या सरोकार होगा ? ये बातें बहस से तय होंगी।

आज की हालत में साहित्यिक पत्रिकाओं का दायित्व बढ़ गया है। इन्हें व्यावसायिकता और कठमुल्लेपन-दोनों से संघर्ष करना है। रचनात्मक साहित्य को महत्व देना है। और जनवादी मूल्यों का सही विकास करना है। किसान फसल पैदा करता है, मजदूर परिश्रम करता है, उसी प्रकार रचनाकार लिखता है। जब वह लिखता है, तो उसे छपने के स्थल की जरूरत पड़ती है। वह कहाँ छपे ? कैसे अधिक पाठकों तक उसकी बात पहुँचे ? किस प्रकार उसके लेखन का उचित पारिश्रमिक मिले ? ये ऐसी समस्यायें है, जो हमारे देश मे अभी भी बहुत विकट रूप मे हैं। कई लोग यह उपदेश देंगे कि लेखक को अपनी रचनाओ के छपने की इतनी चिन्ता क्यों होनी चाहिए। और पारिश्रमिक का भी ऐसा आग्रह क्यों ? ऐसे लोग नही समझ सकते कि रचनाकार के मन में कितनी पीड़ा होती है कि उसकी रचनाएँ छपें। इस छपने की पीडापूर्ण इच्छा के आगे वह अपने पारिश्रमिक के अधिकार को भी दबा देता है। लघु पत्रिकाएँ या जनवादी साहित्यिक पत्रिकाएँ उसे पारिश्रमक नही दे सकती। लेकिन प्यार और सम्मान तो दे सकती है। कई देती भी हैं। इस तरह लेखकों का एक कितना सुन्दर परिवार बनता है, जिसके सदस्यों के अलग-अलग विचार, अनुभव, विधाएँ, स्तर हो सकते है, लेकिन ये लेखक कुछ न्यूनतम मुद्दों पर साथ जुड़े रहते हैं, साथी-भाव से संघर्ष करते हैं, एक दूसरे के जीवन के दुखो को बाँटते हैं। बहस करते हैं और जनता के स्वप्नों को पूरा करने के लिए आगे बढ जाते हैं। ये लघु पत्रिकाएँ ही सृजनशील लेखको के क्रांतिकारी घर होते है। इस दिशा मे अगर संयुक्त और असरदार प्रयास किए जाएँ, तो लेखक आखिरकार इधर-उधर भटककर मुँह क्यो मारे। साथ-साथ चलते हुए ही हम अपने को बदल सकते है। अतः किसी भी रचनाकार को हीन मत समझो। कल वह हमारा साथी बन सकता है !

रचनाधर्मिता और जन

रचनाधर्मिता का सवाल साहित्य अथवा किसी भी कला की पहचान और आलोचना के सन्दर्भ में अक्सर विवादास्पद रहा है। इसका कारण यह है कि युग के दायित्वों के साथ वैचारिक दृष्टि की तलाश भी इसके साथ जुड़ी हुई है। रचनाकार के दायित्व और दृष्टिकोण पर हमेशा बुनियादी मतभेद रहे है। रचना के लिए अनुभवों तथा चीजों को समझदारीपूर्ण तरीके से पकड़ने के मामले में विविधता रही है। रचना के गुणों की परख को लेकर काफी बहस भी होती रही है। फिर भी रचनाधर्मिता पर किसी खुलासा सोच का अभाव ऐसा प्रतीत कराता है कि हम उन प्रेरणाओं की समीक्षा करने से अक्सर कतराते रहे है, जिनसे किसी रचना का भीतरी संसार जन्म लेता है। प्रत्येक रचना के पीछे प्रेरणा के अनेक केन्द्र होते हैं। ये अक्सर जड़ हो जाते है। हमें इनकी तह मे—प्रेरणाओं की सामाजिकार्थिक तैयारियो मे जाना चाहिए। इनकी पहचान करनी चाहिए। अगर जरूरत पड़े, तो इन्हे बदलना चाहिए। कोई आवश्यक नहीं कि प्रेरणा हमेशा सही और जरूरी ही हो। गोकि प्रेरणा और रचनाधर्मिता के प्रति हमारे समाज मे बड़ा ही पवित्रवादी दृष्टिकोण है। लेकिन इन दोनों को जब तक सामाजिक अनुभवों से सीचा नही जाता, जनसंघर्षो से जोड़ा नही जाता, समय-संदर्भों के बीज नही डाले जाते—ये हमें समकालीन जिन्दगी और रचना की सही जमीन पर खड़ा नही कर सकेंगे।

साहित्य के सन्दर्भ मे रचनात्मकता और रचनाधर्मिता दोनों इतने कुहरीले शब्द बन गये हैं कि अनायास इनका कोई मतलब नही उभरता। विचार का एक निगेटिव ही मन में पैदा होकर रह जाता है कि रचनात्मकता से हीन अथवा रचना की धर्मिता से स्खलित भी कुछ चीजें होती हैं, जिनसे अमुक साहित्य अलग है। अब इस अलगाव को स्पष्ट करने के लिए रचनात्मकता और रचनाधर्मिता के नये आधारों की खोज की जानी चाहिए कि हम उन्हें किसी कविता, कहानी अथवा आलोचना में किन प्रामाणिक स्तरों पर पाते हैं। प्रत्येक युग मे साहित्य के नाम पर ऐसी ढेरों कविताएँ और कहानियाँ बनती आयी है, जिन्हे हम मोटे दिलासापरक ढंग से रचना तो मान लेते है, लेकिन यह भी समझते हैं कि इनमें प्रासंगिक रचनात्मकता और रचनाधर्मिता की समकालीन चुनौतियों का आंशिक स्वीकार भी नही है। बहुत से लोग जानते होंगे कि रामचरित मानस की नकल पर कई ऐसे महाकाव्य कथा स्तर पर अभी तक लिखे जा रहे हैं। प्रेम और वीरता को लेकर, व्यक्तिस्तुति और प्रकृति-चित्रण के आधार पर, अकेलेपन और

छद्म क्रान्तिकारिता के सवाल पर धर्मशास्त्र और पत्रकारिता के स्तर पर, राजनीति और अनुसंधान के क्षेत्र मे, मार्क्सवाद और गाधीवाद को लेकर, मामूली आदमी और समाज के सन्दर्भ मे—बहुत सी चीजें कला और साहित्य के नाम पर आई है। इन्हें उदारवादी ढंग से अथवा संलग्न संस्था की घोषणा से 'रचना' कह दिया जाय, लेकिन इनमे रचनाधर्मी चरित्र का गहरा अभाव मिल सकता है। इतिहास का हँसुआ ऐसी चीजों को काटकर भूमिसात कर देता है। अतः रचनाधर्मिता को लेकर किसी भी तरह के निरपेक्ष सोच का नतीजा समझ लेना चाहिए।

रचनाधर्मिता क्या है से भी जरूरी सवाल है कि यह क्यों है और किस रिश्ते से इसकी तलाश की जा सकती है। यह रचनाकार केन्द्रित है अथवा वस्तुकेन्द्रित? यह आत्मोन्मुख है अथवा इसकी व्यक्ति से अलग स्वतंत्र जिन्दगी होती है? यह साहित्य मे किस अनुभव-प्रक्रिया, प्रेरणा और तकनीक से मिलती है? कौन-सी शक्तियाँ रचनात्मकता लाती हैं और कहाँ से लाती है? आमतौर पर शब्दों और चीजों की दुनिया सभी आदमियो के लिए प्रायः समान है इनसे गुजरने की प्रक्रिया में ही नयापन, टकराहटें, विचार और रचना की इच्छाएँ मिलें, तो मिलें। सजाने-गुछाने के काम को भी रचना नही कहते। कहा जाता है कि लेखन के समय कुछ क्षण सर्जनात्मक होते हैं अथवा अमुक कृति में रचनात्मक्ता के गुण है और हमे सृजन की संभावनाओं का निरंतर विकास करना चाहिए—तो इन सब बातों का क्या मतलब होता है? यहाँ यह समझ बनाकर चलने की जरूरत है कि रचनात्मकता किसी नई चीज को लाने तक सीमित नही है। नयापन और मौलिकता ही रचनात्मकता नहीं है। बच्चे अथवा किशोर के जीवन मे नये-नये अनुभव आते है। वह नया विचार अपनाता है और बूढ़ा होने तक इसकी एक स्वाभाविक प्रक्रिया चलती रहती है। लेकिन ये रचनात्मक अनुभव या विचार नही होते, क्योंकि प्रत्येक बच्चा या वयोवृद्ध मनोजैविक तरह के कुछ खास भाषा मेल मे बँधा होता है। किसी की कोई नई बात बहुतों के लिए सामान्य अथवा पुरानी बात हो सकती है। किसी खास साँचे में ढले हुए विचार अथवा भावों-सवेदनों को शब्द बदल-बदल कर कहने अथवा भाषा के वाह्य संगठन मे उलटफेर करने से भी रचना नहीं बनती। नक्सलिस्ट क्रान्ति का मंत्रोच्चारण करनेवाले विचारानुवाद धर्मी रचनाकार जीवन के विभिन्न सन्दर्भों को उदाहरण की पोशाक में बदल कर लिखते हैं। रीति अथवा विचार के उदाहरण के रूप मे किये गये लेखन में रचनात्मकता रुँधी रहती है। मनोहारी प्रकृति के चितेरे कवि अथवा अपने ही मानसिक तनावों और आत्मगुफाओं में सैर सपाटा करते लेखकों के खूबसूरत शब्द भी लंगड़े होते है। यूँ तो बहुत सारा लिखा जाता है, पर रचना कहाँ बनती है। वह रचना, जो न केवल अपने समय को गहराई से अभिव्यक्त करती है, बल्कि जितनी गहराई से अपने समय की मनःस्थिति मे जुड़ती है, उतनी दूर तक सामाजिक-ऐतिहासिक परिवर्तन की धारा मे शामिल भी रहती है।

रचनाधर्मिता के मूल मे नई तैयारी का भाव रहता है। रचनावस्तु, रचनात्मक प्रक्रिया, रचनात्मक आदमी और रचनात्मक स्थिति—ये चारो सन्दर्भ उस बात की

अर्थवान होते है, जब पूरी संस्कृति और मनुष्य जाति के अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में इन्हें विकसित किया जाता है। अतः प्रत्येक युग की मन:स्थिति के हिसाब से रचनात्मकता के स्वरूप में बदलाव मिलता है। इसके सामने भिन्न सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक चुनौतियाँ और संकट रहते है। अगर कोई सचमुच रचना है, तो इस पर व्यवस्था का किसी न किसी रूप में हमला अवश्य होगा। अतः किसी रचना की मौलिक तैयारी इन चुनौतियों तथा संकटों की टोहबीन कर पहचानने और इनके सामने खड़ा होने की रहती है। अब इसमें कितनी निष्ठापूर्ण गहराई तक कोई लेखक जा पाता है और प्रखर व्यापकता ग्रहण करता है, यह दीगर बात है। इन चुनौतियों और संकटों का सीधा सरोकार क्रान्तिकारी संस्कृति की ताकतों और सांस्कृतिक द्वन्द्वात्मकता से है। जो साहित्य सिर्फ सास्कृतिक होकर रह जाता है और समाज व्यवस्था के स्वाभाविक संगठनों से ही अनुशासित होता है, वह अपने समय तथा आनेवाले कालों मे भी आदमी को केवल गुलाम और आज्ञाकारी बनाता है, जबकि रचनाधर्मिता आदमी की सम्पूर्ण आजादी की खोज और लडाई के लक्ष्य से ही बनती है।

रचनात्मकता कोई अमूर्त्त चीज नही, बल्कि द्वन्द्वात्मक संस्कृति की एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। रचनाधर्मिता इसीका अनुभव, विचार और आचार है। किसी भी साहित्यकार की रचनाधर्मिता यह होती है कि उसने अपने प्रासंगिक अनुभवो तथा विचारों के माध्यम से जिन्दगी के यथार्थों को, समय के अन्तर्संघर्षों को और कला की बदलती चुनौतियों को कितनी गहराई से अभिव्यक्त किया है। और वह आदमी की, किसी भी तरह के शोषण, परतंत्रता और अन्धास्थाओं से मुक्ति के लिए किस तरह की लड़ाई चला पाता है। रचना के लिए सिर्फ यही जरूरी नही है कि इसमें पिछड़े एवं शोषितों की कहानी हो, व्यवस्था के प्रति गुस्सा और लडाई हो, पूँजीवादी तानाशाही साजिशों की पहचान हो, साधारण वर्ग का जीवन हो, बल्कि यह भी जरूरी है कि रचना का फार्म नया हो, कला की चेतना भी नई हो, शिल्प का मिजाज भी प्रासंगिक प्रयोगों के माध्यम से बदले। सिर्फ चिल्लाना रचना नही है, इस चिल्लाने के पीछे गहरी निष्ठा, श्रम और एक जनोन्मुख तरीका होना चाहिए। ताकि यह चिल्लाना प्रदर्शनी नही, एक चेतावनी बने। रचनाधर्मिता किसी भी रूप में रचना की धार्मिकता नही है, लेकिन प्रत्येक युग के साहित्यकार के सामने यह सवाल बराबर जारी रहता है कि उसकी रचना का धर्म क्या है। जब रचना का समकालीन धर्म तलाशा जाता है तो लेखकों का एक वर्ग परंपरागत विधियों का पालन करने और भाषा में समय के चालू त्योहारों को मनाने में फँसा रहता है। यहाँ सवाल प्रकारान्तर से रचना के समग्र चरित्र का है।

आज का साहित्यकार अनुभवो की सामाजिक प्रासंगिकता, विकासशील विचारधारा तथा यथार्थ की जनवादी पकड़ के साथ अपनी रचनाधर्मिता अर्जित करता है। इसे भाषा और जीवन मे श्रम करके कमाता है। उसके सामने जो चुनौतियाँ और संकट रहते हैं, उनके परिप्रेक्ष्य में भाषा को जनोन्मुख तेवर देते हुए लगातार प्रतिरोध की भक्ति लेकर चलता है। आज की रचना का धर्म पूरी मानवता को मोक्ष की ओर नही,

संस्थानीकरण और कान्सेंट्रेशन कैम्प अथवा 'टार्चर कमरों' की ओर भी नहीं, बल्कि एक जुझारू प्रक्रिया के माध्यम से सम्पूर्ण आजादी और लोकमुक्ति की ओर ले जाना है। अत: रचना का मतलब ही होता है भाषा में यथार्थवादी प्रतिपक्ष बनाना। अगर कोई साहित्यकार ऐसा अनुभव नहीं करता तो यह समझ लेना चाहिए कि वह संस्कृति के एकाधिकारवादी-पूंजीवादी दराज में जरूर कहीं न कहीं बन्द है। ऐसा साहित्य शब्दों के सुन्दर मेला के बावजूद रचनात्मकता की दृष्टि से ऊपर होता है और लोगों के मन-प्राण से नहीं जुड पाता है।

रचनाधर्मिता एक भारतीय शब्द है। इसकी वजन का विदेशी भाषाओं, कम से कम अंग्रेजी में कोई शब्द नहीं। 'क्रिएटिवेटी' रचनाधर्मिता का एक हिस्सा है। रचनाधर्मिता में अनुभव, संवेदना तथा विचारपक्ष के साथ एक आचार पक्ष भी रहता है। पुराने समय के ऋषि और काव्यकार मध्ययुगीन संत अथवा भक्त कवि एक आचार का का भी पालन करते थे। तभी इनकी रचनायें जनता के भीतर तक गईं। आज हमारे लेखक का रचनात्मक आचार क्या है? जिन मूल्यों को वह रचना में लेकर चलता है, इनके लिए वह अपनी जिन्दगी और समाज मे कितना लड पाता है? अभी भी हिन्दुस्तान में, बल्कि इस पूरे उपमहाद्वीप में संकट का बडा रेला आया है, इसमें लेखक की अपनी कैसी भूमिका है? रचनाकार की रचनाधर्मिता जब तक अधूरी रहती है, तब तक रचना भी आधी रहती है।

दर्शन और विचार का रचनात्मकता से बहुत गहरा रिश्ता है। लेकिन कोई भी रचना किसी दर्शन का भावानुवाद बनकर अथवा उदाहरण के रूप मे सामने आकर समाज की जीवित मन:स्थितियों को अभिव्यक्त नहीं कर सकती। दर्शनों और समाजवाद के साथ अक्सर ऐसे ही सलूक किये गये हैं। गैर-रचनात्मक हाथों मे ये अक्सर तीर्थ बना दिये गये है। आध्यात्मिक दर्शनों की भूख आज भी जनता मे है, भले ही ये दर्शन अनुपयोगी है। जड़ हैं। फिर भी करोड़ों जनता पागल की तरह धर्म, दर्शन, पूजापाठ, तीर्थ के पीछे दौडती है। विकल्प की एक ऐसी व्यापक राष्ट्रीय क्रान्तिकारी चेतना का अभाव है जो लोगों के दुखों, कष्टों, तकलीफों के साथ सचमुच लडे, सहारा दे और इनके मनों में अपनी जगह बनाये। लेकिन ऐसी प्रक्रियायें जारी जरूर है। कोई भी विचार और दर्शन एक रचनाकार के हाथ में पडने पर वही नहीं रह जाता, जो राजनीतिक नेता, दर्शन के प्राध्यापक अथवा वकील के हाथ में आने पर बन जाता है।

रचनात्मकता किसी भी दर्शन और विचार को उसकी जड़ व्याकरणात्मकता से मुक्त करती है। एक सही रचनाकार अपने भीतर विचारक भी होता है और एक सही विचारक अपने आप में रचनाकार भी होता है, क्योंकि अन्तत: उसका लक्ष्य होता है अपनी भाषा और जनता के बीच रिश्तों को मजबूत करना—इसे एक प्रासंगिक अर्थ देना। कोई भी भाषा सिर्फ वाक्यों का कोष नहीं होती, यह किसी संस्कृति के विविध तरह के जीवन और सोच का कोष होती है। आज ऐसे कितने हैं, जिनमे आदमी के अनुभवों, संघर्षों की पहचान करते हुए जनता के दिलों में पहुँचने, इसकी धडकनों मे समाने तथा समाज की

हालत को बदलने की गहरी तड़प हो। विभिन्न विचार-दर्शनों को आज अक्सर भक्त, फैशनपरस्त और महत्त्वाकांक्षी या सुविधावादी बनकर स्वीकार किया जाता है।

विचार को अपनाना, इसमे रचनात्मक सलूक पैदा करना, आलोचनात्मक स्तर पर इस लगाव का निरीक्षण-पुनरीक्षण करते रहना और इन सब बातों के साथ रचनात्मक विचार तथा जनता से रिश्ता पैदा करने की कोशिश मे अपने गहरे, ऐतिहासिक और प्रगतिवान दायित्व का परिचय देना नये विचार का निर्माण करने से कम पीड़ाजनक नही है। सच पूछा जाय, तो कोई व्यक्ति कभी निरपेक्ष ढंग से कोई विचार बना नहीं सकता। किसी भी रचना में विचार का होना बहुत जरूरी है। कोई भी रचना ऐसी हो, कि जैसे यह एक विचार है, साथ ही कोई भी विचार ऐसा हो जैसे कि यह एक रचना है। रचना और विचार का रिश्ता पानी-तेल का नहीं होता। ये एक-दूसरे की अन्तरात्मा मे समाकर ही अपने अस्तित्व का विकास करते हैं। ये एक-दूसरे को रगड़ते है, मांजते हैं, लेखक के आत्मसंघर्षो को खोलते है। उसके अनुभवों को एक गहरी पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं, फिर कोई भी विधा हो—कहानी, उपन्यास, कविता, नाटक, आलोचना—इनमें अनुभूति की ज्यामितिक जटिलता नही मिलती, विचारों का जड़ व्याकरण टूटने लगता है और यथार्थ की धृतराष्ट्रवादी दृष्टि से अलग धारा खड़ी होती है।

यहां यह भी साफ कर देना जरूरी है कि विचार से क्या मतलब है ? किस तरह के विचार ? क्या गणितशास्त्र मे विचार की जरूरत पडती है। मनोविज्ञान, मानवशास्त्र और अर्थशास्त्र मे भी विचार रहते है। पर निरा विश्लेषण और विचार में फर्क होता है। हमारा अभिप्राय साधारण जीवन के विचार से है। विचार का सबसे बड़ा न्यायालय जनसंघर्ष है। सबसे बडा स्रोत भी यही है। व्यक्ति सोच सकता है, विचार पहचान सकता है, विश्लेषण कर सकता है, वह विचार बना नही सकता। दुनिया की प्रत्येक विचारधारा का जन्म सामाजिक संघर्ष, जातीय संकट और जनता की लडाई से हुआ है। इसका विकास भी इन्ही के बीच से होता है। समझने-सोचने वाला व्यक्ति प्रवक्ता भर होता है, वह पहचानता अथवा सोचता भर है कि यहां इस तरह का विचार है और ज्यादा से ज्यादा क्रमबद्ध करके प्रस्तुत भर कर देता है। समाज का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि उसके भीतर से उपजी प्रत्येक विचारधारा को व्यक्तियों के नाम से चला दिया गया। विचार तैयार करने का अधिकार सिर्फ जनता को है। अपने शोषण, अपनी गुलामी अपनी अंधास्थाओं से मुक्ति के लिए संघर्ष के माध्यम से यह विचार करती है, झेलती है, सोचती है, परिस्थितियों से मुकाबला करती है और मार्ग तय करती है। रचनाकार के बिना समाज का काम इसी बिन्दु पर नही चलता, कि समाज को ऐसे आदमियों की जरूरत पड़ती है, जो यह सब पहचाने अपनी ताकत से इनका विश्लेषण करे, जोखिम उठाकर सच को सच की तरह कह दे।

शोषित जनता मे सोच और कार्य को लेकर ऊपरी फर्क रहता है, अतः विचारों में टकराहटें भी रहती हैं। स्वार्थी तत्त्व इन टकराहटों को देखते है, गहराई मे इनके भीतर से बनते हुए मेल और एकता की पहचान नही करते, ताकि शिविरबद्ध लोगों का

अपना अलग खेमा बना रहे और अलग-अलग खेल चलते रहें। लेकिन जनता एक दिन कुछ निश्चित विचारों पर एक होगी और ज्यादा तेजी से लडेगी। किसी की दाल नही गलेगी। आदमी अगर विचार पहचानने का कार्य करता है, तो उसके विचार और जनता के विचार मे फर्क नही होता, वल्कि यह विचार को कुछ आगे ही बढ़ाता है। कोई व्यक्ति निजी विचार निर्मित करने का दंभ लेकर कुछ कहता है, तो वस्तुतः वह सही विचार पर धुंध ही फैलाता है। विचार-स्वातन्त्र्य का मतलब होता है—समस्याओं और चीजों को पहचानने की स्वतन्त्रता, रचनात्मक विश्लेषण की स्वतन्त्रता, जनता के साथ संघर्ष की स्वतन्त्रता और प्रतिवाद की स्वतन्त्रता। विचार का मतलब है जनता का विचार। जनवादी दर्शन। व्यक्तियो के नाम पर चलाये गये तमाम दर्शन सिर्फ जमीन और खाद हैं। इस जनवादी दर्शन मे एक जरूरी काम विभिन्न टकराहट पूर्ण सोच, पहचानों और जनसंघर्षो मे एक रिश्ता कायम करने तथा गहराई से इसका विकास करने का है। यह विकास तब से हो रहा है जब से जनता सोच रही है। एक रचनाकार जब इससे सरोकार बनाता है, तो वस्तुतः वह समाज मे एक गहरे सृजनात्मक सांस्कृतिक द्वन्द्व की पहचान और परख से गुजरता है। इस पूरी प्रक्रिया को आगे बढ़ाने मे योग देता है। विचार और रचना, जनता और आदमी, भाषा और अनुभव, शब्द और लड़ाई, प्रतिबद्धता और स्वतन्त्रता--ये ऐसी अद्वैत चीजें है कि साहित्य मे बिल्कुल साफ तरीके से इनके रिश्तों को खुलासा करना और भ्रान्तियों को दूर करना बहुत जरूरी है। विचार के रास्ते में भ्रमो और गुत्थियो का पड़ना बुरी बात नही है। बुरी बात है इन्हे पहचानने और सुलझाने से इन्कार करना।

अक्सर स्वतन्त्र लेखन की बात होती है। पागल से ज्यादा मुक्त और स्वतन्त्र कोई नही होता। वह निजी भी नही होता। वह अपनी चेतना, स्मृतियो और जीवन-सम्बन्धों से भी मुक्त होता है। क्या यह स्थिति श्लाघनीय है? वस्तुतः कोई निजी अनुभव सिर्फ निजी अनुभव नही होता, इसका एक व्यापक सामाजिक परिवेश होता है। इसी तरह आदमी का अपना विचार क्या होता है? जिस विचार पर वह अपना अधिकार कहता है, नाज रखता है और जिसकी पूर्ण सुरक्षा के लिए कभी-कभी वह जिदवश लड़ भी बैठता है, अगर आदमी शांतिपूर्वक विचार करे, तो खोजने पर पाएगा कि जिसे वह निजी अनुभव तथा विचार कहता है, ऐसे अनुभव तथा विचार सिर्फ उसके नही हैं, दूसरे बहुत से लोगो के हैं। हू ब हू वही शब्द नही भी हो सकते हैं। आदमी थोडी मेहनत करे, तो उसे ऐसा अनुभव तथा विचार करने वालों का एक अपना सम्मिलित चरित्र भी उभरता हुआ दिखाई पडेगा। और हमारे देश के लोगों मे चरित्र की पहचान करने में कठिनाई बिल्कुल नही होती है। आदमी जब तक खुद अपने द्वारा तैयार किये हुए ऐसे शब्दों मे नही सोचेगा, जिनका पहले कभी किसी ने व्यवहार नही किया हो, तब तक वह निजी स्तर पर न तो कुछ अनुभव कर सकता है और न विचार।

उसी प्रकार सिर्फ जनता अथवा समाज कहने से क्या उभरता है, अगर हम, आप, वे इसमें नही है? क्या कोई भी आदमी इसमें शामिल नही होकर, नही पल बढ़-

कर, इससे बिना किसी तरह का रिश्ता कायम किये जी सकता है ? समाज अथवा जनता को भुंड अथवा सामान मानना भी तानाशाही प्रवृत्ति है। जब हम किसी भाषा में बात करते हैं, तो सामाजिक होने और अपनी संस्कृति से रिश्ता बनाने का सबसे बड़ा सबूत पेश करते हैं। अब सवाल यह है कि भाषा में हम जीवन के किस स्तर से बात करते है। अतः हम व्यक्ति है, तो समाज के भीतर। हम स्वतन्त्र है, तो सामाजिक सच्चाइयों को कबूल करते हुए। रचनाधर्मिता की जनोन्मुख धारा के सम्बन्ध मे सोचते हुए जब हम साहित्य की स्वतन्त्रता का सवाल खड़ा करते है, तो यह ज्यादा से ज्यादा सोच और अनुभव करने के अधिकार की माँग है। अभिव्यक्ति, संघर्ष, और प्रतिवाद की स्वतन्त्रता की माँग है। कोई भी ताकत और व्यवस्था इन आजादियों का हरण नहीं कर सकती, क्योंकि ये सामाजिक दायित्व को मजबूत करने के लिए हैं। बिना इनके सृजनात्मक लेखन संभव नही।

किसी देश में हुई क्रान्ति अथवा उल्लेखनीय अत्याचार से पूरी दुनिया को सीख मिलती है। हमने दुनिया में हुई क्रान्तियों, परिवर्तन की चेष्टा, मार्क्सवादी विचारधारा तथा अपने देश के समाजवादी सोच से शिक्षा ली है। इसे फैलाना भी होगा। क्योंकि कोई भी विचारधारा अस्पताल तब बनती है, जब वह अपने देश की समस्याओं जटिल-ताओं, बीमारियों के बीच निरन्तर खोज और लड़ाई करके नीति, औजार और तरीका जुटाती है। बाहर के अनुभवों और सबकों को बेझिझक अपनाती है। दुनिया के हर आदमी का रक्त लाल है, पर इस रक्त के भीतर का संसार और संस्कृति एक नही है। देश और समाज के हिसाब से फर्क है। हम एक ही फीते से कपड़े और दूध दोनों को नही माप सकते। अतः किसी रचनात्मक विचारधारा का दिशाहीन स्वतन्त्रता और किसी व्याकरण की तरह हुक्म करने वाली जकड़न भरी प्रतिबद्धता से कोई मतलब नही है।

शब्द समाज के हर काल में रचना बनेंगे और प्रतिवाद करेंगे। शब्द एक अक्षय शरीर भी है और प्रत्येक शब्द रचना का हिस्सा बन जाने के साथ रचनाकार और समाज दोनों से कीमत वसूले बिना नही रहता। भोग और समर्थन का साहित्य कभी साहित्य नही होता, यह विज्ञापन होता है। लारियों बसों पर लिखे—'द नेशन इज आन मूव' की तरह।

समाज मे पूर्ण साम्य की स्थापना हो जाने पर भी प्रतिवाद का अधिकार सुर-क्षित रहना चाहिए। शासकों को इस कारण चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि जनता सिर्फ लड़ने और जीतने के समय ही महान नही रहती, जीतने के बाद भी महानता और समझ-दारी उसमे बनी रहती है। अगर किसी लेखक की रचना से निकल रहा प्रतिवाद जनता की भावनाओं को अभिव्यक्त नही करता है, तो यह प्रतिवाद मेहराये हुए पटाखे की तरह स्वतः फुसफुसा कर रह जायेगा। रचनाकार अपने आप में कोई साजिश करने मे अक्षम रहेगा, क्योंकि जनता बरा अन्धी है कि इतनी बड़ी क्रान्ति करने के बाद अपने खिलाफ साजिश करने वाले को पहचानती नही रहेगी और विशाल सरकारी प्रचारतंत्र के बाव-जूद ! अगर कभी जनता के मन मे असंतोष हुआ तो इसकी भावनाओं और उसके विद्रोह

को कौन अभिव्यक्त करेगा ? रचना का अधिकार मनुष्यता का मौलिक अधिकार है। कोई भी समाजवादी सरकार इसे चुनौती नहीं दे सकती।

साहित्य अगर बदलाव अथवा क्रान्ति में हिस्सेदार रहता है तो इसके मूल में इसकी सजग रचनाधर्मिता ही है। यह रचनाधर्मिता नई जीवनदशा की बुनियाद ही नहीं रखती, पूरे समाज में आलोड़न उपस्थित करते हुए ऐसे सिद्धान्त और विचार भी प्रस्तुत करती है, जो परम्परा की धारा को तोड़कर आदमी की जीवन दृष्टि में वैज्ञानिक रूप से उग्र परिवर्तन लाये। यह आनन्दवादी सौन्दर्यशास्त्र में उलझा कर नहीं रखती और न ही मन में दीमकों की फसल खड़ी होने देती है। रचना को पढ़कर झूमना और इसका अच्छा लगना अलग-अलग बातें हैं। रचना पाठक को इस कारण अच्छी लगती है कि यह पाठकों के भीतर सोयी हुई वैसी ही रचनावस्तु और भावनाओं को जगा देती है। किसी रचना को पढ़कर कोई पाठक इसलिए झूमता है कि इसके दीमकों और नशीले शब्दों का उसके मन पर असर पड़ गया रहता है। सही रचना के साथ एक बड़ी जरूरत पाठक तक पहुँचने के रास्तों की खोज करना और उसे अपने अनुभवों तथा विचारों में साझेदारी के लिए अपने निकट लाना है। रचनात्मक प्रक्रिया उसी वक्त प्रारम्भ हो जाती है, जब हम अपने सामने कोई समस्या देखते हैं और इसका अवसरवादी हल निकालने की आदत से मुक्त हो जाते हैं। अब यह भ्रम भी निकालना होगा कि रचनात्मक व्यक्ति आत्मोन्मुख होते हैं। रचनाधर्मिता का सवाल ऐसी ताकतों से जुड़ा हुआ है, जो संस्कृति के परिवर्तनकामी तथा प्रतिरोधी हिस्से हैं। जब सामाजिक वातावरण में दमन शोषण और आतंक रहता है, उनके सन्दर्भ में सम्पूर्ण रचनात्मक ताकतें, जो मूलतः प्रतिरोधी ताकतें भी होती हैं, इकट्ठा होकर संघर्ष के लिए समानान्तर ताकत पैदा करती हैं। अभी सवाल यही है कि रचनाधर्मिता की पहचान हिन्दुस्तान की जनता के सन्दर्भ में कैसे बनेगी और रचनाधर्मी शक्तियाँ तमाम अवरोधों को तोड़ते हुए किस प्रकार समूची संस्कृति और समाज की नसों में लहू की तरह दौड़ेंगी। यह कवि के आदमी होने के साथ हर आदमी के भीतर से कवि को जगा देने की बात है।

□

कैसा अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य ?

जिस समाज में विशाल जनवर्ग का जरा भी शोषण होता हो तथा नागरिकों के सामाजिकार्थिक अधिकार असुरक्षित हों, वहाँ लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता नही होती। यह मिले भी, तो उतनी ही मात्रा मे रहती है, जितना सम्मिलित रूप मे जनमुक्ति के प्रयासों का दवाव रहता है। अतः किसी 'देश मे अभिव्यक्ति की कितनी परतन्त्रता अथवा स्वाधीनता है, यह इस बात मे समझी जा सकती है कि वहाँ विशाल शोषित देशवासियों का संघर्ष किन स्तरों पर कितना असरकार हो रहा है। पिछले दिनों अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य का काफी हल्ला हुआ। इसका कारण यह था कि सैकडों वर्षों से भारत की राजनैतिक आजादी के बावजूद, अभिव्यक्ति की जो परतन्त्रता चली आ रही थी, उसकी शृंखलायें और कस गईं। आपातकाल मे इन शृंखलाओ के घेरे मे कुछ वे प्रकाशन संस्थाएँ और लेखक भी आ गये थे, जिन्हें पहले अभिव्यक्ति की स्वाधीनता महसूस होती थी, लेकिन आपातकाल के उन्नीस महीने उन्हें भी कष्टकर लगे। अब इन कष्टों तथा नये खतरों की आशंकाएँ जब पुन. प्रबल हो गई हैं, तो हमें साफ कर लेना चाहिए कि हम अभिव्यक्ति की कैसी स्वतन्त्रता चाहते हैं। और तब इस स्वतन्त्रता के लिए संग्राम के आधार तैयार करने चाहिए।

विगत तानाशाही शासन में साहित्यिक लेखन चुप तो नही रहा। दो-चार इने-गिने लोगों को छोड़कर एक भी हिन्दी लेखक यह वतलावे कि क्या आपातकाल मे उसने अपनी रचनाएँ छपानी बन्द की थी? अथवा आकाशवाणी और साहित्यिक आयोजनों में हिस्सा लेना बन्द किया था? जब वह लगातार छप रहा था, बोल रहा था, तो अभिव्यक्ति की स्वाधीनता कहाँ छीनी गई? अब कोई कहे कि वह मन की बात अर्थात् विरोध की बात नही लिख पा रहा था, तो आखिरकार वह लिख ही क्यों रहा था? मन के अलावा तब वह कहाँ की बात अभिव्यक्त कर रहा था? हिन्दी लेखकों के पास आमतौर पर ऐसा उदाहरण नहीं है कि उनकी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता छीनी गई। बल्कि कई लेखक तो उछल-उछल कर और मुखर अभिव्यक्ति कर रहे थे!

शासन की चाटुकारिता करनेवाले चारण अथवा दरबारी कवियों तथा सरकारी काम मे सम्मानार्थ हिस्सा लेनेवाले लेखकों-कलाकारों की इस देश में एक बिराट् परम्परा है। मुसलमान और हिन्दू राजाओं, सामन्तों तथा अंग्रेजो के यहाँ अभी हाल तक काफी तादाद में कलाकार पोषित होते रहे है। दिन भर रचना मे लगे कलाकारों का परिवार कैसे चलेगा? उन्हें और क्या काम आता है? पहले उनकी कला

जिन भावनाओं-मूल्यों का वहन करती थी, सामन्तों-धनकुबेरों के अतिरिक्त उस कला का पारखी और कौन हो सकता था ? आज भी लेखकों-कलाकारों के पास जीविका के क्या साधन हैं ? अतः इनका लोभी और महत्त्वाकांक्षी होना स्वाभाविक है। काफी लेखक छुपकर और कुछ प्रकट रूप में आज भी सरकार, पूंजीपतियों और प्रकाशन-संस्थानों का आश्रय लेते हैं। जो खुद बनिया या अफसर है, उसको कोई दिक्कत नही है। क्रान्ति की दिशा देनेवाले भी ज्यादातर इन्ही के बीच मे निकलते है। व्यावसायिक पत्रिकाओं का विरोध करनेवाला रचनाकार जब अपनी किताब छपाने का प्रयास करता है, तो व्यावसायिक प्रकाशन-संस्थान ही उसके प्रिय हो जाते हैं, क्योंकि वे ही समर्थ हैं। लघुपत्रिकाओं के लिए भी व्यवसायियों, मैनेजरों तथा साधन-सम्पन्न व्यक्तियों से मधुर सम्बन्ध बनाकर विज्ञापन-सहयोग लेना कब बुरा लगता है ? मध्यवर्गीय परिवारों से निकलने वाले हिन्दी के लेखकों से जीवन और लड़ाई मे जनवादी मुद्दों पर हमेशा अडिग रहने की मांग करना भी व्यर्थ है। निम्नवर्ग के मजदूर, किसान तथा सर्ववंचित जनता के बीच सत्ता की अहमियत अभी भी हम पैदा नहीं कर पाये हैं। अत इनके बीच से लेखक भी कम उभरते हैं। जो उभरते है, वे अपनी तमाम क्रान्तिकारी बातों के बावजूद अन्ततः मध्यवर्गीय सुविधाजीवी बन जाना चाहते हैं। उनके भीतर रचना के तत्त्वों के ठीक विकसित न होने का भी कारण यह है कि समाज मे वे कमियां है। इन अन्तर्विरोधों के बावजूद अभी तो यह देखना है कि लेखक किन मूल्यो और संघर्षो के लिए खडा होता है।

कलाकार जब जनता के बीच अपनी रचनाओं की पहचान खो देता है, तो स्वाभाविक है कि वह शिष्ट वर्ग से जुड़ने को बाध्य हो जायेगा। निर्णय की घड़ी मे वह विश्वासघात करेगा। उसमे मनोबल नही होगा। उसकी ज्यादा समझदारी उसे त्याग और नुकसान वाले कामो से रोकेगी। कला के स्तर पर आज भी संगीत, चित्र, नृत्य और नाटक का क्या हश्र है ? शिक्षा-योग्यता अर्जित कर लेने तथा एक ऊँचाई तक पहुँच जाने के बाद आज भी कवि-कलाकार पूंजीपति तथा शासको की भेंट चढ जाना अपना अधिकार समझते हैं। कविता और लेखो मे आग उगलने वाले विद्रोही रचनाकार शासक-शोषक वर्ग के पांव-पोछना बनते देखे गये है, जिसपर लिखा रहता है—'यूज मी'।

इसकी वजह मे और गहरे उतरना होगा। लेखक श्रम करता है, लेकिन न वह अपने को *श्रमिक मानता है और न एक श्रमिक का संघर्षशील चरित्र विकसित करता* है। कुछ लोगो के लिए यह एक पार्टटाइम शौक है। रचनाकार शिक्षण, व्यवसाय, बैंक क्लर्की, प्रकाशन व्यवस्था इत्यादि से पेशागत स्तर पर जुडा रहता है और रचनाएँ भी लिखता है। जाहिर है रचना के स्तर पर तो वह प्रतिरोधी स्वर रखना चाहता है, क्योंकि आज के साहित्यिक दौर मे बिना ऐसे स्वर के कोई पूछ नही, पर उसका मूल पेशागत संस्कार, बन्धन और मध्यवर्गीय चरित्र उसे सुविधामुखी बना देता है। कोई पार्टी, कोई लेखक सगठन सतत जागरूक होकर आज के रचनाकारो को सवेदनशील दृष्टियो से देखने, उन्हे प्यार और सही क्रान्तिकारी दिशा देने तथा अपने समस्त प्रयासो से उनके

भटकावों को रोकने के लिए सचेष्ट नही है। दूसरी ओर पूँजीवादी-फासीवादी शक्तियाँ इस दिशा में काफी सतर्क हैं। फलत: लेखक का सारा विरोध अन्ततः शासक-शोषक वर्ग अथवा अवसरवादी शक्तियों के हाथों ऊँचे दामों पर इस्तेमाल हो जाने मे खप जाता है। अत: आपातकाल मे अगर दस लेखकों ने भी चुप रहने की जगह पर थोड़ा या अधिक सक्रिय प्रतिरोध किया, अपनी सीमा में जरूरी मुद्दों पर जनमानस को सचेत करने का प्रयास किया, तो यह एक नई परम्परा है, जिसका विकास होना चाहिए। बाकी सब परम्परा के अनुसार ही था।

एक षड्यन्त्रपूर्ण बात का प्रचार यह किया गया कि डॉ० रघुवंश, हंसराज रहबर, सत्यव्रत सिन्हा, फणीश्वरनाथ रेणु, स्नेहलता रेड्डी तथा और भी कई लेखकों-कलाकारों पर तानाशाही सत्ता के जो जुल्म हुए, उनका कारण इनकी दलीय प्रतिबद्धता है। निःसन्देह ऐसा इनके राजनीतिक चरित्र की वजह से हुआ। लेकिन कौन इन्कार करेगा कि यह चरित्र उनके अपने लेखन, पत्रकारिता अथवा कलाप्रस्तुतियों से विकसित नही हुआ था? सम्भवत: उपरोक्त कोई भी कलाकार किसी भी राजनीतिक पार्टी का सक्रिय सदस्य नही था। जिन लेखकों मे पार्टी-सदस्यता जरूरत से कुछ ज्यादा भरी हुई थी, वे विभिन्न सैद्धान्तिक सुरक्षाकवचों मे या तो बिलों में घुसे हुए थे अथवा तानाशाही का धूपछाहीं मुकाबला कर रहे थे। सन्ध्या भाषा अथवा अनुवाद द्वारा। फिर भी जो जहाँ और जिस भाँति मुकाबला कर रहा था, वह नई परम्पराएँ भी बना रहा था, कि जिस प्रकार कोई भी शासन-व्यवस्था जनमुक्ति की प्रक्रिया खत्म नहीं कर सकती, उसी प्रकार अभिव्यक्ति की पाबन्दियाँ कठोर कर देने पर भी यह अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को शत-शत कण्ठो से प्रभावित होने से रोक नही सकती। यह व्यवस्था लेखकों से बलात् एक भी रचना नही लिखा सकती। एक भी ऐसे शब्द का उच्चारण नही करा सकती, जिस पर समय और स्थितियों की मार का चित्र अंकित न हो। कला-कौशल की परीक्षा की ऐसी घड़ी कभी-कभार ही आती है।

बहुत ध्यान देने की बात है कि उन दिनों अभिव्यक्ति की परतन्त्रता से जिन लोगों ने मुकाबला किया, वे प्रतिबद्ध लोग थे। भले ही आवश्यक रूप से किसी दल से न होकर, सामाजिकार्थिक बदल की राजनीति से प्रतिबद्ध हों अथवा जनता के दुखों-संघर्षों से सलग्न हों। पर वे रचनाकार मानवीय संवेदना और जनसंघर्ष को जोड़कर देखते थे, यह एक तथ्य है और इसे बराबर ध्यान में रखना होगा कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अथवा लेखक की निजी स्वतन्त्रता का पिछले ४० वर्षों से ढोल पीटने वाले कवि, गीतकार, आलोचक उस वक्त बिल्कुल मौन थे, जब इसी स्वतन्त्रता पर गम्भीरतम आघात हो रहा था। खासतौर पर प्रयोगवादी रचनाकार अथवा नई कविता, नई कहानी, अकविता इत्यादि के कर्णधार। अपनी बेटी से बहुत प्यार रखने की बात कहने वाला कोई बाप जब अपनी आँखो के सामने चुपचाप उस पर बलात्कार देखता है, तो सहज ही भेद खुल जाता है, कि उसका प्यार कितना ढकोसला है। लोग यह भी कहते हैं 'कि क्या आपातकाल-आपातकाल लगा रखा है!' आपातकाल मे लड़नेवाले सही

मकसदों के वे ही माने जायेंगे, जो आज भी लड़ रहे हों। लेकिन हमें मानना चाहिए कि आपातकाल हमारे साहित्य की अब तक की उपलब्धियों का एक बहुत निष्पक्ष आलोचक था। बिना कुछ लिखे इसने बहुत सारे दार्शनिक मुखौटे खोल दिए। चूँकि ज्यादातर लोगों का असली चेहरा इस आईने मे दिख गया, इसलिए वे इसको सामने करने से चिढ़ते हैं।

जाहिर है, हम यहाँ उन लेखकों की बात करना नही चाह रहे है, जिन्होंने राजनीतिज्ञो से भी ऊँचे स्तरो मे २० सूत्री कार्यक्रम, इन्दिराशाही, राजनैतिक गिरफ्तारियो, मिसा तथा प्रेस सेंसरशिप का समर्थन किया था। राजगृह, सतना, तथा पटना पता नही कितनी जगहो पर अपने को प्रगतिवादी अथवा समांतरी कहनेवाले चारणो की भरमार हो गई थी। पर यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यह अनजाने नही घटित हुआ। इसके पीछे कई वर्षों की साहित्यिक राजनीतिक प्रक्रिया और महत्त्वाकाक्षाएँ थी, जिनसे वे गुजरते आ रहे थे। आज इनमे से बहुत सारे लेखक भोलेपन से कह सकते है कि पहले आपातकालीन स्थिति एक आर्थिक कदम लगी, पर बाद में इसका राजनीतिक रहस्य मालूम हुआ। वे पुनः नई सुविधाएँ बटोरने मे व्यस्त हो गये। कुछ रचनाकारो को सच्चाई का पता लगा और उन्होने सही रास्ता पकड लिया। वस्तुतः एक निर्णायक घडी मे तानाशाही शक्तियों का समर्थन महज एक दुर्घटना नही थी, सत्ता से जोड़ और वैचारिक भटकाव की इसकी एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। अतः अपने लक्ष्य पर वे लेखक अचानक नही पहुँचे। वस्तुतः मार्क्सवाद, समाजवाद और प्रगतिवाद के नाम पर हिन्दुस्तान की पूंजीवादी-फासीवादी शक्तियो के प्रभावशाली हिस्से ने अपना वेश उसी प्रकार बदल दिया, जिस प्रकार नये कौशलों के साथ कुछ तानाशाही शक्तियो ने लोकतन्त्र और दूसरी आजादी का जामा पहन लिया था। लोकतन्त्र की बात करनेवालो के मन मे भी एक बौना तानाशाह छुपा रहता है। पिछले दिनों भी अभिव्यक्ति की स्वाधीनता नही थी तथा शासन-व्यवस्था का स्वाभाविक रूप से अत्यन्त भद्दा चेहरा बन रहा था, तो इससे आपतकाल के चाटुकारो को यह न समझ लेना चाहिए था कि पहले दुर्गा-स्तोत्र जैसी स्तुति करते हुए जिस प्रकार वे तानाशाही की वन्दना में सजे हुए थे, वह कोई सही भूमिका थी अथवा वह कोई मामूली अपराध था। फिर भी इस कारण उनका साहित्य गैर-महत्त्वपूर्ण नही हो जाता। पर इसका चरित्र कुछ सन्दिग्ध अवश्य होता है कि जिन रास्तो से कोई लेखक उपरोक्त परिणतियो तक पहुँचकर दरबारी उछल-कूद कर रहा था, तथा कई दूसरे लेखकों की बेबसी से फायदा उठा रहा था—उनके कुछ तत्व साहित्य मे भी मौजूद थे। वैसे इस बात से इन्कार नही करना चाहिए कि कुछ लेखकों ने अभिव्यक्ति की कठोर परतन्त्रता का समर्थन इसलिए किया कि जिनसे उन्हें व्यक्तिगत रूप से साहित्यिक लोहा लेना था, ऐसे कुछ लेखक शासन-विरोधी थे। ठीक इसके विपरीत कई लेखक आपातकाल की खिलाफत भी इसलिए करने लगे कि उनको मौका मिल गया अपने उन व्यक्तिगत शत्रुओ की बधिया उधेड़ने का, जो शासन-समर्थक थे। लेकिन बात मुद्दे से हट जाती है, जब व्यक्ति ही आक्रमण का लक्ष्य रहता है। बहस प्रवृत्तियों-

प्रेरणाओं-शक्तियों पर होनी चाहिए ।

ऐसी स्वतंत्रता, जो देश में गंदी फिल्मो, भद्दे नाटकों, अश्लील पुस्तकों-पत्रिकाओं *तथा साधारण प्रकाशन जगत् में सिर्फ व्यावसायिकता को प्रोत्साहन देती है*—स्वतंत्रता कतई नही है । आर्थिक रूप से परतंत्र देशवासियों पर ये मधुर अत्याचार हैं। यही अपसंस्कृति है । नागरिकों को अपने भावों-विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए । प्रतिरोध का हक होना चाहिए । लेकिन क्या यह है ? देश मे एक वर्ग के उन लेखकों को तमाम प्रकाशन और सुख सुविधाएँ मिलती है, जो व्यावसायिक पूंजीवादी प्रकाशन तंत्र में अपने को खपा देते हैं और कुछ को विवशतावश खपा देना पड़ता है । लेकिन वे बहुसंख्यक लेखक बुरी हालत मे जीते हैं अथवा अपनी अप्रकाशित रचनाओं के साथ बेचैन रहते हैं, जिनका बाजार-मूल्य नही है । क्या स्थापित लेखकों ने कभी सोचा है कि ऐसे साधनहीन अथवा विवश लेखकों को भी अभिव्यक्ति के अवसर मिलें और देश में नये-नये लेखक, नये-नये विचारक और नये-नये सोचने-समझने वाले लोग पैदा हों और बढ़ें ? हजारो विचारो की टकराहट जन्म ले । जनजागरण हो । चरम हिंसात्मक क्रांति में विश्वासी मार्क्सवादी लेखक भी राइटर्स कम्यून जैसे आदर्श को यथार्थ में परिणत न करके अपने-अपने परिवार और घर की साज-सज्जा मे अधिक ध्यान देते हैं ।

अभिव्यक्ति की परतंत्रता का एक और धरातल है—हमारी भाषा । इसकी सीमाएँ, रूढ़ियाँ, व्यामोह और इसके विशिष्ट ढाँचे की संपन्न-वर्ग-केन्द्रीयता । प्रतीकों बिम्बों, मिथकों, सपाटता की मौजूदा असमर्थताओं, भाषा और जनता का जब तक मेल नही होता तब तक भाषा पुराने दायरों से कैसे मुक्त होगी और अभिव्यक्ति भी सीमित क्यों नही हो जायगी ? यह व्यापक फर्क संघर्ष और रचनात्मक कार्यों से खत्म होगा । समाज-व्यवस्था के समग्र प्रतिरोध से मिटेगा । स्मरण रहे, वही प्रतिरोध टिकता है और व्यापक जड़ें फैलाता है, जिसके पीछे सचाई और पीड़ा हो । राजनैतिक दृष्टि से किसी स्वतंत्र अथवा अर्द्ध-स्वतंत्र देश मे प्रगतिशील अथवा राष्ट्रीय क्रान्तिकारी शक्तियाँ ही परिवर्तन लाती है । अपने को इन शक्तियों का वास्तविक प्रतिनिधि कहने वाला राजनैतिक नेतृत्व जब रूढ, स्थिरवादी तथा आत्मालोभी हो जाता है, तो जन-संघर्ष से घबड़ाकर तानाशाही ले आता है और अभिव्यक्ति तथा प्रतिरोध के बाकी सारे अधिकार छीन लेता है ।

गणतान्त्रिक प्रतिरोध का अधिकार अगर सुरक्षित रहे तथा जनता मे वास्तविक भरोसा हो, तो समाजवादी शासन मे नेतृत्व की रूढ़ियाँ तथा आत्मनिष्ठा आसानी से दूर की जा सकती है । क्रातिकारी सरकार अपनी जगह पर सही हो, तो सुविधावादी-अवसरवादी शक्तियो की ओर से कोई भी साजिश अथवा विरोध नही हो पायेगा, क्योंकि प्रशिक्षित तथा जागरूक बन रही जनता के आगे इनकी एक न चलेगी । जिस विरोध के पीछे सचाई और जन-पीड़ा न हो, वह टिक नही सकता । अत: आलोचना अथवा प्रतिवाद की स्वतंत्रता से किसी को घबड़ाना नहीं चाहिए । जनता ही सतत

यातियों का स्रोत है। एक क्रांतिकारी सरकार का कर्त्तव्य है कि वह उन मूल परिस्थितियों को ही खत्म कर दे, जिनसे सुविधावादी-अवसरवादी यातियां सिर उठाती हैं पर इस बहाने किसी समाजवादी देश में भी गणतांत्रिक प्रतिरोध का अधिकार और जनअभिव्यक्ति की स्वतंत्रता छीनी जानी नहीं चाहिए। पता नहीं कब आखिरी दौर की मुक्ति के लिए इन्हीं हथियारों की जरूरत पड़े !

विगत दिनों में किसके पास अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता रही ? सरकार-पोषी कलाकारों और व्यवसायपोषी अथवा दलबद्ध संपादकों के अलावा भारत में अभिव्यक्ति की स्वाधीनता किसी के पास नहीं रही और कभी नहीं रही। पर जहाँ अभिव्यक्ति की स्वाधीनता नहीं है, वहाँ भी साहित्य-लेखन होता है, क्योंकि मनुष्य की चेतना बन्धनहीन होना चाहती है। पर पूँजीवादी समाज और संस्कृति की रक्षक प्रशासन-व्यवस्था में ऐसी बन्धनहीन अभिव्यक्तियों का अवकाश कितना है ? अखबार-जगत् अपनी स्वतंत्रता की डींग हाँकते हैं। शासक और कुछ विपक्षी दल के नेताओं दोनों के वक्तव्य छापकर वे निष्पक्ष होने का दावा करते हैं ! लेकिन वे मन ही मन जानते हैं कि अखबारों और व्यावसायिक पत्रिकाओं को अपने मालिक पक्ष तथा सरकारी गैर-सरकारी विज्ञापनदाताओं-दोनों के हितों का पूरा ध्यान रखना है। किसी भी हालत में उन्हें आर्थिक बदल की लडाई में शामिल नहीं होना है तथा जन-आक्रोश का प्रतिबिम्ब नहीं बनना है।

अगर थोड़ा-बहुत साहित्य छोटी साहित्यिक पत्रिकाओं, वैचारिक पत्रिकाओं अथवा अन्य किसी माध्यम से मुखर रूप में आ पाता है, तो इसे नहीं मानना चाहिए कि हमारी अभिव्यक्ति स्वतंत्र है। उसी प्रकार जिस तरह किसी मजदूर को दो टैम रोटी-सब्जी मिल जाती है, तो हम नहीं मानते कि रोटी आजाद हो गई है। जिस प्रकार उसकी रोटी के हर टुकड़े के पीछे हर क्षण महाजन और काबुलीवाले अपने प्रशिक्षित कुत्तों के साथ लगे रहते है, हमारी हर रचना के पीछे इसे जनवादी स्तर पर संपूर्ण अभिव्यक्त और प्रकाशित न होने देने के लिए हजार-हजार मुश्किलें और साजिशें काम करती रहती है। बिना रोटी के संपूर्ण आजाद हुए, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता संभव नहीं है और बिना अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के रोटी की लँगड़ी आजादी किस काम की !

नेशनल हेरल्ड के संपादक चलपति राव ने अखबार से बहिष्कृत होने के बाद अपने मालिक का चरित्र नंगा करना शुरू किया था। वर्षों तक जब वे इस पत्र का संपादन करते रहे, तब पता नहीं कितने तथ्यों को कुचल कर उन्होंने मालिक की विश्वासपात्रता अर्जित की थी। और जब मालिक को किन्हीं कारणों से दूसरे किसी अधिक उपयोगी विश्वासपात्र की जरूरत पड गई, तो उन्हें प्रेस और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल नजर आने लगा। ऐसे कई मामले है। जब तक संपादकों-लेखकों को किसी व्यावसायिक तंत्र में जगह मिलती रहती है, तब तक उन्हे कोई शिकायत नहीं होती, पर जहाँ, उनका पत्ता कटा, वे लेखकीय स्वतंत्रता और क्रान्ति के सबसे बड़े पुजारी बन जाते है। तानाशाही तथा राजचरित्रों के यशोगान में जो रंगीन पत्रिकाएँ आपाद-

मस्तक डूबी रहती है, वे अपने मालिक के आदेश से ही चाटुकारिता करती हैं। आज की व्यवस्था में भी वे पुन: जमकर राजभक्ति दिखा रही हैं।

यह एक सहज बात है कि प्रेस की स्वतंत्रता उनके पास है जिनके पास प्रेस और प्रकाशन-संस्थान है। उनकी अपनी नीतियाँ है, जो उनके हितों के अनुसार है। संपादक इन्हीं नीतियों पर चलते हैं और वे खुद स्वतंत्र नही है, तो इनके मंचों से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नारे का पोल समझ लेना चाहिए कि इसका एक ही अर्थ है कि व्यवसाय को मद्देनजर रखते हुए मालिक वर्ग द्वारा बनायी गई नीति पर चलने की स्वतत्रता। पिछले कई वर्षो मे मालिक वर्ग की नीतियों में एक विकास हुआ है। वे यह समझ गये हैं कि एक सीमित और अहानिकारक विपक्ष की कुछ बातों-अभियोगों को जगह दिये बिना सिर्फ शासक वर्ग के समर्थन से उनकी व्यावसायिक सफलता संदिग्ध रहेगी। लेकिन इसे किसी दृष्टि और ऐसे रूप से जोड़ने की सख्त मनाही है, जिनसे सचमुच कोई क्रान्तिकारी परिस्थिति विकसित होने लगे। आत्मघात कौन चाहता है? अत. यह पूजीवादी व्यवस्था किसी वास्तविक क्रान्तिकारी परिवर्तन से अपनी रक्षा के लिए व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं को अपनी तलवारें तथा संपादकों को इसकी मूठ समझती है। मालिकों से कुछ अधिक अधिकार तथा स्वछंदता चाहने वाले संपादक खुद बीच-बीच में परकटे कबूतर की तरह फड़फड़ाते है, लेकिन दूसरे ही क्षण लेखकों के अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य को छीनने में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका भी निभाते हैं। लेखक भी, हिन्दी के लेखकों-पत्रकारों के बारे में ही हम ज्यादा जानते है, कि वे प्रचार-भूख के कारण रचनाओं के बीच से चीरहरण निर्लज्जतापूर्वक स्वीकार करते रहते हैं। तथा धीरे-धीरे प्रशिक्षित होकर समझ जाते है कि संपादक को कैसे माल की जरूरत है।

अभिव्यक्ति की दूसरे किस्म की परतंत्रता का स्रोत अपने को पार्टी-विशेषण से बँधी कहानेवाली साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ है। ये अपने को पार्टी-आरगन नही कहती। लेकिन रचनाओं के चुनाव मे इनके संपादक अपनी पसंद के एक खास रूपतंत्र को ध्यान मे रखते हैं। वे यह अधिक देखते है कि रचनाकार सी० पी० आई० का है या सी० पी० एम० का है या नक्सलवादी है और इनमें से भी किस-किस के गुट का है। रचनाओं की किस्म से अधिक आग्रह रहता है कि उनकी पत्रिका में छपनेवाले रचनाकार बार-बार उनके प्रति वफादारी प्रगट करते हैं या नहीं। या बार-बार अपने सहित कुछ खास लोगों को क्रान्तिकारी बतलाते रहते हैं या नही। तथा अन्य मार्क्सवादियों अथवा जनवादियों को गैरमार्क्सवादी घोषित करते रहते है या नहीं। जाहिर है ऐसी अधिकांश पत्रिकाओं के अपने-अपने गिने-चुने रचनाकार होते हैं। और ये अपने क्रान्तिकारी होने के आभिजात्य मे घिरे होते है। इनके अधिकांश संपादक और लेखक साधन-सपन्न होते हैं तथा शिक्षित नव-मध्यम वर्ग से आते है। कुछ सामन्त अथवा धनी किसान-वर्ग से भी। इनके यहाँ मूलत: रचना की नही, बल्कि उसकी पार्टी-संबद्धता और व्यक्तिवाद वफादारी की परख होती है। स्पष्ट है कि लेखक के मार्क्सवादी होने न होने का शोर जहाँ इतना प्रधान हो जाता है, वहाँ रचना के भीतर मार्क्सवादी चेतना का भी गायब हो

जाना अस्वाभाविक नहीं है। हम जानते हैं कि तीर्थमंदिर-कीर्तन-यज्ञ-मेला तथा विभिन्न पूजासमारोह जब तेजी से बढ़ने लगते है तथा घड़ी-घंटे बजाना ही महत्वपूर्ण हो उठता है, तो धर्म के सत्यानाश के ये बड़े जीते-जागते क्षण होते हैं। ऐसी पत्रिकाओं का अपना यह तर्क रहता है कि ये पूजीवादी समाज-व्यवस्था से संघर्ष करते प्रगतिशील लेखकों का मंच है। नि.सन्देह एक बड़ी सीमा तक वे नये, उग्रविचारो के अथवा प्रगतिशील लेखकों की रचनायें छापते भी हैं। हिन्दी साहित्य के किसी भी स्वरूप की कल्पना आज ऐसी ही अव्यवसायिक पत्रिकाओं के बीच से ही की जा सकती है। लेकिन ऐसी पत्रिकाओ में छपने के मामले मे बहुत मुंह देखा और सौतेला व्यवहार किया जाता है। दल-बदल की तरह पत्रिकाओं की आपसी राजनीति के तहत संपादक के प्रति वफादारी-बदल, निजी आग्रह और सुविधावाद को प्रश्रय मिलता है। यहाँ गड़बड़ियाँ सैद्धांतिक तेवर के साथ की जाती हैं। नतीजा है कि ये पत्रिकाएँ छपने-छापने और अधिकतर बाँटने तक जाकर खत्म हो जाती हैं। जनता से इनका किसी भी प्रकार का क्रान्तिकारी रिश्ता नही बनता और न ही पत्रिका मे बहस का गणतान्त्रिक माहौल रहता है। इससे विचार के विकास, एकता तथा व्यापकता को क्षति होती है। इन पत्रिकाओं-प्रकाशनो के बीच भी समर्थ और साधन-संपन्न नव-मध्यमवर्गीय लेखक ही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अनुभव कर सकते हैं तथा अपने को क्रान्ति का महारथी समझ सकते है। इस माहौल में भी लेखकीय अभिव्यक्ति की सीमित परतंत्रता बरकरार रहती है। लेकिन यहाँ साफ हो जाना चाहिए कि इन पत्रिकाओं में एक तरफ से अधिकांश भयानक श्रृंखलाएँ टूट गई रहती हैं। स्वाभाविक निजी महत्वाकाक्षाओं और द्वेष के कारण थोड़ी सी अनुदार श्रृंखलाएँ ही बरकरार रहती हैं, जो भविष्य मे जनसंग्राम की प्रक्रिया में स्वत: टूट जायेंगी।

कहना नही होगा कि बिल्कुल साधनहीन लेखक न पैसे जुटा पाता है, न पत्रिका निकाल पाता है। न वह पूजीवादी प्रकाशन-सस्थानो मे छप सकता है और न वह क्रान्ति के कुछ एकाधिकार-संपन्न महारथियों मे अपनी वफादारी प्रगट किये बिना छप पायेगा। अत: वह लिखना बंद कर देगा अथवा किसी सुलभ कौशल का सहारा लेगा। फिर कहाँ है अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता? अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल यहाँ सिर्फ प्रकाशन के स्तर पर भी उभरता है। कि क्या आज लेखक बिना किसी सरकारी, पूजीवादी अथवा विशिष्ट क्रान्तिरथियों के हस्तक्षेप के लेखन-कार्य मे उत्तर सकता है और जनता की भावनाओं, इसके संघर्षों को, मनुष्य की जीवन-संवेदनाओं को, इसकी बाधा-विपत्तियों को अपने यथार्थवादी अनुभवो-विचारों के आधार पर प्रगट कर सकता है? ये संपादक रचनाओं को परखने-चुनने के नाम पर लोकतान्त्रिक दृष्टिकोण की जगह तानाशाही रुख रखते हैं। उनके दिमाग में एक जड साँचा रहता है, जिसमें ढली रचनाएँ ही उनके हिसाब से जनवादी हो सकती है। एक जनवादी पत्रिका के मेहनती संपादक ने अचानक एक दिन कवियों को निर्देश देने का सिलसिला शुरू कर दिया कि वे अमुक-अमुक कविताओं से अमुक-अमुक शब्द अथवा पंक्ति निकाल दें, तब कविता छपेगी। वे कविता का फायदा बतलाने लगे। उनके यहाँ प्रकाशनार्थ गई कविताओं को बिना कवि से पूछे

अपनी मर्जी से दूसरी पत्रिकाओं में भेजने लगे। किसी-किसी कविता की पाँच-छह पंक्तियाँ कट गई थी। कवि ने आपत्ति की तो जवाब था—'क्रान्ति के दौरान ६ पंक्तियों का कोई महत्व नहीं होता। निश्चय ही यह सब अतिरिक्त उत्साह में तथा इस भ्रम में हुआ कि क्रान्ति वे ही ला रहे हैं। संपादक की पसंद सर्वोपरि क्यों होनी चाहिए ? महज इसलिए कि पत्रिका निकालने के साधन जुटाने में वे समर्थ हे ? कोई छोटी-मोटी पत्रिका निकालने में भी कम खर्च नही पड़ता। बहुत पापड बेलने पड़ते हैं। प्रेस में छपाई की बढ़ती दर क्या अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मे कम बाधक है ? यहाँ कहने का उद्देश्य यह नही है कि जनवादी पत्रिकाएँ जैसी-तैसी रचनाएँ छापें, लेकिन लेखन में ऐसा भी हस्तक्षेप क्या ? कोई भी संपादक निरंकुश क्यों हो सकता है ? कविता में संशोधन से अच्छी बात है कि आप एक अपनी अच्छी कविता छाप कर वह जवाब दें। अथवा विश्वास के साथ बहस-बातचीत का वातावरण बनायें। जनवादी पत्रिकाओं को लोकतांत्रिक बहस की प्रक्रिया को अपने यहाँ अवरुद्ध करना नासमझदारी और अनुदारता होगी।

नागार्जुन एक कवि से अधिक एक पथ के रूप में कैसे बदल गये ? किसी भी पार्टी के छद्म लेखकों ने उन्हें अपनाया तो नहीं, हाँ उनमें अवसरवादी ढुलमुलपन को विकसित करने में पूरा योगदान दिया। सी० पी० आई० से जुडे तो आलोचकों ने तारीफ करनी शुरू की। आलोचक नाराज हो गये जब नागार्जुन सी० पी० एम० के समर्थक हो गये। उस वक्त मार्क्सवादी आलोचकों ने तारीफ में ढेरों पेज रँगे ! जब आपातकाल में इस कवि ने एक ढुलकनी और भरी तो उनका भी मुँह सूख गया। तब सी० पी० आई० वाले गद्‌गद हो गये थे। नागार्जुन का साहित्य अपनी जगह पर कायम है, लेकिन उनके व्यक्तित्व तथा चरित्र की जो अभूतपूर्व मिट्टीपलीद हुई, उसके लिए जिम्मेदार कौन है ? भविष्य में नागार्जुन का पथ दुहराया नही जाय, लेखक पूँजीवादी साजिश अथवा रोमानी उत्साहवाली झूठी क्रान्तिकारिता का शिकार न हो, आपातकाल जैसी किसी आगामी राजनीतिक परिस्थिति मे चाटुकारिता अथवा मूकता की नौबत नही आये, और साहित्यकार को स्वाधीनता मिले—इसके लिए पुरानी शिक्षाएँ लेकर संगठित रूप से क्या किया जा रहा है ? अभी तो अभिव्यक्ति के शत-शत बंधनों को तोड़ना है !

□

लोकवाम की सही दिशा

समूची दुनिया मे बदलाव की प्रक्रिया आज बहुत तेज है। सामंतवाद, वर्ण-वैषम्य, पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद के खिलाफ लडाई मे कई देशों की जनता काफी आगे बढ़ती जा रही है। पर क्या कारण है कि हमारे यहाँ लोकशाही और वामपन्थ की चेतना का विकास करोड़ों मनुष्यो मे अभी तक नही हो पाया? यहाँ दरिद्रता और बंधन कही से कम नही है। फिर भी हमारे देश मे सामाजिकार्थिक क्रांति के लिए चलनेवाला संघर्ष क्यों बार-बार भटकाव, बिखराव अथवा जड़ता का शिकार हो जाता है? इतिहास में हम बहुत पददलित हुए है, धार्मिक संस्कार पीछा नही छोडते, नेताओं ने बार-बार विश्वासघात किया है—इस तरह के कारण बहुत दिखाये जाते हैं। दूसरे देश के लोगों की अपेक्षा भारत मे रहने वाला मनुष्य निःसंदेह अधिक गहरा है लेकिन अपने को राजनीति का वामपण्डित समझने वालो ने भारत के समाज और मनुष्य का कितना अध्ययन किया?

आज साहित्य की स्थिति है कि पुराने लोग छायावाद के बाद का लेखन नही पढना चाहते और नये लोग मुक्तिबोध से पूर्व का साहित्य पढना गैर जरूरी समझते है। प्रेमचंद और निराला को स्वीकार करने के बावजूद इनके समग्र साहित्य को पढ़ना व्यर्थ मानते है। हिन्दी के ज्यादातर साहित्यकार आपसी चुहल व्यक्तिगत प्रदर्शन अथवा बतोलावाजी मे क्रांतिकारी है। जिन्दगी भर वे 'स्टैण्ड' ठीक करते रह जाते हैं, पर विविध विधाओं वाला साहित्य अक्सर नदारद रहता है। यहाँ नामो पर आलोचना न करके प्रवृत्तियों पर बात करनी है। क्रान्तिकारी पंक्ति तैयार करते-करते भी लेखक अक्सर अकेला देखा जाता है अथवा अंततः गृहसज्जा मे काफी व्यस्त हो जाता है। इसकी कविता बोतल की नली से निकलती है। जबकि नव-व्यावसायिक पत्रिकाओं का पिछले वर्षों काफी उभार आया, क्या कारण है कि हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाएँ या तो एक-एककर बन्द होती गई या अपेक्षाकृत अधिक अनियमित हो गई? अगर लेखक पैसे वाला, विज्ञापनदाताओ से मधुर सम्बन्ध रखनेवाला अथवा खुद प्रकाशन करने में समर्थ नही हो, तो वह कहाँ छपे? क्या विगत तीस-चालीस वर्षो के प्रगतिशील जन संघर्षों से समाज मे ऐसी स्थिति भी पैदा नही हो सकी कि जनवादी शक्तियों का अपना एक नियमित प्रकाशन मंच बने? जिसे व्यापक सहयोग मिले, जिसका एक विशाल पाठक वर्ग हो तथा जिसका एक बड़ा लेखक-समुदाय हो? आज भी छोटे-छोटे प्रयास हर स्थान पर हो रहे हैं, लेकिन ये जब तक किसी परिवर्तनकारी प्रक्रिया मे व्यापक आधारों पर

इकट्ठा होकर एक साथ नही उमड़ते, क्या जनता के मन में लेखकों पर भरोसा होगा ? वामपन्थी शक्तियों के बिखराव अथवा जड़ता का पूरा-पूरा फायदा आज का नव-व्यावसायिक माहौल उठा रहा है।

क्रान्ति की पुरानी स्मृतियों अथवा इसके कुछ त्यौहारों का पालन कर लेने भर से समाज और साहित्य में क्रन्तिकारी प्रक्रिया विकसित नही हो सकती। हमे ठोस जन-जीवन के बीच और अधिक प्रवेश करना होगा और भीतर से फूटना पड़ेगा। बिना वस्तुगत आधार के जातीय परम्पराओं तथा दुनिया भर की क्रान्तिकारी स्मृतियों की समीक्षा हम नहीं कर सकते। आज एक बड़ा सवाल है कि क्रान्तिकारी शक्तियाँ रचनात्मक कैसे बनें तथा अपनी निरन्तरता किस प्रकार कायम रखें। साहित्यकारों से तो जैसे गलती होती ही नही। इसी आत्माभिमान के कारण वामपन्थी साहित्य की परम्परा का सही मूल्यांकन नही हो पाता तथा गलतियां स्वीकार कर आगे सही दिशा की ओर बढने से लोग कतराते है। प्रयोगवादियों के अहं की बात सुनी है, लेकिन जनवादियों में जो नया अहं बढ रहा है तथा स्व-प्रचार महत्व पा रहा है, इसकी क्या वजह है। जन-वादियों की आत्मनिष्ठता ही बिखराव पैदा करती है। कभी-कभी तो तात्कालिक व्यवस्था के अनुसार रणनीति तैयार कर वामपन्थी राजनीति अपने आत्मभ्रमों के कारण पूँजीवादी षड्यन्त्रों की बुरी तरह शिकार हो जाती है। सामाजिक विकास की ऐतिहासिक जड़ों को वस्तुवादी धरातल पर पहचानने का माद्दा और जन-आन्दोलन प्रक्रिया में क्रान्तिकारी निर्णय लेने का कौशल विकसित नहीं हो पाता। स्मरण रहे, किसी जाति, देश, राष्ट्र के संदर्भ मे किस वक्त कौन से निर्णय क्रान्तिकारी होते हैं तथा कौन से निर्णय प्रतिक्रान्तिकारी—इस बात का वास्तविक फैसला यह देखकर किया जाता है कि यह निर्णय किस सीमा तक प्रासंगिक है तथा इसकी सफलता के लिए हमने समाज के राजनैतिक विकास के क्रम में किसी जाति को किस हद तक तैयार किया है। ऐसा नही हो सकता कि किसी एक समाजवादी देश की क्रान्तिकारी रणनीति को दूसरे देशों पर हूबहू थोप देने भर से जनमुक्ति हो जायेगी। सामाजिक-राजनैतिक तैयारियों के अभाव मे वही रणनीति वामपन्थी क्रान्तिविरोध, जल्दबाजी, भटकाव अथवा जड़ता की भूमिका भी अदा कर सकती है।

आज का क्रांतिकारी हिन्दी साहित्य पढ़कर ऐसा लगता है, कि इसमें क्रांति की लहरें तेजी से उठ रही हैं। ऐसी कविताओं को जनक्षेत्रों में लेकर जायें, तो ये परदेसी साबित होंगी। वस्तुतः माओ-त्से-तुंग, हो-ची मिन्ह, पाब्लो नेरूदा के देश की जैसी स्थितियाँ यहाँ पैदा किये बिना ही कुछ लोग साहित्य को क्रांति की सर्वोत्तम ऊँचाइयों तक पहुंचा देना चाहते हैं। हमारे सामन्ती समाज में गणतांत्रिक प्रतिरोध की भावना अभी बहुत पिछड़ी हुई है। लेकिन साहित्य मे ऐसे समाज के यथार्थ अधिक उभारे जा रहे हैं, जहाँ मालूम पड़ता है कि क्रांति मे अब तनिक भी देर नहीं है। यह हमारे देश के गरीब देशवासियों के साथ प्राध्यापक, वकील, दूकानदार, भूमिपति, दफ्तर-बाबुओं के वर्ग से निकल रहे हिन्दी लेखकों का कितना बड़ा छल है—इसका कोई भी आदमी महज अंदाजा

लगा सकता है। कई रचनाएँ इन्द्रीयातीत होने की जगह देशातीत होना चाहती हैं और अपना एक अन्तर्राष्ट्रीय खेमा पकड़ने में अधिक व्यस्त हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रभावों से कोई बच नहीं सकता, लेकिन अपनी मिट्टी की विविध समस्याओं के ठोस सन्दर्भो से जुड़े बिना उधर ही अधिक व्यस्त रहना प्रकृति मे पलायन से किस अर्थ में कम हानिकारक हैं ? जनाधार की व्यापकता से विच्छिन्न क्रांति के कागजी बगीचे अब जला देने चाहिएँ, ताकि सामन्तवादी-पूँजीवादी शक्तियों के खिलाफ साहित्य में 'शोषित जनता के नाम' की कोई यथार्थवादी धारा विकसित हो सके। अपनी रचना कहकर पाब्लो नेरूदा, ब्रेख्त, नाजिम हिकमत जैसे कवियों के भावानुवाद तथा अपनी रणनीति कहकर विभिन्न क्रांतियों की स्मृतियां साहित्य पर अधिक छा रही हैं। समकालीन राजनीति और साहित्य इनमे कैद होकर नही जी सकते। बेहतर है हम उनके पूरे अनुवाद तथा उनके पूरे सबक से प्रेरणा ग्रहण करें, पर आगे मार्च कर जाएँ। रुकें नही।

जनता को आगामी संघर्ष में अधिक सोच्चार करने के लिए उन परिवर्तनकारी शक्तियों की एकजुटता आवश्यक है, जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण, राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य तथा द्वन्द्वात्मक और वस्तुवादी चिन्तन के धरातल मे सोचते हों। जो जनता के हकों के लिए तमाम संघर्षो को जरा भी बल प्रदान करना चाहते हों और नये जनवादी समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हों। ऐसे छोटे-छोटे संगठनों तथा बड़े-बड़े व्यक्तियो की कमी नही है, जो अपने राजनैतिक दफ्तर का या साहित्य का खाता खोलकर लघु उद्योग चला रहे है। अपनी शैली के वामपंथ के नाम पर ये घर के मोफासेट पर बैठे इंतजार कर रहे हैं कि हिन्दुस्तान की जनता टहलते-टहलते इनके दरवे तक आयेगी और इनके नेतृत्व में लपककर दिल्ली के लाल किले पर लाल झंडा गाड़ देगी।

इनसे अलग लोकतांत्रिक और वामपंथी शक्तियों की जुझारू एकता की कोशिशें भी हो रही है। पूँजीवादी षड़यन्त्रो के साथ-साथ इनके सामने दो अन्दरूनी खतरे है —

एक—यह एकता लोकतांत्रिक और वामपंथी शक्तियो के क्रांतिविहीन मोर्चे के चरित्र में न बदल जाय। और

दो—आर्थिक आन्दोलन के विकासशील कार्यक्रम धीमे अथवा जड़ नही हो जायं, अन्यथा एक ओर साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियाशील शक्तियाँ मजबूत होंगी तथा दूसरी ओर उग्रपंथी भटकाव के मनोवैज्ञानिक मामले उत्पन्न होंगे।

उपरोक्त खतरों से बचा जा सकता है, अगर आर्थिक क्रांति चाहनेवाली राजनैतिक शक्तियाँ अपना जनाधार प्रखरता के साथ व्यापक बनाएँ। जन-आन्दोलनों को बिना किसी छुआछूत के आगे बढ़ाएँ। कठमुल्लेपन के जाल से बचें। सही मायने में जो लोकतांत्रिक शक्तियाँ हैं, वे अपनी प्रगतिशील राष्ट्रीयता विकसित करते हुए पूँजीवादी आश्रयों को त्याग देती हैं। और सामाजिकार्थिक क्रांति के रास्ते पर व्यक्तिगत अहं छोड़ कर आगे बढती है। सत्ता के प्रलोभनो से वामपंथी और जनतांत्रिक शक्तियों को बचना होगा, क्योंकि सत्ता की सुविधाओं से क्रांतिकारिता का क्षय होता है।

यह मान लेने की जरूरत है कि भारत मे कोई भी एक संगठन अथवा एक तरह के लोग परिवर्तन नही ला सकते। यह एक बड़ा देश है, इस अर्थ में कि इसका सामाजिक-सांस्कृतिक फलक बहुत चौड़ा है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूंजीवाद ने अपना जो गतिशील चेहरा बनाया है, उसका एक विराट 'डिफेंस मेकनिज्म' हमारे देश में भी काम कर रहा है। दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय वामपंथी शक्तियों में फूट हमारे देश में उतने वर्षों के परिश्रम से संगठित जनसंघर्षों को विभाजित करने का काम करने लगी है। इस हालत में न्यूनतम मुद्दों पर तमाम तरह की परिवर्तनकारी शक्तियो मे आलोचनात्मक एकता स्थापित करके जनसंघर्ष को आगे बढाने के अलावा कोई विकल्प नही है। जनवादी बहस लड़ाई को मांजती है, इसीलिए राजनीति और साहित्य मे लोकवाद की यह दिशा सदैव आलोचनात्मक होती है। समाजवादी यथार्थ का क्रांतिकारी स्मृतियों के आधार पर बाहर मे चित्रण किया जा सकता है। लेकिन इसमें भारतीय जन-जीवन दूर फेंका हुआ मिलेगा। अगर हमारा लक्ष्य भारत की संघर्षशील जनता का साहित्य देना है, तो गणतांत्रिक आंदोलनों के माध्यम से सामाजिकार्थिक क्रांति की ओर बढ़ते जनसमाज का साहित्य लिखना हमारा प्रधान लक्ष्य होना चाहिए। किसी काल्पनिक जनता तथा समाजवादी स्मृतियों के आधार पर लिखा गया साहित्य बुद्धिजीवियों के मानसिक विलास से भिन्न कुछ नही है।

साहित्य के क्षेत्र मे कालेज, विश्वविद्यालय, बैंक, इंश्योरेंस कंपनियों, प्रकाशन-संस्थान, सरकारी दफ्तरों से सफेदपोश लेखक अधिक निकलते है। अत: उन्हें इस बात की ज्यादा फिक्र रहती है कि अपने को कुशलतापूर्वक अधिक से अधिक क्रातिकारी प्रदर्शित कर दें। उनकी भाषा मे मध्यवर्गीय संस्कारो की प्रचुरता रहती है। सीधे जनसंघर्ष से नही जुड़ा रहने पर ऐसा भी होता है कि उनके 'छद्म' की क्रांतिकारी घुड़दौड़ यथार्थवादी वर्गसंघर्ष के अनुभवों से मुंह मोड़कर हवा में चलती है। ये व्यक्तिगत रूप से प्राय: विभक्त, आयाराम-गयाराम, सुविधाजीवी और अहंकेन्द्रित होते हैं। यह एक दुखद स्थिति है। पर आज ऐसे लेखक भी हैं, जो अपने को आचरण के स्तर पर ईमानदारी से वर्गच्युत कर रहे हैं। जनवादी साहित्य के लिए बहुत आवश्यक है कि यह धरती की ठोस जन-सच्चाइयों को अभिव्यक्त करे। सिर्फ दर्शन जानना पर्याप्त नहीं है, इसका व्यवहार जनसंघर्षों के बीच से किस रूप में हो रहा है और इस क्रम में विचार और अनुभवों का ऐतिहासिक विकास किस राष्ट्रीय स्तर पर हुआ है—इसका विश्लेषण भी जरूरी है। लेकिन हिन्दी साहित्य में निम्न वर्ग के मजदूर, किसान और दलितों के बीच से कितने लेखक सामने आये? जिसका परिवर्तन होना है, उस संघर्षशील जनवर्ग का अपना साहित्य इसीलिए नहीं आ रहा है कि अभी भी साहित्य का एक सामंती घटाटोपी माहौल राजधानी-मन:स्थिति के लेखकों ने बना रखा है।

वामपंथी राजनीति मध्यवर्ग की राजनीति के रूप मे विकसित न हो, इसके लिए सर्वहारा-नेतृत्व को राजनीति और साहित्य—दोनों मे उभरना होगा। पर यह कैसे होगा? अभी तक कितना हो पाया? नेता और साहित्यकार जब सफेदपोश रहते हैं

तो सर्वहारा—दलितों का संघर्ष कमजोर पड़ता है। जनवाद भी दबा रहता है। हमारे यहाँ मजदूरों में राजनीतिक चेतना जितनी बढ़ी है, उसे सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। मजदूर आन्दोलनों ने एक व्यापक वर्ग को संगठित करने में बहुत असरदार भूमिका निभाई है। लेकिन दार्शनिक उद्धरणों में नहीं, कारखानों में जहाँ लम्बे काल से मजदूर-संगठन सक्रिय हैं—वहाँ की वास्तविक स्थितियों का अगर हम अध्ययन करना चाहेंगे, तो हमें मिलेगा कि तमाम मजदूर संगठनों को इसके नेतृत्व द्वारा भोलापन करने वाला तथा समझौता-परस्त बना दिया गया है। इन्होंने मजदूरों में कुछ सुविधाएँ प्राप्त कर लेने की होड़ भर दी है, बदलाव की संघर्षशक्ति नहीं। एक साफ तथ्य का हमें पता है कि उतने मजदूर आंदोलनों के बावजूद मालिकवर्ग की मुनाफाखोरी विगत दस सालों में चौगुनी से कम नहीं बढ़ी है। ऐसा भी नहीं है कि मजदूर-संगठन मिलकर विभिन्न मिलों, कारखानों, दफ्तरों में लगे एक साथ तमाम मजदूरों के लिए एक समान मांगपत्र तैयार करें और एक व्यापक आंदोलन हो। एक ही मजदूर संगठन के तहत समान काम के बावजूद एक क्षेत्र के मजदूर से दूसरे क्षेत्र के मजदूर की आर्थिक हालत में इतना फर्क क्यों है? इसका मतलब यह है कि पूँजीवाद के बुनियादी ढांचे पर आघात करने के स्थान पर उसके मौजूदा शोषण-यंत्र में पिसते हुए कुछ रुपये बढ़ा लेना ही इनका लक्ष्य बन गया है। इससे मजदूरों का मन भटक जाता है और वामपंथी आंदोलनों को प्रखर जनाधार पैदा करने में कठिनाई होती है।

श्रमिक वर्ग के आन्दोलन को नव-मध्यवर्गीय चरित्र से जोड़ने के प्रयासों को रोकना होगा, क्योंकि इससे नौकरशाही के चरित्र को भी प्रोत्साहन मिलता है और जनता की मूलभूत समस्यायें पीछे छूट जाती हैं। लोकतांत्रिक और वामपंथी एकजुटता के लिए मजदूर आंदोलन के चरित्र में बुनियादी परिवर्तन और कृषक क्रांति के आधारों के विकास पर जोर देना होगा। लोकवाम की राजनीति कृषक क्षेत्रों में अपना क्रांति-कारी आधार कैसे प्राप्त करे? इस हेतु उद्योगों के बढ़ने की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। शहरी-औद्योगिक क्षेत्रों को ही संवेदित कर पा सकने वाले संघर्षों को अब सीधे व्यापक जनवादी आधार से जुड़ना है। क्योंकि वेतनवृद्धि और अन्य सुविधाओं के लिए संघर्ष का महत्व है, लेकिन अगर यह व्यापक होकर बुनियादी परिवर्तन के लिए जन-मांगों से नहीं जुड़ता, तो इसका चरित्र मध्यवर्गीय सुविधावाद से जकड़ जाता है।

इस दिशा में कुछ आवश्यक संकेत नक्सलवादी किसान संघर्ष ने किये थे। उन्होंने सशस्त्र संघर्ष का रास्ता पकड़ा तथा १९८० में क्रांति मुकम्मिल करने की घोषणा की। यह एक राजनीतिक घोषणा थी तथा इसमें किसी किस्म की दुर्भावना नहीं खोजनी चाहिए। इनके आगे बढ़ने के दो आधार थे (१) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन का आदर्श (२) भारत में सामंतवादी शोषण का चरम रूप। वामपंथी राजनीति के भीतर जब शहर, सरकार और उद्योग महत्वपूर्ण हो गये, तो ६७ में कृषक-विमुखता से विक्षुब्ध होकर एक उग्रपंथी धारा ने कुछ जिलों में सशस्त्र विप्लव प्रारम्भ किया। इसने कुछ चुनौतियाँ दीं। लेकिन गाँवों में महाजनों-जोतदारों का खेत-मजूरों-बटाईदारों से व्यापक

वर्ग-सुलह इतने मीठे शोषण के स्तर पर कायम है कि नक्सलवादी प्रति-संत्रास ने अधिकतर स्थानों पर यह सुलह गहरा किया। ऐसा भय से हुआ। वर्गसंघर्ष के यथार्थवादी विकास के बिना जिन गाँवों में हिंसा का पथ ग्रहण किया गया वहाँ क्रांतिकारियों को पूंजीवादी शक्तियों द्वारा बुरी तरह कुचल दिया गया। आज भी, अस्वीकार नहीं करना चाहिए, कि बहुत से गाँवों में नक्सलवादी चिनगारियाँ कायम हैं। अगर जनता के बीच स्पष्ट आर्थिक मुद्दों पर लोकतांत्रिक और वामपंथी शक्तियों का आन्दोलन संगठित रूप से नहीं उभरता, तो ये चिनगारियाँ अपनी नयी राजनीतिक शक्ल बनायेंगी। पर पुरानी गलतियों से सबक लेकर हमें यह समझना चाहिए कि जब तक करोड़ों हाथों में बन्दूकें नहीं हैं, कुछ हाथों की बन्दूकें अन्ततः उग्रपंथी राजनीतिक बिखराव का रास्ता खोलेंगी।

भारतीय समाज में जो परिस्थितियाँ हैं, इनमें थोड़े-से लोग बन्दूक के बल पर बदलाव नहीं ला सकते। जबकि यहाँ की सेना को इस राजनीति से कोई मतलब नहीं है। अन्य देशों की क्रांतियों में सेना की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। अतः झूठी दिलासा से काम नहीं चलेगा। लेकिन जब जनगुस्सा एक ऐसा रूप अख्तियार कर ले कि लड़ाई के स्तर पर सगुण हिंसा जरूरी हो जाये, तो इसकी भूमिका असंदिग्ध हो उठती है। नक्सलवादियों की असफलता कोई बुरी स्थिति नहीं है, लेकिन इस असफलता से शिक्षा न लेना निरन्तर बिखराव और हताशा का मार्ग खोल देगा। हिंसा कोई बहस की वस्तु नहीं है कि जिसमे बन्दूक के स्थान पर हाथों में चुरुट हो!

हम पिछले दिनों से उग्रपंथी भटकाव से उत्पन्न उग्रपंथी बिखराव और जड़ता की एक परिणति देख रहे हैं कि नक्सलवादी आन्दोलन को निकम्मे बुद्धिजीवियों द्वारा मानसिक व्यभिचार के लिए उपभोग-सामग्री बनाया जा रहा है। अथवा इसने संसदीय रास्ता अख्तियार कर लिया है। दूसरी ओर निष्ठावान और सक्रिय नक्सलवादी देश की लोकतांत्रिक और वामपंथी शक्तियों के साथ एकजुट हो रहे हैं। एक निकम्मा अगर सिर्फ बहुत बोलता है और एक काम करनेवाला कम बोलते हुए भी और कुछ नहीं, किसी मालिक, सामंत अथवा अपने गाँव के मुखिया का सामान्य रूप से भी सक्रिय विरोध करता है, जनवादी चेतना का वह ज्यादा सार्थक साथी है। हमारे देश में यह कहना कि गणतांत्रिक आन्दोलनों को विकसित किये बिना समाजवादी क्रांति को सशस्त्र विप्लव के मार्ग से लाया जा सकता है—यह पूंजीवाद का ही एक नया कौशल बन जाएगा।

अहिंसा और हिंसा—इन दोनों की राजनैतिक विकृतियाँ हमारे सामने हैं। फिर भी जनता जिस मार्ग पर संघर्ष कर रही है तथा आगे भी करने के लिए तैयार है, उसे अपना रास्ता चुनने का पूरा हक है। वस्तुतः शांतिपूर्ण जनआन्दोलनों को श्रमिकों का वेतन-बोनस का आन्दोलन समझना भ्रम है। हिंसा का दर्शन प्रस्तुत करके जनता के इन शांतिपूर्ण आन्दोलनों से तटस्थ रहना एक स्तर पर उदित हो सकने वाली हिंसा की सार्थक सम्भावना को खो देना है। यह दर्शनबाज का निकम्मापन भी है। वस्तुतः क्रांति की विचारधारा इस देश के मजदूर-किसानों-युवकों में अपनी राष्ट्रीय जड़ बनाये, इससे पहले ही मध्यवर्गीय सफेदपोश इस पर अपनी विकृतियाँ लाद कर बिगाड़ देने की कोशिश

करते हैं। लोग साहित्य और विचारधारा का महंत बनना जितना पसन्द करते हैं, उतना इनका साथी या मजदूर बनना नही। लेकिन विचार को गन्दा करने के जितने प्रयास हों, सही विचार कभी नहीं मरते।

संसदीय राजनीति से आज साधारण जनता का विश्वास उठने लगा है। लेकिन यह जनता किसी हिंसा द्वारा देश की राजनीति को तत्काल बदलने के लिए व्यापक रूप से संगठित हो रही है, ऐसा नही लगता। जिस शांतिपूर्ण आन्दोलन के रास्ते से अभी यह संघर्ष कर रही है, क्या साहित्य में उसका कोई महत्व नही है? 'संसद निजी लालसाओं और बैठकबाजी का अड्डा बनेगा ही, अगर हमारे देश का शोषित जनवर्ग जागरूक होकर यह निर्णय नही करता कि अब वह किसी का खाद्य बनने के लिए तैयार नहीं है। शोषित जनता जब तक खुद सगुण हिंसा के लिए तैयार नही हो उठती, उसके संघर्ष के मौजूदा स्तर से दूर भागना अथवा इसकी उपेक्षा करना वस्तुत: फासीवादी ताकतों को मदद देना है। हमारे देश मे वामपंथी राजनीति के लिए शातिपूर्ण जन-आन्दोलनों का महत्व खत्म नही हुआ है। यह एक सबल रास्ता है—*भारतीय जनता की आगामी बड़े संघर्ष में हिस्सेदारी के लिए। हिंसा के सक्रिय कार्यकर्ताओं के साहित्य का अपना महत्वपूर्ण स्थान है।* लेकिन शहरों-राजधानियों और पाश विश्वविद्यालयों मे ऐसे लेखक ही आज ज्यादा हैं, जो वास्तविक संघर्ष से दूर अत्यन्त मस्ती में जी रहे हैं और क्रांतिकारी साहित्य लिखने का दावा भी करते हैं। छद्म क्रांतिकारियों अथवा पंचमकारी प्रगतिवादियों के जो गुट दाढियां बढ़ाये झोला लटकाये चुहुलबाजों के अड्डों पर मंडराते दिखते हैं और कभी-कभी विदेश जाने की ताक मे भी रहते है—ये नव हिप्पियों से किस अर्थ मे भिन्न हैं? दरअस्ल ये इस धरती और यहाँ की जनता के वास्तविक जीवन-संघर्षों से दूर रहने के मामलों मे काफी प्रशिक्षित हो चुके है। ये कृषकों के नक्सलवादी आन्दोलन को व्यक्तिवादी ढंग से विवेचित करने वाले बुद्धिजीवी है।

अब यह विश्वास बना लेना चाहिए कि तानाशाही के भय से वे ही लोकतांत्रिक शक्तियां हमे मुक्त कर सकती है, जिनमे न केवल सागठनिक एकता हो, बल्कि सही क्रान्तिकारी चेतना भी हो। गणतान्त्रिक आधिकारों की वास्तविक सुरक्षा भी तभी होगी, जब सर्ववंचित देशवासियों को आर्थिक शोषण से मुक्ति दिलाने की भावना ही राष्ट्रभक्ति की भावना समझी जाएगी। इसके लिए बुनियादी सामाजिकार्थिक बदलाव का मन बनाकर लोकतान्त्रिक शक्तियाँ-सामन्तवादी भटकाव तथा अन्ततः नये नये रूप मे तानाशाही की वापसी से बच सकती है। हमारे देश मे कई परिवर्त्तनधर्मी जन-उभार नष्ट हो गये, क्योंकि यह संगठित नही था। कई वामपंथी कार्यक्रम धीमे पड गये, क्योकि इसके साथ राष्ट्रीय जन-उभार नही था। जनवाम इन्हे जोड़ता है। वामपन्थी संगठन जनता की मनोदशाओं को पहचानें इन्हे वामपथी रूझान से जोड़ें—इसके लिए लोकवाम (पीपुल्स लेफ्ट) की सही दिशाओं की ओर बढना जरूरी है। यह सही दिशा है—गणतान्त्रिक आन्दोलनों को सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के मुद्दों से जोड़ने की तथा क्रान्तिकारी संघर्ष को लोकतान्त्रिक आन्दोलनों के भीतर संगठित और

विकसित करने की।

तीसरी शक्ति के प्रारम्भिक रूप में कई त्रुटियाँ हो सकती हैं। प्रतिक्रियावादी ताकतें भी इसके भीतर घुस सकती हैं। लेकिन जन-संग्राम के मार्ग में सारे धुंध छंट जायेंगे। राजनीति में कितने ध्रुव हैं यह सवाल उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि इस पर सोचना जरूरी है कि इनके बीच दूरी किस तरह और कितनी बढ़ रही है। ध्रुवीकरण की प्रक्रिया में मूल्य, दृष्टिकोण तथा लक्ष्यों को लेकर आधारभूत मतभेद तीव्र हो जाते हैं और तीसरी शक्ति पुख्ता होकर उभरती है। लेखक का धर्म है कि इसके लिए इस प्रकार काम करे कि व्यापक रचनात्मकता के परिप्रेक्ष्य में क्रान्तिकारी एक-जुटता स्थापित हो! जनवादी ताकतों को यह समझ-बूझ कर अपना कदम निर्धारित करना होगा कि ये पूँजीवादी गणतन्त्र की सीमा में सुधारवादी आदर्श स्थापित करना चाहते हैं अथवा शोषित मनुष्यों के समाजवादी संघर्ष को आगे बढ़ाने के लिए समाज का लोकतान्त्रिककरण करना इनका लक्ष्य है। हम मनुष्य की जड़ों को बदलना चाहते हैं ताकि पूंजीवादी साम्राज्यवादी शक्तियाँ किसी भी रूप में हमारी धरती हमसे छीन नहीं सकें।

परिवेश के सम्बन्ध में और अपने बारे में मनुष्य की एक सही समझ विकसित हो। उत्पादन के साधनों पर श्रमिक वर्ग का अधिकार हो। कला का सामाजिक मूल्य हो। हमारी इन इच्छाओं के बावजूद ये कार्य उतना आगे नहीं बढ़ पा रहे। वस्तुतः परम्परागत जीवन मूल्य और नैतिकता हमें समाज की क्रूर और अबौद्धिक व्यवस्था को समझने से रोकती हैं। जो अपने को स्वाधीन समझते हैं, वे स्वाधीन नहीं होते और जो अपने को क्रान्तिकारी समझते हैं वे अक्सर क्रान्तिकारी नहीं होते। परम्परागत वामपंथी आन्दोलनों से सुरक्षित होने के लिए मौजूद पूँजीवादी व्यवस्था ने अपना एक नया 'मैकेनिज्म' विकसित कर लिया है, जिसको समझे बिना हम लोकवाम को सार्थक दिशा की ओर विकसित नहीं कर सकते। वामपंथी आन्दोलन अपनी समग्र प्रखरता खो रहे हैं। लोकतान्त्रिक शक्तियां पूँजीवाद की गोद में मीठी नींद सो रही हैं। आज यह एक जरूरी सवाल है कि इन शक्तियों को आत्मभ्रमों द्वारा शिकार हो जाने से कैसे रोका जाय। यदि सामाजिक साम्य के लक्ष्यों को पूरा करना है, तो समझ लेना चाहिए कि व्यापक जन जागरण तथा जनहिस्सेदारी के बिना कोई भी क्रान्तिकारी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता। यहाँ लेखक की एक जबर्दस्त भूमिका बनती है कि वह सर्वहारा-चेतना को मजबूत करे और जनवादी गणतान्त्रिक संघर्षों से जुड़कर जनता को विकासशील समाजवादी अन्तर्वस्तु से परिचित कराये। वह श्रमिक वर्ग के संघर्ष में व्यावहारिक धरातल पर उसके मूल लक्ष्यों के प्रति उसे सचेत करे। लेखक को यह भ्रम नहीं रखना चाहिए कि उसके कारण समाज में परिवर्तन आता [illegible] समाज के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। साम्य, [illegible] जनतान्त्रिक संघर्ष जन-अनुभवों तथा विभिन्न परिवर्तनकारी [illegible] आलोचनात्मक स्वीकृति, क्रान्तिकारी बदलाव तथा इसके लिए [illegible]

की एकता की ये प्रधान शर्तें हैं।

इस पर अभी बहस जरूरी है कि भारत के दलित वर्ग के लोग जिस सामाजिक ढांचे में आर्थिक शोषण के साथ 'धार्मिक दमन' की जिन्दगी जी रहे हैं—उनके अनुभवों तथा संघर्षों से वामपंथी आन्दोलन अपने को किस प्रकार जोड़े। अफ्रीका में वामपंथी राजनीति में ब्लैक 'पैंथर्स' की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। यह सवाल भी वैचारिक क्षेत्रों में उठा था कि ये बुरे विद्रोही हैं या अच्छे विद्रोही। या बिल्कुल विद्रोही नहीं हैं। क्या वामपंथियों को निम्न-उत्पीड़ित सर्वलांछित-दलित जातियों के संघर्षों को मुखर, 'धीमे अथवा मौन समर्थन देना चाहिए? या नहीं? इनके भीतर भी विशिष्ट वर्ग पैदा हो रहा है तथा ऐसे दलितों को सामने करके कई तरह की राजनीतियाँ अपना उल्लू सीधा कर रही हैं। कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार अफ्रीका के 'एलाइट ब्लैक्स' को हथियार बनाकर साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपनी नीवें मजबूत करने में लगी हैं। वस्तुतः सामाजिक अंतर्विरोधों को तीव्र करने के पथ पर सामाजिक-आर्थिक अधिकारों वाले सारे संघर्षों को वामपंथी राजनीति का समर्थन मिलना चाहिए।

लोकतान्त्रिक और वामपंथी ताकतों की एकता की बात कई तरह के लोग कर रहे है। तानाशाही, नवतानाशाही तथा साम्प्रदायिक शक्तियाँ निश्चित रूप से इस एकता की दुश्मन हैं। अंतर्राष्ट्रीय आधारों से परिचालित होने वाली शक्तियाँ भी अपना रंग उसी प्रकार बदलेंगी, जिस प्रकार हमारे देश की सरकार से उनके सम्बन्ध बदलेंगे। ग्लोबल राजनीति की हम उपेक्षा नहीं कर सकते और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर क्रान्तिकारी शक्तियों की अपनी राय होती है। ये साम्राज्यवादी शक्तियों से संघर्ष करती है, लेकिन इनकी कोई नीति राष्ट्रीय और जनवादी हित पर सबसे अधिक आधारित रहती है। हमारे देश का आदमी किसी भी विदेशी साम्राज्यवाद से सीधे सीमा पर जाकर नहीं लड़ सकता। उसे अपने निकट की पूँजीवादी-सामन्तवादी शक्तियों से खुला संघर्ष करते हुए और इस प्रक्रिया में राष्ट्रीय शोषण-दमन को छिन्न-भिन्न करने के क्रम में ही साम्राज्यवादी शत्रुओं को भी परास्त करना होता है। तानाशाही शक्तियों से हाथ मिलाकर काम करने वाले अपने को श्रमिक वर्ग के चाहे जितने बड़े हितैषी कह लें—ये लोकवाम के साथी नहीं हो सकते।

वस्तुतः परम्परागत प्रगतिवाद या नव-प्रगतिवाद प्रगतिशीलता के फेंके हुए ओवरकोट हैं। साहित्य में प्रगतिशील आधारों पर विकसित हो रही वास्तविक लोकतान्त्रिक-वामपंथी शक्तियों की एकता जनवादी साहित्य की वास्तविक राजनैतिक पृष्ठभूमि है। आज का जनवादी साहित्य और कुछ नहीं, भारत को जनमानस की सही पहचान कराने वाली साहित्य है। इसे 'शतशत फूलों की तरह खिलने दो।'

□□
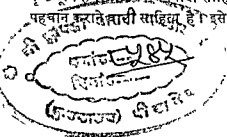
पहले फ्लैप से आगे

वह उस घातक आत्मकेन्द्रित चिन्तन का निषेध करती है जो जीवन की नानाविध वस्तुनिष्ठ आत्मनिर्भरता की उपेक्षा कर उसे 'चरित्र चमकाने की चीज़' के रूप में पेश करने का दुस्साहस करता है। आचार्य शुक्ल ने कहा था कि दुनिया की हर बात का रिश्ता बाकी तमाम दूसरी बातों से है। शंभुनाथ के निबन्धों में मौजूद अनुभव, चिन्तन और विश्लेषण की पूरी दुनिया इसी अद्वितीय वैज्ञानिक विचार-सूत्र से आलोकित है।

यहां यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि साहित्य को एक अचूक परिवर्तनकारी घटक के रूप में स्वीकृति देते हुए शंभुनाथ उसकी निजी मर्यादाओं और संस्कारों के प्रति भी पर्याप्त सचेत दीखते हैं। उनके यहां साहित्य बेशक एक हथियार है, पर अपनी कलात्मक शर्तों का प्रतिक्रमण कर नहीं, बल्कि इन्हीं शर्तों से शक्ति अर्जित करता हुआ निरन्तर मनुष्यता को आकार दे सकने की व्यग्र सृजनात्मक पीड़ा से लैस।